समर्पण

श्री० स्वामी आनंदभिक्षुजी सरस्वती

मान्यवर !

जीवन के वे दिन भी याद रहेंगे ! आपने तीन वर्ष स्थानीय गुरुकुल की अवैतनिक सेवा करके प्रेम महाविद्यालय की बागडोर संभाली थी, और मैं इस संस्था के मुख-पत्र 'प्रेम' के संपादक के नाते यहां आया था। आप वानप्रस्थ आश्रम में थे, जिसे लोग व्यवहार में प्रायः भूल गए हैं, और मैं गृहस्थ था जैसा-कि अधिकाँश आदमी जीवन भर रहा करते हैं। आप उम्र में तो बड़े थे ही, अनुभव और पद में भी उच्च थे। पर आप के बर्ताव-व्यवहार में बड़े-छोटे का भाव न था, स्नेह था, प्रेम था, सुख-दुख में साथ देने का विचार था। जीवन-यात्रा में जितने भी समय किसी सुहृद् का साथ मिल जाय, मनुष्य कृत-कृत्य होजाता है।

आप के बहु-मूल्य सत्संग के स्मृति-स्वरूप यह कृति आप की सेवा में प्रेम और श्रद्धा सहित समर्पित है। परमात्मा करे, आपकी भावना के अनुसार देश में इस विषय के ज्ञान की वृद्धि और प्रचार हो।

विनीत

भगवानदास केला

निवेदन

इस पुस्तक का प्रथम संस्करण, दो भागों में, गंगा-पुस्तक-माला से सन् १९२५-२६ ई० में प्रकाशित हुआ था। यद्यपि अर्थ-शास्त्र-प्रेमियों, तथा अर्थ-शास्त्र की शिक्षा देनेवाली संस्थाओं ने इस का अच्छा स्वागत किया था, पर वर्तमान अवस्था में, हिन्दी जगत में इनका क्षेत्र ही कितना है! प्रथम संस्करण दस वर्ष तक काम देता रहा। यह बात पुस्तक के पुनः प्रकाशन में उदासीनता-वर्द्धक होने वाली ठहरी। फिर, श्री० दुलारेलालजी भार्गव विविध कार्यों में लगे रहने के कारण भी इसका दूसरा संस्करण यथा-समय प्रकाशित करने की ओर ध्यान न दे सके। परीक्षार्थियों और अन्य पाठकों की माँग—वह चाहे-जितनी कम हो—बनी रही। अंततः गत सितम्बर मास में श्री० दुबे जी के कहने पर श्री० भार्गवजी ने मुझे इस पुस्तक को प्रकाशित करने की अनुमति प्रदान करने की कृपा की।

मुझे अधिकार मिल गया, पर उसके साथ ही मुझ पर पुस्तक जल्दी-से-जल्दी छपाने का दाइत्व भी आगया। मेरे पास इस के संशोधन के लिए आवश्यक साहित्य का अभाव था। आख़िर, श्री० दुबेजी के पास प्रयाग में ठहर कर, तथा विविध विषयों में उनसे विचार-विनिमय करते हुए, यह पुस्तक संशोधित की। साथ-ही किसी प्रकार इसके प्रकाशित करने की भी व्यवस्था की गई। अस्तु, अन्यान्य मित्रों में श्री० दुबेजी और श्री०

भार्गवजी के प्रति मैं विशेष कृतज्ञ हूं; आप दोनों सज्जनों के सहयोग से ही अब इस पुस्तक का प्रकाश में आना संभव हुआ है।

भारतीय ग्रन्थमाला की प्रत्येक पुस्तक के विषय में यह चिंता तो रहती ही है कि वह बहुत बड़ी न हो जाय। इस पुस्तक के इस संस्करण में राजस्व, और पारिभाषिक शब्दावली नहीं दीगई है, (इन विषयों पर हमारी स्वतंत्र पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं)। साथ ही इसमें सिद्धांत-संबंधी बातों की चर्चा भी यथा-संभव कम ही की गई है। (सिद्धांत-संबंधी कई पुस्तकें भिन्न-भिन्न प्रकाशकों ने प्रकाशित की हैं)। यह होते हुए भी इस संस्करण की पृष्ठ-संख्या पूर्वापेक्षा कुछ कम न होकर बढ़ ही गई है।

पुस्तक का अधिकाँश भाग फिर से लिखा गया है। इसे भारतीय जीवन के निकट रखने का प्रयत्न किया गया है। इस संस्करण में इस बात का भी ध्यान रखा गया है कि कोई आर्थिक प्रयत्न— उत्पत्ति, उपभोग, विनिमय, व्यापार या वितरण—धर्म (उदार अर्थ में)-विरोधी न हो। धन कितना ही आवश्यक क्यों न हो, वह मनुष्य की एक-मात्र आवश्यकता नहीं है। मनुष्य वस्तुतः सुख शांति की खोज में रहता है, और इसकी प्राप्ति सेवा, परोपकार, ईमानदारी, और सद्व्यवहार से ही होती है। पुस्तक में कहीं-कहीं, विशेषतया अंतिम खंड में, भारतवर्ष की प्राचीन आर्थिक व्यवस्था का भी उल्लेख किया गया है; तुलनात्मक दृष्टि से ऐसे उदाहरण बहुत शिक्षा-प्रद और मनोरंजक प्रतीत होंगे।

जैसाकि इस पुस्तक में बताया गया है, भारतवर्ष—मुट्ठी-भर राजा-महाराजाओं, नवाबों, ताल्लुकेदारों, ज़मीदारों सेठ-साहुकारों और उच्च-वेतन-भोगी अधिकारियों का भारतवर्ष नहीं, सर्व-साधारण जनता का भारतवर्ष, जिसे बहुत-से आदमी देखते हुए भी नहीं देखते, या भूल जाते हैं—दरिद्रता और ऋण-ग्रस्तता से बुरी तरह जकड़ा हुआ है। अधिकाँश आदमियों को दिन-रात मुख्य चिंता यही बनी रहती है कि किस प्रकार दो वख्त पेट भरे, और शरीर की सर्दी-गर्मी तथा लज्जा-निवारण के लिए मामूली कपड़ा मिले। इन बेचारों को अपने विकास का अवसर कहां! जन-समूह की यह स्थिति देश की 'राजनैतिक व्यवस्था के लिए अच्छी नहीं है'। मानव संसार की दृष्टि से भी दीन-हीन भारत एक चिंतनीय विषय है। ऐसी दशा में प्रत्येक सज्जन का, विशेषतया भारत-हितैषी का कर्तव्य है कि यहाँ की आर्थिक स्थिति के सुधार में सम्यग् भाग ले। केवल अनुमान के सहारे, भावुकता की बातें करने से, देश का वैसा ही अनिष्ट हो सकता है, जैसा किसी अनाड़ी वैद्य से रोगी का। यहाँ जागृति हो रही है; अच्छे-अच्छे मस्तिष्क और हृदय देश-सेवा के लिए अपने आराम और सुख को तिलांजलि दे रहे हैं; आशा है ऐसे अवसर पर भारतीय राष्ट्र को अर्थ-रोग से मुक्त करने के लिए भारतीय अर्थ-शास्त्र अध्ययन करनेवालों की कमी न रहेगी।

विनीत

भगवानदास केला

सहायक पुस्तकों की सूची

जठार और बेरी	...	Indian Economics
भट्टाचार्य	...	,, ,,
कुमारप्पा	...	Why the Village Movement ?
एच० एस० जेवन्स	...	Mony, Banking and Exchange in India.
दयाशंकर दुबे	...	विदेशी विनिमय (दूसरा संस्करण)
दुबे और केला	...	धन की उत्पत्ति
दुबे और जोशी	...	सम्पत्ति का उपभोग
गुप्त और केला	...	कौटिल्य के आर्थिक विचार
शङ्कर सहाय सक्सेना	...	भारतीय सहकारिता आंदोलन
द्वारका लाल गुप्त	...	भारतीय बैंकिंग
महाबीरप्रसाद द्विवेदी	...	संपत्ति-शास्त्र
राधाकृष्ण झा	...	भारत की सांपत्तिक अवस्था
बालकृष्ण	...	अर्थशास्त्र
श्यामबिहारी मिश्र और शुकदेवबिहारी मिश्र	...	व्यय
भगवानदास केला	...	भारतीय शासन (सातवाँ संस्करण)
,, ,,	...	भारतीय जागृति (दूसरा संस्करण)
दुबे, अंबष्ट और केला,	...	अर्थ-शास्त्र-शब्दावली

भूमिका
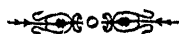
यह आर्थिक युग है। आजकल संसार में सभी देशों की, सभी प्रकार की, उन्नति उनकी आर्थिक अवस्था पर ही अवलंबित रहती है। योरप, अमरीका और जापान की सर्वतोमुखी प्रगति का प्रधान कारण है, उन देशों के निवासियों की अथाह समृद्धि। उसे उन्होंने अपने अर्थ-शास्त्र-संबंधी ज्ञान द्वारा प्राप्त किया है। यह ज्ञान सर्वसाधारण को सुलभ करने के लिए उन्होंने अर्थ-शास्त्र के साहित्य की उन्नति, वृद्धि और प्रचार में अनवरत परिश्रम किया है, वे अब तक बराबर अपने इस सत्-प्रयत्न में लगे हुए हैं और इसमें वे पूर्ण रूप से कृतकार्य भी हुए हैं। यही उनकी आर्थिक सफलता का रहस्य है।

उधर का तो यह हाल है, इधर भारतवर्ष को देखिए। यहाँ सर्व-साधारण की तो बात ही जाने दीजिए, अधिकाँश, पढ़े-लिखे लोग भी अर्थ-शास्त्र के ज्ञान से कोरे हैं। यही कारण है कि भारत की आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं। करोड़ों भारतवासियों को, अथक परिश्रम करने पर भी भर-पेट भोजन नहीं प्राप्त होता। देश में कच्चा माल प्रचुर परिमाण में प्राप्य है, परंतु तो भी

तैयार माल के लिए हमें अन्य देशों का मुँह ताकना पड़ता है, उन पर निर्भर रहना पड़ता है। यहाँ के अधिकांश बड़े-बड़े उद्योग-धंधे विदेशियों के हाथ में हैं। उनसे हमें कोई विशेष लाभ नहीं होता। अतएव स्वदेश को समृद्धिशाली बनाने के लिए—उसको उन्नति के शिखर पर चढ़ाने के लिए—हम सब का यह प्रधान कर्तव्य होना चाहिए कि अर्थ-शास्त्र के ज्ञान का सर्व-साधारण के बीच प्रचुर प्रचार करने में कोई बात उठा न रक्खें। इसके लिए यह अत्यंत आवश्यक है कि अर्थ-शास्त्र-संबंधी साहित्य को सर्वांग-संपन्न बनाया जाय—उसके हरएक हिस्से की, ख़ासकर भारतीय अर्थ-शास्त्र की, भरसक ख़ूब तरक़्क़ी की जाय।

खेद है कि राष्ट्रभाषा हिंदी में अब भी अर्थ-शास्त्र-संबंधी पुस्तकों का नितांत अभाव है। दस-पाँच पुस्तकों से ही उसका यह अंग संपन्न नहीं समझा जा सकता। इस कमी के दो कारण हैं—धनी और प्रसिद्ध प्रकाशकों की इस ओर से उदासीनता, और इस विषय पर अधिकार-पूर्वक लिख सकने की क्षमता रखनेवाले लेखकों की कमी। हर्ष की बात है कि साहित्य-सेवा को अपना मुख्य उद्देश्य मानकर काम करनेवाले कुछ उद्योग-शील लेखक और प्रकाशक इस ओर ध्यान देने लगे हैं। इससे आशा होती है कि कुछ ही वर्षों में हिंदी में भी इस विषय पर अच्छी-अच्छी पुस्तकें दिखलाई देने लगेंगी। इन उद्योग-शील लेखकों में श्रीयुत भगवानदासजी केला भी हैं। आप लगभग बाईस वर्ष

से हिंदी के इस अभाव की पूर्ति के लिए प्राण-पण से परिश्रम कर रहे हैं। यह 'भारतीय अर्थ-शास्त्र' आपके इसी उद्योग का फल है।

इस ग्रन्थ का प्रथम संस्करण गंगा-पुस्तक-माला लखनऊ द्वारा प्रकाशित हुआ। हिंदी संसार ने, विशेषतया अर्थ-शास्त्र-प्रेमी सज्जनों ने, इस का अच्छा स्वागत किया। अखिल भारतवर्षीय हिंदी-साहित्य-सम्मेलन प्रयाग, गुरुकुल विश्व-विद्यालय कांगड़ी, काशी विद्यापीठ, बिहार विद्यापीठ, महिला विद्यापीठ प्रयाग, आदि राष्ट्रीय संस्थाओं ने इस ग्रन्थ को अपनी परीक्षाओं की पाठ्य पुंस्तकों की सूची में स्थान देने की कृपा की। अब श्री केलाजी को इसका दूसरा संस्करण तैयार करने का अवसर प्राप्त हुआ। मेरे अनुरोध करने पर मेरे मित्र श्री दुलारेलालजी भार्गव ने इसे प्रकाशित करने का अधिकार श्री केलाजी को ही दे दिया।

गत वर्षों में भारत की आर्थिक दशा में बड़ा परिवर्तन हो गया है। सन् १९२४ में लिखा हुआ ग्रन्थ अब कई अंशों में अपूर्ण होगया था। इसे 'अप-टु-डेट' बनाने के लिए श्री केलाजी को इस का लगभग एक-तिहाई भाग नया लिखना पड़ा, और शेष भाग में भी बहुत परिवर्तन और परिवर्द्धन करना पड़ा। लगातार चार महीनों के कठिन परिश्रम के बाद यह नवीन संस्करण तैयार हुआ है। इस में भारत की प्रायः सब आर्थिक समस्याओं पर

निष्पक्ष विचार गंभीरता और निर्भीकता-पूर्वक प्रकट किए गए हैं। मुझे विश्वास है कि इस रचना से पाठकों को देशवासियों की सच्ची आर्थिक दशा समझने में बड़ी सहायता मिलेगी, और इस में बताए हुए तरीक़ों से कार्य करने पर यहां आशातीत आर्थिक सुधार होगा, और भारतवासी सुखी होंगे।

आशा है, भारतीय अर्थ-शास्त्र के इस नवीन संस्करण का पहले से भी अधिक आदर होगा, और जिन शिक्षा संस्थाओं के पाठ्य-ग्रंथों की सूची में इसे अभी तक स्थान नहीं मिला है, वे इसे शीघ्र अपनाएंगी।

दयाशंकर दुबे,
एम० ए०, एल-एल० बी०
अध्यापक, अर्थ-शास्त्र-विभाग,
प्रयाग विश्वविद्यालय।

दारागंज, प्रयाग।
१-५-१९३७.

प्रथम संस्करण-संबंधी वक्तव्य

का कुछ अंश

सन् १९१७ ई० का आरंभ किया हुआ 'भारतीय अर्थ-शास्त्र' अब सात वर्ष बाद पूरा हुआ। इस कार्य में देर तो बहुत लगी, पर अंत को यह तैयार हो गया, यही संतोष है। इसकी रचना के संबंध की आवश्यक मुख्य-मुख्य घटनाओं का क्रम-बद्ध, परंतु संक्षिप्त, वर्णन आगे किया जाता है। इसमें एक सामान्य साहित्य-प्रेमी के जीवन की थोड़ी-सी झलक होने से यह, और कुछ नहीं तो, विद्वानों और साहित्य-सेवियों के लिए विनोद-सामग्री ही होगा।

एफ़्० ए० पास करने के तीन वर्ष बाद, सन् १९१३ में, बी० ए० की पढ़ाई शुरू करने में मेरा एक उद्देश्य राजनीति (इतिहास) और अर्थ-शास्त्र का अध्ययन करना भी था। उक्त वर्ष के अंत में मैंने 'हमारे पाठ्य-विषय'-शीर्षक एक आलोचनात्मक लेख-माला अलीगढ़ के 'माहेश्वरी' मासिक पत्र में लिखनी शुरू की। सितंबर, सन् १९१४ ई० में, उसी सिलसिले में, 'संपत्ति-शास्त्र' पर एक सविस्तर लेख लिखा। पीछे से यह लेख मेरी 'भारतीय विद्यार्थी-विनोद' पुस्तक में उद्धृत हुआ, और यह पुस्तक भारतीय ग्रंथ-माला की दूसरी पुस्तक बनी।

अर्थ-शास्त्र पर पुस्तक लिखने का विचार सन् १९१७ ई० में हुआ था। आवश्यक पुस्तकें मँगा लीं, और कार्य आरंभ कर दिया। २० जून और ४ जुलाई, सन् १९१७ ई० के 'जयाजी प्रताप' (ग्वालियर) में मेरा 'भारतीय धन-विज्ञान' शीर्षक लेख प्रकाशित हुआ। उस समय मैंने अपनी पुस्तक का यही नाम रखने का विचार किया था। 'धन

की उत्पत्ति' लेख 'माहेश्वरी' में शुरु किया गया। उसके बाद भारतीय ग्रंथ-माला की अन्य पुस्तकों की रचना में लगे रहने तथा अन्य व्यक्ति-गत विघ्न-बाधाओं के उपस्थित होने के कारण अर्थ-शास्त्र का मसविदा, पुस्तकें और अन्य सामग्री का बंडल बँधा ही पड़ा रहा। सन् १९२० ई० में प्रेम-महाविद्यालय के मुख-पत्र 'प्रेम' का संपादन करते समय मैंने उसका कुछ थोड़ा-सा उपयोग किया।

सन् १९२१-२२ ई० में, प्रेम-महाविद्यालय में, नागरिक ज्ञान (Civics) और अर्थ-शास्त्र की शिक्षा बढ़ाई गई। इस कार्य के लिए मुझे 'प्रेम, विभाग से विद्यालय-विभाग में ले लिया गया। प्रेम-महाविद्यालय के ऑनरेरी जेनरल मैनेजर माननीय श्री० आनंद भिक्षुजी का अनुरोध देख कर मैं ने 'भारतीय अर्थ-शास्त्र' लिखना फिर आरंभ किया। × × × भारतीय अर्थ-शास्त्र-परिषद् की संपादन-समिति ने, जिसमें श्री प्रोफेसर दयाशंकर दुबे, और श्री दुलारेलालजी हैं, बड़े प्रेम और परिश्रम से इस पुस्तक का संपादन करने की कृपा की। × × × देश-प्रेम को अधिकतम उपयोगी बनाने के लिए देश की दशा का अच्छा ज्ञान होना अनिवार्य है, देश के आर्थिक तथा नैतिक विषयों की विवेचना आवश्यक है। ये विषय क़िस्से-कहानियों या उपन्यासों की तरह रोचक अथवा रण-भूमि के वृत्तांतों की तरह उत्तेजक न होने पर भी धार्मिक ग्रंथों की तरह कल्याण-कारी हैं। इस समय देश के लिए राजनैतिक स्वाधीनता के साथ आर्थिक स्वालंबन आवश्यक है, तो अर्थ-शास्त्र के अध्ययन की ओर उपेक्षा का भाव रहना कदापि उचित न होगा। उसे सादर, सहर्ष ग्रहण करना चाहिए।

भगवानदास केला

विषय सूची

परिच्छेद	विषय		पृष्ठ

चतुर्थ खंड; मुद्रा और बैंक

पंचम खंड; विनिमय और व्यापार

षष्ट खंड; वितरण

प्रथम खंड

विषय-प्रवेश

पहला परिच्छेद

भारतीय अर्थ-शास्त्र का विषय

इस पुस्तक का नाम 'भारतीय अर्थ-शास्त्र' है। इसे आरम्भ करने के लिए पहले हमें जान लेना चाहिए कि भारतीय अर्थ-शास्त्र किसे कहते है, इसका आशय क्या है। इसका सम्यग् विचार करने के वास्ते हमें यह विचार करना होगा कि अर्थ-शास्त्र किसे कहते हैं, और अर्थ, धन या संपत्ति में किन वस्तुओं का समावेश होता है।

अर्थ-शास्त्र—अर्थ-शास्त्र वह विद्या है, जो समाज में रहनेवाले मनुष्यों के आर्थिक अर्थात् धन-संबंधी प्रयत्नों और सिद्धांतों का विवेचन करती है। मनुष्य अपने भौतिक सुख के लिए भोजन और वस्त्र-संबंधी तथा अन्य पदार्थ उत्पन्न करके उनका उपभोग करते हैं। बहुधा एक आदमी को दूसरे की बनाई वस्तु की आवश्यकता होती है, और वह उसके बदले में अपनी वस्तु या उसकी क़ीमत देता है। अनेक चीज़ें ऐसी हैं,

जिनकी उत्पत्ति में दूसरे आदमियों से, अथवा उनके साधनों से, सहायता ली जाती है; उन्हें उनका प्रतिफल देना होता है। ये सब आर्थिक या धन-संबंधी प्रयत्न हैं। इन प्रयत्नों की आलोचना करता हुआ अर्थ-शास्त्र देशों की आर्थिक स्थिति, उन्नति या अवनति का विचार करता है।

इस शास्त्र को अर्थ-शास्त्र के अतिरिक्त संपत्ति-शास्त्र, धन-शास्त्र, अर्थ-विज्ञान और धन-विज्ञान, आदि भी कहते हैं।

धन या संपत्ति—अर्थ-शास्त्र में धन या संपत्ति केवल रुपए-पैसे आदि सिक्कों या सोने-चाँदी आदि धातुओं को ही नहीं कहते, वरन् इसके अंतर्गत वे सब पदार्थ समझे जाते हैं, जिनसे मनुष्य की किसी प्रकार की कोई आवश्यकता पूरी हो सकती हो, एवं जिनको देकर बदले में दूसरी उपयोगी वस्तुएँ मिल सकती हों। इस प्रकार अन्न, कोयला, लोहा, लकड़ी आदि चीज़ें भी धन हैं। संक्षेप में समस्त उपयोगी और विनिमय-साध्य चीज़ें धन हैं। कोई वस्तु विनिमय-साध्य तब कही जाती है, जब उसे देकर उसके बदले में अन्य उपयोगी वस्तु मिल सके। संसार में बहुत सी वस्तुएं ऐसी हैं, जो उपयोगी तो हैं, परन्तु विनिमय-साध्य नहीं; इन वस्तुओं को अर्थ-शास्त्र में धन नहीं कहते। उदाहरणवत् हवा और रोशनी का विचार कीजिए। इनके उपयोगी होने में किसी को सन्देह नहीं है, परन्तु साधारणतया ये अपरिमित मात्रा में मिलती हैं, अतः ये विनिमय-साध्य नहीं होतीं, और, इसलिए अर्थ-शास्त्र में धन नहीं मानी जाती। हाँ, विशेष दशाओं में, खान आदि में, ये परिमित परिमाण में होती हैं, इन्हें अधिक मात्रा में प्राप्त करने के लिए श्रम अथवा द्रव्य खर्च करना होता है, तब ये विनिमय-साध्य होती हैं, और, इसलिए धन मानी जाती हैं। इससे मालूम हुआ कि किसी चीज़ का, धन होने के लिए, कम परिमाण में होना आवश्यक है।

ऊपर धन के जो उदाहरण दिए गए हैं, वे भौतिक पदार्थों के हैं। उनके अतिरिक्त, अ-भौतिक धन भी होता है। एक आदमी दूसरे की, किसी प्रकार की सेवा करता है, यह उपयोगी तो है ही, इसके बदले में उसे द्रव्य या अन्न आदि अन्य उपयोगी वस्तु भी मिलती है। अतः इसकी सेवा धन है। इसी प्रकार किसी व्यवसाय की प्रसिद्धि या ख्याति उपयोगी भी है, और विनिमय-साध्य भी है; अर्थात्, इसका क्रय-विक्रय हो सकता है। इसलिए यह भी अर्थ-शास्त्र में धन मानी जाती है।

राष्ट्रीय संपत्ति—संपत्ति के दो भेद वैयक्तिक और राष्ट्रीय संपत्ति किए जा सकते हैं। कौन-कौन सी वस्तुएँ वैयक्तिक संपत्ति मानी जायँ, और कौन सी राष्ट्रीय संपत्ति के अन्तर्गत समझी जायँ, इस विषय में बहुधा लेखकों में बड़ा मत-भेद होता है, तथापि यह स्पष्ट है कि बहुत-सी चीज़ें वैयक्तिक संपत्ति न होने पर भी राष्ट्रीय संपत्ति में अवश्य सम्मिलित हो जाती हैं; जैसे सड़कें, पुल, नहरें, नदी-नाले, विविध सार्वजनिक मकान, शिक्षा-भवन, अजायबघर, डाक, तार, रेल, बंदरगाह आदि।

भारतवर्ष की राष्ट्रीय संपत्ति में यहाँ की जनता की संपत्ति के अतिरिक्त भारत-सरकार, प्रांतिक सरकार, स्थानीय स्वराज्य-संस्थाओं, म्युनिसिपल और लोकल बोर्डों, ग्राम पंचायतों और मंदिर, मसजिद, धर्मशाला आदि संस्थाओं की विविध संपत्ति सम्मिलित होनी चाहिए। इन सबके जोड़ में से वह रक़म घटा देनी चाहिए, जो भारतवर्ष में अन्य देशों की लगी हुई है, अर्थात् जो दूसरों को देनी है। कुछ अर्थ-शास्त्रियों के मत से तो राष्ट्रीय साहित्य, वैज्ञानिक आविष्कार आदि के अतिरिक्त देश के निवासी भी राष्ट्रीय संपत्ति के हिसाब में सम्मिलित किए जाने चाहिए; क्योंकि ये भी अपने देश के धन को बढ़ाते हैं। इससे स्पष्ट है कि देश की कुल राष्ट्रीय संपत्ति का हिसाब लगाना बहुत कठिन एवं विवाद-ग्रस्त है।

अर्थ-शास्त्र एक सामाजिक विद्या है—सामाजिक विद्या उस विद्या को कहते हैं, जो सामाजिक मनुष्यों के किसी प्रकार के पारस्परिक संबंधों का वर्णन और विवेचन करती हो। सामाजिक मनुष्यों से अभिप्रायः ऐसे मनुष्यों से है, जो एक दूसरे के साथ मिलकर या निकट रहते हैं, और अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए आपस में विविध प्रकार के संबंध रखते हैं। पृथक-पृथक वनों में या पर्वतों पर रहनेवाले साधु, सन्यासी या इधर-उधर अलग-अलग घूमते रहनेवाले असभ्य मनुष्य सामाजिक नहीं कहला सकते। किसी देश के नगरों और ग्रामों के रहनेवाले मनुष्य ही सामाजिक मनुष्यों की गणना में आते हैं। अर्थ-शास्त्र ऐसे ही सामाजिक मनुष्यों के आर्थिक संबंधों का वर्णन करता है, इसलिए यह एक सामाजिक विद्या है, अथवा समाज-शास्त्र का एक भाग है।

अर्थ-शास्त्र के नियमों का व्यवहार—समाज में सभी मनुष्यों का स्वभाव, आचार, व्यवहार एक-सा नहीं होता, इसलिए अर्थ-शास्त्र के सब नियम सभी आदमियों के लिए लागू नहीं हो सकते। वास्तव में अर्थ-शास्त्र उन्हीं आर्थिक नियमों का विचार करता है, जो अधिकांश जनता के लिए व्यवहृत किए जा सकते हैं।

इस शास्त्र के, और भौतिक विज्ञान आदि शास्त्रों के नियमों में भेद है। भौतिक विज्ञान के नियमों की परीक्षा अल्प काल में, और सहज ही, हो सकती है। एक विद्यान्वेषी भौतिक पदार्थों के संबंध में कोई जाँच करने के लिए भिन्न-भिन्न परिस्थितियाँ पैदा करके अपना ज्ञान बढ़ा सकता है। परंतु अर्थ-शास्त्र के विद्यार्थी को ये सुविधाएँ प्राप्त नहीं हैं। उसके अध्ययन का विषय है मनुष्य-समाज के आर्थिक व्यवहार, और, इसके लिए हर समय यथेष्ट साधन और विविध परिस्थितियाँ नहीं मिल सकतीं। अतः उसे समाज के आर्थिक इतिहास

का विचार करके कुछ अनुमान करना होता है। धीरे-धीरे विविध परिस्थितियों के गुज़रने पर उस अनुमान की जाँच होती है, और कुछ नियम निश्चित होते हैं।

अन्य शास्त्रों की अपेक्षा अर्थ-शास्त्र के विषय का विवेचन थोड़े ही समय से होने लगा है। समाज के आर्थिक व्यवहारों के संबंध में जैसे-जैसे विद्वानों का ज्ञान और अनुभव बढ़ेगा, यह शास्त्र अधिकाधिक पूर्ण होता जायगा।

राष्ट्रीय अर्थ-शास्त्र—अर्थ-शास्त्र का आधार मनुष्यों के पारस्परिक व्यवहार हैं। इन व्यवहारों में, देश के प्राकृतिक, सामाजिक या राजनैतिक परिवर्तन के कारण, अंतर पड़ता रहता है। इसलिए अर्थ-शास्त्र के सिद्धांतों के प्रयोग में भेद उपस्थित हो जाता है।

दृष्टांत के लिए इँगलैंड की ही स्थिति अवलोकन कीजिए। बारहवीं और तेरहवीं शताब्दी में वह कृषि-प्रधान देश था, मुद्रा का प्रयोग कम होने से पदार्थों का क्रय-विक्रय न होकर उनका अदल-बदल ही होता था, तथा वहाँ कुछ दासत्व या अर्ध-दासत्व की प्रथा से मेहनत-मजदूरी का काम लिया जाता था। पश्चात् वहाँ दस्तकारी बढ़ने लगी, मुद्रा का चलन हुआ और व्यापार तथा व्यवसायों की समितियाँ बन गईं। यह स्थिति अठारहवीं शताब्दी के पूर्वार्ध तक रही। उत्तरार्ध में पुनः विशेष आर्थिक परिवर्तन हुए; व्यावसायिक उत्क्रांति हुई, धन की उत्पत्ति का क्रम बदल चला, दस्तकारी का स्थान कला-कौशल ने ग्रहण किया और यंत्रों के प्रयोग और नवीन-नवीन आविष्कारों से देश की उत्पादक शक्ति कई गुना बढ़ गई। पूँजीपतियों तथा श्रमियों के नए दल बन गए, नवीन समस्याएँ उपस्थित हो गईं; इसलिए अब वहाँ पहले के अर्थ-शास्त्र-संबंधी व्यावहारिक नियमों का प्रयोग नहीं हो सकता।

पुनः एक ही समय में दो देशों की स्थिति भी समान नहीं होती। उदाहरण के लिए बीसवीं शताब्दी के इँगलैंड और भारत की तुलना करते हैं। इँगलैंड विज्ञान से भली भाँति भूषित तथा कला-कौशल-प्रधान देश है। वहाँ के निवासी तनिक से मानसिक परिश्रम और बुद्धि-बल से अनेक अल्प मूल्य पदार्थों को अमूल्य बना सकते और बना रहे हैं। वहाँ साधारण शिक्षा तथा उद्योग-शिक्षा के लिए यथेष्ट प्रबंध है, और प्रत्येक व्यक्ति की दैनिक आय का औसत महायुद्ध के पहले १½ रुपया था, और अब तो बहुत बढ़ गया है। इसके विरुद्ध भारतवर्ष कृषि-प्रधान देश है। कभी-कभी वर्षा निर्दिष्ट समय तथा उचित मात्रा में न होने के कारण, अथवा किसी वर्ष यहाँ से विदेशों में अमित खाद्य पदार्थों के चले जाने से, ७० फ़ी-सदी मनुष्यों को जीवन-संग्राम की कठिनाइयाँ उपस्थित हो जाती हैं। विज्ञान का यहाँ श्रीगणेश-मात्र ही हुआ है। औद्योगिक शिक्षा के समयोचित प्रबंध का तो ज़िक्र ही क्या, जब साधारण शिक्षा का प्रचार ही सौ स्त्री-पुरुषों में से केवल सात में हो, और यहाँ के प्रत्येक मनुष्य की औसत दैनिक आय, अधिकांश लेखकों के अनुसार, छः पैसे से तेरह पैसे तक हो। ऐसी अनमेल स्थिति में व्यापार और उद्योग आदि संबंधी अर्थ-शास्त्र के जो व्यावहारिक नियम इँगलैंड के लिए हितकर होंगे, उनका भारत के लिए भी हितकर होना आवश्यक नहीं। मतलब यह कि सब देशों की स्थिति किसी एक समय में अथवा किसी एक देश की स्थिति सब कालों में समान नहीं रहती। अतः प्रत्येक देश के लिए उसकी तत्कालीन परिस्थिति के अनुसार अर्थ-शास्त्र के नियमों का प्रयोग पृथक्-पृथक् होना चाहिए। इस प्रकार के व्यावहारिक अर्थ-शास्त्र को किसी देश के उस समय का राष्ट्रीय अर्थ-शास्त्र कहते हैं।

भारतीय अर्थ-शास्त्र—भारत-भूमि, भारतीय समाज, और भारतवर्ष की वर्तमान शासन-प्रणाली को लक्ष्य में रखकर इस देश

की आधुनिक स्थिति के अनुकूल व्यावहारिक नियमों और सिद्धांतों की दृष्टि से निर्माण किया हुआ अर्थ-शास्त्र भारतीय अर्थ-शास्त्र कहलाता है। इसमें देश के विविध आर्थिक प्रश्नों का राष्ट्रीय दृष्टि-कोण से विचार किया जाता है। इस शास्त्र के अध्ययन से हम यहाँ की विविध आर्थिक समस्याओं पर सम्यग् विचार कर सकते हैं। लोगों की आर्थिक क्रियाओं पर उनकी रुचि, स्वभाव शक्ति या विचार का प्रभाव तो पड़ता ही है, इसके अतिरिक्त मनुष्य के एक सामाजिक प्राणी होने के कारण, वह औरों के विचारों से, भूत-कालीन परम्पराओं तथा वर्तमान अवस्थाओं से भी प्रभावित होता है। जहां पूर्वजों की संस्कृति उस पर असर डालती है, वहां माता-पिता, समाज या बिरादरी आदि के संस्कार भी उसे कुछ अंश में प्रभावित किए बिना नहीं रहते। देश की धार्मिक, राजनैतिक, या आर्थिक स्थिति, तथा सामाजिक रीति-रस्म आदि भी उन संस्कारों के बनाने में बड़ा भाग लेती हैं।

भारतीय अर्थ-शास्त्र में इस प्रभाव की उपेक्षा नहीं की जा सकती। उसका सम्यक् अध्ययन भारतीय परिस्थितियों के आधार पर ही किया जा सकता है। निस्सन्देह अर्थ-शास्त्र के मौलिक सिद्धांतों का संबंध मनुष्य मात्र से होता है, परन्तु हमें यह विचार करना आवश्यक है कि वे सिद्धांत भारतीय समाज में किस प्रकार और कहां तक लागू होते हैं।

हमारी आर्थिक समस्याएं—भारतीय अर्थ-शास्त्र के विद्यार्थियों को इस देश की विविध आर्थिक समस्याओं पर विचार करना आवश्यक है। उदाहरणवत् यह सोचना चाहिए कि भारतवर्ष अन्य देशों की अपेक्षा निर्धन क्यों है, यहाँ सर्वसाधारण, विशेषतया किसान

इतने ऋण-ग्रस्त क्यों हैं, उनका उद्धार किस प्रकार हो सकता है, हमारे ग्रामों की वर्तमान दशा कैसी शोचनीय है, उसे किस प्रकार सुधारा जाना चाहिए, यहां जनता पर कर-भार कितना है, विदेशी माल की इतनी खपत क्यों होती है, हमें अपने उद्योग धन्धों की उन्नति के लिए किन किन उपायों का अवलम्बन करना चाहिए, साधारण भारतवासियों का रहन-सहन कितना निम्न श्रेणी का है, उसे किस प्रकार उन्नत किया जा सकता है, इत्यादि। आज दिन संसार के, औद्योगिक दृष्टि से उन्नत कुछ देशों में पूंजीवाद अपनी चरम सीमा को पहुँच गया है। आधुनिक साम्राज्यवाद उसी का रूपांतर है और उसके विरुद्ध प्रतिक्रिया बढ़ती जा रही है, जिसे साम्यवाद या समाजवाद कहा जाता है। यह लहर क्रमशः बढ़ती जा रही है। और, क्योंकि इस समय संसार में वैज्ञानिक साधनों के उन्नति के कारण कोई विचार-धारा चिर-काल तक किसी विशेष क्षेत्र में परिमित नहीं रहती, हम चाहें, या न चाहें, हमारे यहां भी विश्व-व्यापी आर्थिक समस्याओं का प्रभाव पड़े बिना नहीं रह सकता। हमे इस बात का विचार करना चाहिए कि साम्यवाद या समाजवाद के यहां किस सीमा तक तथा किस रूप में प्रचार होने की संभावना है।

अध्ययन की आवश्यकता—अर्थ-शास्त्र मनुष्यों के दैनिक व्यवहार का विषय है। प्रत्येक देश के व्यक्तियों की भोजन वस्त्रादि की कुछ भौतिक आवश्यकताएँ होती हैं, जिनकी पूर्ति किए बिना उनका निर्वाह ही नहीं हो सकता। इन आवश्यकताओं की पूर्ति के नियम क्या हैं. इनमें देश और समाज की परिस्थिति का क्या प्रभाव पड़ता है, इत्यादि बातों का ज्ञान हमें अर्थ-शास्त्र से मिलता है, अतः इसके अध्ययन की आवश्यकता निर्विवाद है। फिर, इस समय यह आवश्यकता और भी अधिक है, कारण, आज-कल लोगों का रहन-सहन सरल नहीं रहा है, दैनिक

आवश्यकताएँ बढ़ गई हैं, उनकी पूर्ति में ही जीवन का बहुत-सा समय और शक्ति लगानी पड़ती है—मानव जीवन अधिकतर आर्थिक विषयों में संलग्न रहता है, यहां तक कि इस युग को 'अर्थ-युग' कहना बहुत-कुछ सार्थक है। संसार आर्थिक चिन्ताओं और अर्थ-संकट में निमग्न है। भारतवर्ष की तो आर्थिक स्थिति और भी चिन्तनीय है। चिरकाल तक सोने की चिड़िया समझी जाने वाली, दूध-दही की नदियों के कारण विख्यात, आज इस भूमि की यह दशा है कि यहां करोड़ों आदमियों को रूखा-सूखा भोजन भी भर-पेट नहीं मिलता। जो देश अपने वस्त्र से अन्य देशों के निवासियों की लज्जा निवारण करता था, आज अपनी संतान को शरीर ढकने, और सर्दी-गर्मी से बचने के लिए पर्याप्त वस्त्र नहीं देता। इन बातों से विशाल भवनों में रहने वालों, सरकारी दफ्तरों में काम करने वालों, तथा केवल सरकारी रिपोर्टों के आधार पर ज्ञान प्राप्त करने वालों को भले ही आश्चर्य हो, बड़े-बड़े नगरों में जल्दी-जल्दी सैर-सपाटा करने वाले रईसों और शाही यात्रियों को चाहे इनमें अत्युक्ति प्रतीत हो, जनता के सम्पर्क में आने वाले सहृदय व्यक्तियों को इनकी सचाई सहज ही ज्ञात हो सकती है। कोई भी सत्यान्वेशी, देश के राज-पथों को छोड़कर अन्दरूनी भागों में जाय, गावों और कस्बों में कुछ समय लोगों से हिल-मिल कर रहे, उसे उपर्युक्त कथन का प्रत्यक्ष अनुभव हुए बिना न रहेगा। आर्थिक दृष्टि से ऐसे दीन-हीन देश के उत्थान में भाग लेने के अभिलाषी, प्रत्येक स्वदेश-प्रेमी और हितचिन्तक का यह अत्यन्त आवश्यक कर्तव्य है कि वह भारतीय अर्थ-शास्त्र को अध्ययन करे, और यहाँ की आर्थिक समस्याओं का चिंतन करे।

भारतवर्ष के आर्थिक प्रश्नों पर भली भाँति विचार करने के लिए, इसके भिन्न-भिन्न भागों की आर्थिक परिस्थिति तथा विविध समस्याओं की सूक्ष्म जाँच करने की बड़ी आवश्यकता है। भारतीय अर्थ-शास्त्र के जिज्ञासुओं को भारतीय जनता के सम्पर्क में आना चाहिए, और क्योंकि

यह देश अधिकांश में गांवों का देश है, अधिकतर जनता गांवों में रहती है, यहां के ग्राम-जीवन के अध्ययन के विशेष आवश्यकता है। इस पुस्तक में, जो अपने महान् विषय की दृष्टि से बहुत छोटी ही है, कुछ मूल प्रश्नों या स्थूल बातों की साधारण विवेचना की जा सकती है।

दूसरा परिच्छेद

अर्थ-शास्त्र के भाग

अर्थ-शास्त्र का विवेचन करने के लिए इसे कितने भागों में विभक्त किया जाय, यह अंशतः लेखक की रुचि या शैली पर निर्भर है। साधारण-तया इसके पांच भाग किए जाते हैं:—धन की उत्पत्ति, उपभोग, मुद्रा और बैंक, विनिमय, और वितरण। इस परिच्छेद में हम यह बतलाते हैं कि इन विविध भागों का अर्थ-शास्त्र में यथार्थ अभिप्राय क्या है। पहले उत्पत्ति को लीजिए।

उत्पत्ति—विविध प्रकार की उपयोगिता का पैदा करना या बढ़ाना अर्थ-शास्त्र में उत्पत्ति कहा जाता है। उदाहरणवत् एक दर्ज़ी कोट सी रहा है। वह कपड़े को थान में से काट-काट कर उसे ऐसे स्वरूप में बदल रहा है कि पहननेवाले के लिए अधिक उपयोगी हो जाय। जुलाहे का काम देखो, वह सूत को ऐसे रूप में बदल रहा है कि दर्ज़ी के लिए उसकी उपयोगिता बढ़ जाय। इसी तरह कातनेवाले के काम को लो, उसने कपास को ऐसे रूप में बदल दिया है कि वह जुलाहे के लिए

अधिक उपयोगी है। परंतु क्या कपास की खेती करनेवाले ने कुछ नई चीज़ पैदा नहीं की ? विचार करके देखा जाय, तो उसने उसके बीज को खेत में इस तरह रक्खा, और उसे खाद, पानी आदि इस प्रकार दिया कि वह बीज उनके तथा हवा के अंशों को लेकर ऐसे रूप में बदल गया कि एक पहले से अधिक उपयोगी वस्तु बन गई। इसी तरह भेड़ का ऊन भी कोई नई चीज़ नहीं है। यह उपयोगी ऊन उस ख़ुराक से बना है, जो भेड़ ने खाई है, और यह ख़ुराक उसी प्रकार मिट्टी, पानी और हवा से बनी है, जैसे कपास बनी थी। इस प्रकार वास्तव में मनुष्य कोई नवीन भौतिक पदार्थ उत्पन्न नहीं कर सकता, वह केवल उपयोगिता पैदा करता या बढ़ाता है। इसी को हम साधारण बोल-चाल में उत्पादन-कार्य कहा करते हैं।

क्या व्यापारी का कार्य उत्पादक है ? इसकी भी हमें उपयोगिता की दृष्टि से ही जाँच करनी चाहिए। व्यापारी विविध वस्तुओं को ऐसे स्थान पर पहुँचाते हैं, जहाँ वे, पहले की अपेक्षा, अधिक आवश्यक अथवा अधिक उपयोगी हो जाती हैं। उदाहरणार्थ, कोयले की खान पर पड़े हुए कोयले को किसी कारख़ाने में पहुँचा देने से उसकी उपयोगिता बहुत बढ़ जाती है।

बहुधा एक अधिकारी से दूसरे अधिकारी के पास पहुँचने से भी चीज़ों की उपयोगिता में अंतर आ जाता है। जिस आदमी के पास एक हज़ार मन अन्न भरा हुआ है, उसके लिए वह इतना उपयोगी नहीं है, जितना वह छोटे-छोटे सौदागरों के पास जाकर हो जाता है। सामान्य गृहस्थों के यहाँ उस अन्न की उपयोगिता और भी अधिक हो जाती है। अतः किसी चीज़ को बड़े-बड़े व्यापारियों से लेकर साधारण श्रेणी के ख़र्च करनेवालों के पास पहुँचाने का कार्य भी उसकी उपयोगिता की वृद्धि करना है

बहुत-सी चीज़ें ऐसी हैं, जो एक समय विशेष आवश्यक नहीं होतीं, लेकिन दूसरे समय उनकी बहुत माँग होती है। अपनी-अपनी ऋतु में बहुत-सी घास, जड़ी-बूटियाँ स्वयं बड़ी मात्रा में पैदा हो जाती हैं। जिस समय उनकी पैदा होने की ऋतु न हो, उस समय तक उन्हें संग्रह करके रखने से उनकी उपयोगिता बढ़ती है। रुपया बैंक में जमा करना या ब्याज पर उधार देना भी उपयोगिता-वृद्धि का उदाहरण है; कारण, ऐसा करने से रुपया सुरक्षित या संचित रहता है, और ब्याज के रूप में उसकी जो वृद्धि होती है, वह रही अलग। विज्ञापन या इश्तहार देने से वस्तुओं की माँग दूर-दूर तक होती है, उनकी बिक्री बढ़ती है, अतः विज्ञप्ति भी उपयोगिता-वृद्धि का कार्य है।

ऊपर, पदार्थों के रूप, स्थान, समय, या अधिकारी में परिवर्तन होने से उत्पत्ति अर्थात् उपयोगिता-वृद्धि होने की बात समझाई गई है। ये परिवर्तन भौतिक है। इनके बिना भी उत्पत्ति होती है। उदाहरणार्थ मदारी, नट, नर्तक गवैये आदि अपनी कला से दर्शकों और श्रोताओं की आवश्यकता की पूर्ति करते हैं, अतः अर्थ-शास्त्र की दृष्टि से ये भी उत्पादक हैं। इसी प्रकार जज, पुलिसमैन, सैनिक, डाक्टर, अध्यापक, तथा घरू-नौकर आदि अपनी सेवा से लोगों की विविध आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं, और इसलिए उत्पादक हैं। इसके अतिरिक्त दुकानदार, वकील, डाक्टर या पंडे आदि की प्रसिद्धि या ख्याति की भी उपयोगिता या आर्थिक मूल्य होने से उसे बढ़ाने की क्रिया अर्थ-शास्त्र में उत्पत्ति कही जाती है। ये लोग सर्व-साधारण से जितना मेल-जोल बढ़ाते हैं, उतना ही इन्हें ग्राहक, मुवक्किल, मरीज़ या जजमान अधिक मिलते हैं। इस प्रकार, कुछ दशाओं में जनता के सम्पर्क में आना भी उपयोगिता-वृद्धि अर्थात् धनोत्पत्ति का कार्य है।

अस्तु, अर्थ-शास्त्र में उत्पत्ति के दो भेद हैं, भौतिक और अ-भौतिक। भौतिक उत्पत्ति में किसी पदार्थ का रूप, स्थान आदि परिवर्तन करके,

उसकी आर्थिक उपयोगिता बढ़ाई जाती है, और अ-भौतिक उत्पत्ति में कोई ऐसा सेवा-कार्य करके मनुष्यों की आवश्यकताओं की पूर्ति की जाती है, जिसके बदले में द्रव्य की प्राप्ति हो।

उत्पत्ति के साधन—प्राचीन अर्थ-शास्त्रियों ने भूमि, श्रम और पूँजी, ये तीन ही उत्पत्ति के साधन माने थे। आधुनिक मत से इन साधनों में व्यवस्था (अर्थात् प्रबंध और साहस) की भी गणना की जाती है।

कल्पना कीजिए, अन्न उत्पन्न करना है। खेती के लिए भूमि की आवश्यकता होगी, किसान को हल चलाने और पानी देने आदि में मेहनत करनी होगी, साथ ही उसे बीज, हल, बैल आदि ऐसी चीज़ों की भी आवश्यकता होगी, जिन्हें हम उसकी पूंजी कह सकते हैं। इस प्रकार अन्न आदि कच्चे पदार्थ उत्पन्न करने के लिए भूमि, श्रम और पूँजी की आवश्यकता होती है। अब तैयार माल बनाने का उदाहरण लें; कपड़ा सीने के कार्य का विचार करें। दर्ज़ी को, उसके बैठने के वास्ते स्थान (दुकान आदि) चाहिए; यह भूमि हुई। उसे इस कार्य में श्रम करना होता ही है। उसे कपड़े, सूई डोरा आदि की ज़रूरत होती है, ये चीज़ें उसकी पूंजी हैं। इसी प्रकार लुहार, बढ़ई, जुलाहे आदि के कार्य का विचार किया जा सकता है। निदान कच्चा माल हो, या तैयार, भौतिक उत्पत्ति में इन्हीं तीन साधनों की ज़रूरत होती है। अच्छा, अ-भौतिक उत्पति के संबंध में क्या बात है? उदाहरणार्थ अध्यापक के कार्य पर विचार करें। उसे अध्यापन-कार्य करने के लिए स्थान (पाठशाला या मकान) चाहिए; यह भूमि हुई। उसे श्रम करना पड़ता है, यह स्पष्ट ही है। पुनः वह अपना कार्य करने योग्य तभी हुआ है, जब उसने पहले स्वयं शिक्षा प्राप्त की है, जिसमें कुछ धन खर्च

हुआ है। उस खर्च किए हुए धन से उसे अब अधिक धन प्राप्त होता है, अतः वह धन पूँजी है। इसी तरह जज, सैनिक, डाक्टर, और गवैये आदि द्वारा होने वाली अ-भौतिक उत्पत्ति के भी ये तीन साधन होते हैं। अस्तु, भौतिक एवं अ-भौतिक उत्पत्ति के तीन साधन स्पष्ट हुए—भूमि, श्रम और पूँजी।

उत्पत्ति के साधनों में व्यवस्था को पहले पृथक् स्थान नहीं दिया जाता था। लेकिन अब कल-कारख़ानों में बहुत-से एकत्रित आदमियों और बड़ी-बड़ी पूँजी से उत्पत्ति का काम होता है। इससे प्रबंध या निरीक्षण की आवश्यकता बढ़ गई है। साथ ही कार्य बड़ा होने के कारण उसके संचालन की ज़िम्मेदारी या जोखम अथवा साहस भी बहुत होता है। अस्तु, अब व्यवस्था का महत्त्व बहुत बढ़ गया है। व्यवस्था में प्रबंध और साहस दोनों सम्मिलित समझे जाते हैं। इस प्रकार उत्पत्ति के ये साधन हुए—(१) भूमि, (२) श्रम, (३) पूँजी, और (४) व्यवस्था, अर्थात् प्रबंध और साहस। यह आवश्यक नहीं है कि ये सब साधन प्रत्येक प्रकार के धनोत्पादन में पृथक् पृथक् रूप से काम करते हुए स्पष्ट दृष्टि-गोचर हो। सब का महत्त्व भी सदैव समान नहीं होता। सृष्टि की प्रारम्भिक अवस्था में भूमि और श्रम की प्रधानता रहती है। आज कल पूँजी और व्यवस्था का महत्त्व बहुत बढ़ गया है।

उत्पत्ति के साधनों में भूमि तो प्रकृति-दत्त है, अन्य साधन मनुष्य (पुरुष) संबंधी हैं। हिन्दू शास्त्रों के अनुसार सृष्टि की उत्पत्ति प्रकृत्ति और पुरुष से हुई है, अर्थशास्त्र भी सृष्टि की धनोत्पत्ति संबंधी विविध क्रियाओं का मूल कारण इन्हें ही बतलाता है।

धनोत्पत्ति के अन्तर्गत, भूमि में यह विचार किया जाता है कि देश की प्राकृतिक शक्ति कितनी है, जल-वायु, वर्षा, नदी, पहाड़, जंगल, खान

आदि कहां तक उत्पादन कार्य में सहायक हैं, और उन्हें कहां तक उपयोग में लाया जा रहा है। श्रम में जनता के संबंध में विचार होता है, उदाहरणवत् जन-संख्या कितनी है, वह देश की उत्पादन-शक्ति की तुलना में अधिक तो नहीं है, उसकी वृद्धि कहां तक हो रही है, उसका स्वास्थ, शिक्षा, कुशलता आदि कैसी है, और देश को धार्मिक, सामाजिक या राजनैतिक स्थिति का उस पर क्या प्रभाव पड़ता है। श्रम करने की विधि कैसी है, और श्रम-विभाग कहां तक है। पूँजी के संबंध में यह सोचा जाता है कि देश के भिन्न वर्गों के पास कितनी पूँजी है, उससे कहां तक धनोत्पादन किया जाता है, उसकी वृद्धि किस प्रकार की जानी चाहिए, क्या विदेशी पूँजी का उपयोग लाभकारी है। व्यवस्था में विचारणीय विषय यह होता है कि आधुनिक उत्पादन में इस की विशेष आवश्यकता क्यों होती है, कल-कारखानों में श्रमियों के स्वार्थ तथा उनके कुशल-क्षेम आदि के लिए किन-किन उपायों को काम में लाया जाना चाहिए आदि। उपर्युक्त बातों के अतिरिक्त उत्पत्ति में, खेती और उद्योग-धंधों संबंधी स्थिति तथा उन्नति पर भी प्रकाश डाला जाता है। भारतीय अर्थ-शास्त्र में इस प्रसंग में इस विषय का भी विचार होना अभीष्ट है कि देश में जो उत्पादन कार्य हो वह आदर्श-युक्त हो, उसमें धार्मिक अर्थात् नैतिक नियमों की अवहेलना न की जाय। वास्तव में धन एक साधन मात्र है, वह मनुष्य समाज के लिए है। मानव समाज का अहित करके धनोत्पादन भारतीयों को, और हम कह सकते हैं, किसी भी विवेकशील व्यक्ति को अभीष्ट नहीं होना चाहिए। अस्तु, उत्पत्ति का इतना विचार हो चुकने पर अब हम अर्थ-शास्त्र के दूसरे भाग, 'उपभोग' को स्पष्ट करते हैं।

उपभोग—हम बहुधा कहते और सुनते रहते हैं कि अमुक आदमी ने वह चीज़ ख़र्च कर ली। परंतु अर्थ-शास्त्र में वस्तुओं के सभी

प्रकार के खर्च को उपभोग नहीं कहा जाता। यह विचार करना होता है कि उस वस्तु के ख़र्च होने से किसी व्यक्ति को तृप्ति या संतुष्टि प्राप्त हुई है या नहीं। उदाहरणार्थ एक आदमी एक रोटी खाता है, और दूसरा एक रोटी को आग में फैंक कर जला डालता है। दोनों दशाओं में रोटी ख़र्च हो गई, उसकी उपयोगिता नष्ट हो गई। परंतु प्रथम दशा में रोटी से खाने वाले की संतुष्टि हुई, इस दशा में उसका उपभोग हुआ, यह कहा जायगा। इसके विपरीत, दूसरी दशा में रोटी के जलने से किसी व्यक्ति की संतुष्टि नहीं हुई, इस दशा में अर्थ-शास्त्र की दृष्टि से उसका उपभोग नहीं माना जायगा।

अच्छा, एक कारखाने में कोयला ख़र्च होता है, उसके जलने से उसकी उपयोगिता नष्ट होती है। इसी प्रकार वहाँ मशीन धीरे-धीरे घिसती है, क्रमशः उसकी उपयोगिता घटती जाती है। क्या इसे उपभोग कहा जायगा? यहां विचारने की बात यह है कि यद्यपि कोयले और मशीन के उपयोग से जो वस्तुएँ बनेंगी, उनसे मनुष्यों की आवश्यकताओं की पूर्ति होगी, कोयले और मशीन के खर्च का तात्कालिक उद्देश्य किसी व्यक्ति की तृप्ति या संतुष्टि नहीं है, वरन् और अधिक धन की उत्पत्ति है, अतः इस क्रिया को, अर्थ-शस्त्र में उपभोग न कह कर उत्पत्ति कहा जायगा।

अस्तु, अर्थ-शास्त्र में उपभोग का आशय किसी वस्तु (या सेवा) के ऐसे उपयोग से होता है, जिससे किसी व्यक्ति को तृप्ति या संतुष्टि हो। अर्थ-शास्त्र के इस भाग में यह विचार किया जाता है कि मनुष्य जो विविध पदार्थों का उपभोग करते हैं, वह कहां तक उनके तथा देश के लिए हितकर है, और किन दशाओं में वह हानिकर है। इसी प्रसंग में पारिवारिक आय-व्यय का भी विचार होता है, तथा यह भी सोचा जाता कि रहन-सहन का दर्जा कहाँ तक घटाना या बढ़ाना उपयोगी है, एवं वस्तुओं के उपभोग से अधिकतम संतुष्टि किस प्रकार प्राप्त हो सकती है।

मुद्रा और बैंकिंग—कोई मनुष्य अपनी आवश्यकता की सभी वस्तुएँ उत्पन्न नहीं कर सकता। हमें बहुधा अपने जीवन-निर्वाह के लिए भी दूसरों की उत्पन्न की हुई, या बनाई हुई चीज़ों की ज़रूरत होती है। ये चीज़ें तभी मिल सकती हैं, जब हम उनके स्वामियों को उनके बदले में कुछ अपने परिश्रम का फल दें। निदान, अदल-बदल सामाजिक मनुष्य के लिए अनिवार्य है। परंतु हर समय हर एक चीज़ के अदल-बदल का सुबीता नहीं होता; अतः समाज ने बड़े अनुभव से इस कार्य के लिए एक माध्यम अर्थात् मुद्रा का निश्चय किया है; मुद्रा से विशेष संबंध रखनेवाली संस्थाएँ बैंक कहलाती हैं।

अर्थ-शास्त्र के इस भाग में यह विचार किया जाता है कि देश में मुद्रा किस धातु की और कितनी होनी चाहिए, तथा उसका विदेशी मुद्राओं से विनिमय किस दर से होना चाहिए, काग़ज़ी मुद्रा का चलन किस सीमा तक होना उचित है, उसके संबंध में किन नियमों का पालन होना आवश्यक है, बैंक किस-किस उद्देश्य से खोले जाते हैं, उनका संचालन किस प्रकार किया जाय कि उनका दिवाला न निकले और उनसे जनता को यथेष्ट लाभ होता रहे।

विनिमय—पदार्थों का अदल-बदल इसीलिए होता है कि दोनों पक्षवालों को लाभ हो, और, तभी तक होता है, जब तक कि दोनों को लाभ होता रहे। किसी भी पक्ष का लाभ हटते ही यह कार्य बंद हो जायगा। जब दो चीज़ों का अदल-बदल होता है, तो उनके परिमाण में कुछ अनुपात-संबंध रहता है, अर्थात् एक वस्तु के कुछ परिमाण के बदले कुछ परिमाण दूसरी वस्तु दी जाती है। इसे हम उसका मूल्य कहते हैं। उदाहरणार्थ यदि दस सेर चावल के बदले बीस सेर गेहूँ मिलें, तो दस सेर चावल का मूल्य बीस सेर गेहूँ हुआ; अर्थात् एक सेर चावल का

मूल्य दो सेर गेहूँ हुआ। जब किसी वस्तु की एक इकाई का मूल्य मुद्रा में बताया जाता है, तो हम उसे उस चीज़ की क़ीमत कहते हैं। उपर्युक्त उदाहरण में यदि एक सेर गेहूँ का मूल्य दो आने हो, तो गेहूँ की क़ीमत दो आने फ़ी-सेर हुई। पदार्थों को ऐसे हिसाब से लेना-देना आधुनिक समय का विनिमय है। प्राचीन समय में, जब मुद्रा का प्रचार नहीं था, पदार्थों का अदल-बदल ही विनिमय था।

अर्थ-शास्त्र के इस भाग में यह विचार किया जाता है, कि देश के भिन्न-भिन्न भागों में तथा विदेशों में कहां तक कैसी-कैसी वस्तुओं का व्यापार होता है, उसमें क्या बाधाएं हैं, और उन बाधाओं का किस प्रकार निवारण हो सकता है; विदेशी व्यापार से देश को कोई हानि तो नहीं हो रही है, सरकार की व्यापार नीति क्या होनी चाहिए, अर्थात् वह आयात-निर्यात के पदार्थों पर कर लगाने में किन-किन बातों का ध्यान रखे।

वितरण—धनोत्पत्ति के विविध साधनों के मालिकों को उनका प्रतिफल मिलने का नाम अर्थ-शास्त्र में धन-वितरण है। भूमिवाले को लगान, श्रम करनेवाले को वेतन, पूँजीवाले को सूद, व्यवस्था करनेवाले को मुनाफ़ा मिलता है। संभव है, किसी-किसी उत्पादक कार्य में दो या अधिक उत्पादक साधनों का प्रतिफल पाने का अधिकारी एक ही व्यक्ति या व्यक्ति-समूह हा. तथापि प्रत्येक के प्रतिफल का पृथक्-पृथक् हिसाब लगाया जा सकता है।

उत्पादक साधनों में उत्पन्न पदार्थ ही नहीं बटता। मेज़, कुर्सी आदि बहुत-सी चीज़ें ऐसी होती हैं, जिनका भाग या टुकड़े होने पर उपयोगिता नष्ट हो जाती है। बहुधा ऐसा भी हो सकता है कि कोयला, लोहा आदि जो चीज़ तैयार हुई है, उसकी सबको आवश्यकता न हो। इसलिए उत्पादकों को उत्पन्न वस्तु का हिस्सा न देकर ऐसी रक़म दे दी जाती है, जो उनके

हिस्से की वस्तु की मापक हो। किसी उत्पन्न वस्तु के कुल मूल्य को कुल उपज रक़म कहते हैं। उसमें से उस वस्तु में लगी हुई कच्ची सामग्री और कारख़ाने की टूट-फूट की सँभाल अथवा बीमे की रक़म निकाल देने पर जो रक़म शेष बचती है, उसे वास्तविक या असली उपज-रक़म कहते हैं। उत्पादक साधनों में असली उपज-रक़म का ही बटवारा होता है, अर्थात् इसी रक़म में से लगान, वेतन, सूद आदि दिए जाते हैं।

अर्थ-शास्त्र के इस भाग में यह विचार किया जाता है कि धनोत्पत्ति के विविध साधनों के मालिकों को लगान, वेतन सूद आदि किस हिसाब से मिलना चाहिए, ऐसा तो नहीं होता कि भूमिवाला या पूँजीवाला अथवा व्यवस्थापक उत्पन्न धन में से इतना अधिक भाग लेले कि श्रमियों के पास बहुत कम रह जाय, और सर्व-साधारण जनता की अवस्था चिन्तनीय हो; देश में धन-वितरण यथा सम्भव समान हो, ऐसा असमान न हो कि जिससे समाज को बहुत हानि हो, तथा असंतोष-सूचक विविध आन्दोलनों की नौबत आए।

पाठक अब समझ गए होंगे कि अर्थ-शास्त्र के विविध भागों—उत्पत्ति, उपभोग, मुद्रा और बैंकिंग, विनिमय, और वितरण—का क्या अर्थ है, तथा इनमें कैसे-कैसे प्रश्नों का विचार किया जाता है। अब आगे के खंडों में इन भागों का पृथक् पृथक् वर्णन करेंगे।

———

द्वितीय खंड

उत्पत्ति

पहला परिच्छेद

भारत-भूमि

प्राक्कथन- जैसा कि पहले कह आए हैं, धनोत्पत्ति में भूमि का एक विशेष और महत्त्व-पूर्ण स्थान है। मनुष्य के काम में आनेवाले सब पदार्थ प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्य-रूप से भूमि से ही उत्पन्न हुए हैं। भूमि प्रकृति दत्त है। इसे मनुष्य ने नहीं बनाया, यह उसे बिना श्रम तथा बिना मूल्य मिली हुई है। अन्य प्रकृति-दत्त पदार्थों में और भूमि में एक अंतर है। अन्य पदार्थ हवा, पानी आदि अपरिमित हैं, परंतु भूमि की मात्रा (क्षेत्रफल) परिमित है। उद्योग करने पर दलदलवाली, समुद्र की सीमा पर की, रेगिस्तान या पर्वत आदि की कुछ भूमि अधिक उपयोगी बनाई जा सकती है, परंतु उसमें बहुत समय लगता है. साथ ही वह स्वेच्छानुसार बढ़ाई नहीं जा सकती—जितनी भूमि है, मनुष्य की आवश्यकता उससे अधिक ही होती जाती है। हवा आदि में यह बात नहीं, साधारणतया वह जितनी चाहे उतनी ख़र्च कर ली जाय, उसके संबंध में किसी की यह भावना नहीं होती कि मुझे यह कम मिलती है, दूसरे को ज़्यादह।

धन की उत्पत्ति में पृथ्वी के ऊपर के तल के अतिरिक्त उसके भीतरी भाग (भू-गर्भ), जल-वायु, वर्षा, आदि का भी प्रभाव पड़ता है। इन सब का भूमि के ही अंतर्गत समझा जाता है। इस प्रकार अर्थ-शास्त्र के अनुसार, भूमि के अंतर्गत वे सब उपयोगी वस्तुएँ आ जाती हैं, जो मनुष्य ने न बनाई हों। उदाहरणार्थ जंगल पहाड़, खान, नदी, झील, तालाब, और समुद्र आदि एवं इनसे स्वयं, बिना श्रम, मिलने वाले विविध पदार्थ यथा लकड़ी, पशु पक्षी, औषधियां, धातुएँ, शंख, मोती, मछलियाँ आदि भी भूमि में ही सम्मिलित हैं। इसी प्रकार जल-शक्ति, वायु-शक्ति, सूर्य का प्रकाश आदि भी भूमि के ही अंतर्गत हैं। इस अध्याय में भारतवर्ष संबंधी इन बातों का विचार किया जायगा।

भारतवर्ष की प्राकृतिक स्थिति——भारतवर्ष एक विशाल भू-खंड है। इसके उत्तर में पर्वत-शिरोमणि हिमाचल की ऊँची, बर्फ़ से ढकी दीवार है; शेष तीन ओर से यह समुद्र से घिरा हुआ है। भिन्न-भिन्न प्रकार की जल-वायु, तरह-तरह की भूमि, विचित्र-विचित्र दृश्य और भाँति-भाँति की पैदावार देकर मानों प्रकृति ने इसे जगत् की प्रदर्शिनी बनाया है। ऐसी कोई चीज़ नहीं, जो यहाँ पैदा न हो सकती हो। कच्चे पदार्थों का भंडार होने के कारण इसे औद्योगिक पदार्थों की आवश्यकता की पूर्ति करने के लिए विशेष प्राकृतिक सुविधा प्राप्त है। पूर्वीय गोलार्द्ध का केंद्र होने से इसकी स्थिति एशिया, योरप और अफ़्रीका से व्यापार करने के लिए बहुत अनुकूल है। हाँ, इसे एक बड़ी बाधा का सामना करना पड़ता है, यहाँ अच्छे बन्दरगाहों की कमी है। लगभग ३००० मील लम्बा समुद्र-तट होते हुए भी, यहाँ व्यापार के लिए यथेष्ट उपयोगी बन्दरगाह इने-गिने हैं। इस विषय का विशेष विचार व्यापार के प्रसंग में किया जायगा। भीतरी आमदोरफ़्त की दृष्टि से दक्षिण भारत की तुलना में उत्तर भारत की स्थिति अच्छी है, कारण कि वहाँ पर एक तो ऐसी नदियां हैं

जिनमें नाव अच्छी तरह जा आ सकती है, दूसरे वहां सड़कें और रेलें बनाने में बहुत सुविधा रहती है, जब कि दक्षिण में पहाड़ों के या पथरीली भूमि के होने से इसमें बड़ी कठिनाई होती है।

विस्तार—मोटे हिसाब से भारतवर्ष (जिसमें अब बर्मा सम्मिलित नहीं है) का क्षेत्रफल १६ लाख वर्ग मील हैं, इसमें से पौने नौ लाख वर्ग मील ब्रिटिश भारत में है, और शेष देशी रियासतों में।

प्राकृतिक विभाग—भारतवर्ष प्राकृतिक रूप से चार भागों में विभक्त है:—

(१) उत्तरी पहाड़ी भाग,
(२) सिंध गंगा का मैदान
(३) दक्षिण भारत, और
(४) समुद्र-तट

उत्तरी पहाड़ी भाग में हिमालय १५०० मील तक बल खाता हुआ चला गया है। इस विभाग की अधिक-से-अधिक चौड़ाई २०० मील है। हिमालय बड़ी-बड़ी नदियों द्वारा उत्तरी-भारत को हरा-भरा रखता है। इसके पश्चिमी भाग का जल विविध नदियों में बहकर सिंध में, तथा पूर्वीय भाग का गंगा में जा मिलता है। इस विभाग में बड़े मैदान नहीं है। यहाँ तरह-तरह की लकड़ियाँ वनौषधियाँ पैदा होती हैं। पहाड़ी नालों के जल में बिजली का अतुल कोष संचित है, परंतु देश में विज्ञान का प्रचार कम होने से इनका अभी यथेष्ट उपयोग नहीं किया जाता।

सिंध-गंगा का मैदान हिमालय से निकली हुई नदियों की घाटियों से बना हुआ है, और हिमालय की पश्चिमी शाखाओं से पूर्वीय शाखाओं तक फैला हुआ है। इसका क्षेत्रफल तीन लाख वर्गमील से अधिक है, सारा उत्तरीय भारत इसमें सम्मिलित है। पश्चिमी रेतीले भाग को

छोड़कर, यह बहुत उपजाऊ, व्यापार के अनुकूल और घनी आबादीवाला होने में प्रसिद्ध है। सिंध और गङ्गा से इसकी सिंचाई अच्छी तरह हो जाती है।

दक्षिणी भारत सिंध और गङ्गा के मैदान के दक्षिण में पहाड़ों से घिरा हुआ तिकोना पठार (ऊँचा मैदान) है। इसमें छोटे छोटे पेड़ और झाड़ियाँ अधिक हैं; जहाँ पानी बहुत है या निकट है, वहाँ बड़े-बड़े वृक्षों के जंगल भी हैं। पत्थरों से बनी हुई मिट्टी काले रंग की है। इसमें आना-जाना मुश्किल है, सड़कें और रेलें कठिनाई से बनती हैं। इस पठार की ऊँचाई १२०० से लेकर ३००० फुट तक है। यह भारतवर्ष के पूर्वोक्त दोनों भागों की अपेक्षा अधिक ऊँचा तथा पुराना (अधिक उम्रवाला) है।

दक्षिण के पठार के पूर्व एवं पश्चिम में तंग समुद्र तट का मैदान है। इसका बहुत-सा भाग समुद्र-जल से ढका हुआ है, जो अधिक से अधिक दो सौ गज़ गहरा है। पश्चिमी समुद्र-तट की चौड़ाई २० मील से ६० मील तक है। पूर्वीय समुद्रतट की चौड़ाई ५० मील से १०० मील तक है। इन समुद्र-तटों में नारियल के पेड़ बहुत होते हैं, और इनमें पैदावार अच्छी होती है।

जल-वायु और उसका आर्थिक प्रभाव—भारतवर्ष भूमध्य रेखा से पास (उत्तर में) है, परंतु तीन ओर समुद्र से घिरा होने के कारण यहाँ गरमी का प्रभाव बहुत अधिक नहीं होने पाता। स्थल का धरातल समुद्र से कहीं तो अधिक ऊँचा है, और कहीं कम। इससे सारे देश में एक ही तरह का जल-वायु नहीं रहता। प्रायः दक्षिण में गरमी और उत्तरी पहाड़ी प्रदेश में सरदी रहती है; बीच में तरह-तरह की जल-वायु मिलती है। मध्य-भारत और राजपूताना समुद्र से दूर हैं और शुष्क हैं। अतएव ये प्रायः जाड़े में शीतल और गरमियों में बहुत उष्ण रहते हैं।

भारतवर्ष-जैसे प्राकृतिक शक्ति-प्रधान देशों में थोड़ा-सा परिश्रम करने से मानवी आवश्यकताओं की पूर्ति हो जाती है। गर्म भागा में वस्त्रों की विशेष आवश्यकता नहीं होती। साधारण आदमी वर्ष का अधिक समय केवल लँगोट या अँगोछा पहने बिता देता है। भोजन भी अपेक्षा-कृत कम चाहिए। मकान की भी बहुत ज़रूरत नहीं होती। गर्म देश में मनुष्य जल्दी थक जाते हैं, और बहुधा आरामतलब, रोगी, व्यसनी, दुर्बल या अल्पायु होते हैं।

विज्ञान की सहायता से मनुष्य जल-वायु को कुछ अंश में बदल कर अपने अनुकूल बनाने का प्रयत्न कर रहा है। उदाहरणवत् यह विचार किया जा रहा है कि रेगिस्तान में बड़ी बड़ी नहरें निकालने, तथा बड़े पैमाने पर पेड़ लगाने से जल-वायु में अंतर किया जाय। भारतवर्ष में अभी विज्ञान का इस दिशा में प्रचार तथा प्रयोग नहीं हुआ है। और, यह काम है भी इतना व्यय-साध्य, कि सरकार ही इसका बीड़ा उठा सकती है, जिसकी निकट भविष्य में संभावना नहीं है।

वर्षा और उसका आर्थिक प्रभाव—कृषि-प्रधान देश होने के कारण यहाँ वर्षा पर बहुत आश्रय रहता है, उसके अधिक अथवा कम होने से फ़सलें मारी जाती हैं, और बहुत-से आदमियों की जीवन-संग्राम की कठिनाई बढ़ जाती है। वर्षा को मात्रा पृथक्-पृथक् होने से भारतवर्ष के भिन्न-भिन्न भाग ख़ास-ख़ास फ़सलों के लिए उपयुक्त हैं, और देश में लगभग सभी चीज़ें पैदा होती हैं। जन-संख्या का आधार भी कुछ अंश में वर्षा की मात्रा ही है; जहाँ वर्षा अच्छी होती है और लोगों को खाने को मिलता है, वहाँ आबादी प्रायः घनी होती है।

वर्षा के संबंध में अन्य देशों से यहाँ यह विशेषता है कि साल में दो मौसमी हवाएँ निश्चित हैं। यद्यपि भिन्न-भिन्न प्रांतों में पहाड़ आदि के कारण उनकी दिशा बदल जाती है, अप्रेल से सितंबर तक दक्षिण-

पश्चिम (समुद्र) की ओर से, और अक्तूबर से मार्च तक उत्तर-पूर्व अर्थात् स्थल की ओर से हवा चलती है। इनमें से पहली हवा से ही वर्षा विशेष होती है।

स्थूल रूप से, वर्षा की दृष्टि से भारतवर्ष के चार भाग किए जा सकते हैं:—

(१) अधिक वर्षावाला भाग; सौ इंच से ऊपर वर्षा पश्चिमी तट, गंगा के डेल्टा, आसाम और सुरमाघाटी में होती है।

(२) अच्छी वर्षा वाला भाग; चालीस से अस्सी इंच तक वर्षा गंगा की घाटी में इलाहाबाद तक और पूर्वी तट पर होती है।

(३) खुश्क भाग; बीस से चालीस इंच तक वर्षा दक्षिण में, और मध्य भारत के पठार में होती है।

(४) बहुत खुश्क भाग; एक से दस इंच तक वर्षा अरावली के पश्चिम में, सिंध और बिलोचिस्तान में होती है।

साधारण तौर पर यह ख़्याल किया जाता है कि भारतवर्ष में जिस साल कम वर्षा होती है, उसी साल अकाल अधिक पड़ते हैं; परंतु यह बात पूर्णतः सत्य नहीं है। अकालों का मुख्य कारण जनता की बढ़ती हुई दरिद्रता भी है। वर्षा की बहुधा यहाँ कमी नहीं रहती; परंतु इस देश में उसका पानी संचित करके नहीं रक्खा जाता, वह भूमि में जज़्ब हो जाता है, अथवा नदियों द्वारा समुद्र में बह जाता है। उसे बड़ी-बड़ी झीलों में इकट्ठा करके उसका वैज्ञानिक बटवारा करने की ज़रूरत है। पुन: यहाँ अत्यधिक वर्षा से, या पकी हुई फ़सल के समय की वर्षा से, कई स्थानों में बड़ी हानि होती है। डा० बालकृष्ण जी ने लिखा है कि पश्चिमी देशों में ऐसे अवसर पर बादलों को तोपों से उड़ा देते हैं। कुछ वैज्ञानिक इस बात का भी प्रयत्न कर रहे हैं कि आवश्यकता प्रतीत

होने पर, विद्युत के द्वारा वर्षा कराई जा सके। हिन्दुओं के प्राचीन शास्त्रों में ऐसे यज्ञों के होने का उल्लेख पाया जाता है, जिनका उद्देश्य वर्षा कराना था। आज-कल एक तो लोगों का हवन यज्ञ आदि में विश्वास नहीं रहा, और दूसरे यह कार्य इतने व्यय-साध्य हैं कि साधारण व्यक्ति इनको करने में असमर्थ रहता है। अस्तु, भारतवर्ष में खेती वर्षा के भरोसे, या आबपाशी के सहारे ही की जाती है।

नदियों का आर्थिक प्रभाव—नदियों से व्यापार और कृषि की सिंचाई को बड़ी सहायता मिलती है। उनसे बने हुए डेल्टों और टापुओं की भूमि बहुत उपजाऊ होती है। नदियों की बाढ़ से बहुधा गाँव नष्ट हो जाते हैं, खेती की उपज, पशु और अन्य माल-असबाब बह जाता है; लेकिन साथ ही उससे यह लाभ भी होता है कि कहीं-कहीं भूमि पर उपजाऊ मिट्टी के परत जम जाते हैं, सूखे और बंजर स्थानों में तरावट पहुँच जाती है, एवं ऊसर और रेहवाली मिट्टी बह जाती है। नदियों द्वारा मैदान में पहाड़ों से लकड़ियाँ और बड़े-बड़े लट्ठे बहा लाए जाते हैं; नहरें काटकर अवर्षण-काल में भी कृषि की जाती है।

भारतवर्ष में पंजाब की पांचों नदी उस के अधिकांश भाग को हरा-भरा रखती हैं। उनके द्वारा इस प्रांत का माल सिंध तक जा सकता है। गंगा, यमुना, ब्रह्मपुत्र, और गोदावरी तथा इनकी शाखाओं से पूर्वी भारत सींचा जाता है, और उनसे देश के कई भाग ऐसे मिले हुए हैं कि खूब व्यापार हो सकता है। गङ्गा में एक हज़ार मील तक तथा ब्रह्मपुत्र और सिंध में ८०० मील तक बड़ी नाव या छोटे जहाज़ आ-जा सकते हैं। गंगा १५०० मील, और सिंधु १८०० मील लम्बी है। दक्षिण भारत में नदियां छोटी हैं, और माल ढोने या सिंचाई करने के लिए बहुत उपयोगी नहीं है।

भूमि के भेद—उपज की दृष्टि से, ब्रिटिश भारत (जिसमें अब वर्मा नहीं है) की भूमि के निम्न-लिखित भेद किए जाते हैं :—

१—जंगल	७ करोड़ एकड़
२—परती भूमि	५ ,, ,,
३—कृषि के योग्य, किंतु बंजर	६ ,, ,,
४—कृषि के अयोग्य	६ ,, ,,
५—जिसमें फसल बोई जाती है	२१ ,, ,,
योग	५१ करोड़ एकड़

जंगल—अब इसमें से प्रत्येक प्रकार की भूमि का विचार करें; पहले जंगल का विषय लें। इनका आर्थिक प्रभाव बहुत होता है—

(क) ये वर्षा के जल को जल्दी बहकर चले जाने से रोकते हैं, और उसे पृथ्वी में संचित करके धीरे-धीरे देते रहते हैं।

(ख) ये पत्तों द्वारा हवा को तरी देकर उसकी गरमी ('टेंप्रेचर') कम करते हैं।

(ग) इनसे पशुओं के चरने के लिए अच्छी चरागाहें होती हैं, तथा इमारतों और ईंधन के लिए लकड़ी मिलती है।

(घ) इनसे कई व्यवसाय-संबंधी पदार्थ मिलते हैं ; जैसे गोंद, रबड़, लाख, चमड़ा रँगने के लिए पेड़ों की छाल, तारपीन, मसाले तथा काग़ज़ बनाने की घास आदि।

(ङ) जंगलों से भूमि पर वर्षा भी अधिक होती है।

भारतवर्ष में पश्चिमी घाट, आसाम और हिमालय प्रदेश में घने-घने जंगल अधिक हैं, जिनकी लकड़ियाँ मकान बनाने के भी काम में आती हैं। पश्चिमी घाट के जंगल में, मध्य-प्रांत की बड़ी-बड़ी नदियों

के किनारे, और हिमालय की तलहटी में साल के पेड़ होते हैं। सागौन के वृक्ष मालाबार में अधिक होते हैं; इसकी लकड़ी कड़ी और ठोस होती है तथा दीमक न लगने के कारण बड़ी टिकाऊ रहती है। देवदार और चीड़ के पेड़ हिमालय में होते हैं। आबनूस के पेड़ मैसूर और मालाबार के जंगलों में, तथा चंदन के पेड़ मैसूर के जंगलों में होते हैं। नारियल के वृक्ष समुद्र के किनारे ही अधिक होते हैं। अनन्नास और केले गर्मतर जलवायु में पाए जाते हैं। हिमालय के मुख्य फल सेव, नास्पाती और अखरोट है। सिंध और गंगा के मैदान का, तथा दक्षिण का मुख्य फल आम है।

जंगल को आग से बचाने, छोटे-छोटे पेड़ों को काटने से रोकने इत्यादि के लिए सरकारी जंगल-विभाग सन् १८६४ ई० में स्थापित हुआ था। इस विभाग ने उपयोगी पेड़ों के लगाने का भी प्रबंध किया है। मदरास में कपूर के पेड़ लगाने में सफलता हुई है। कई प्रांतों में महागनी और युकलिप्टस के वृक्ष लगाने का प्रयत्न हो रहा है। लाख उपजाने की ओर भी अधिक ध्यान दिया जा रहा है। सरकार को इस विभाग से क्रमशः अधिकाधिक लाभ हो रहा है; लकड़ी तथा जंगल की अन्य पैदावार की बिक्री से उसे आमदनी होती है। इस विभाग के स्थापित होने से प्रजा को इतनी असुविधा भी हो गई है कि बहुत-से स्थानों में लोगों को पशु चराने के लिए यथेष्ट भूमि नहीं मिलती, तथा लकड़ी के अभाव में गोबर के उपले अधिक जलाए जाने के कारण खेतों में खाद की कमी हो जाती है।

अन्य भूमि—परती भूमि का उपयोग किस प्रकार किया जा सकता है, तथा बंजर भूमि की समस्या कैसे हल हो सकती है, इन बातों का विचार आगे, खेती के संबंध में लिखते हुए, किया जायगा। कृषि के अयोग्य भूमि वह होती है, जिसमें कोई चीज़ पैदा नहीं हो

सकती। इस भूमि पर या तो मकान आदि बने हुए हैं, या नदी-नाले या सड़कें हैं, अथवा उसका कृषि के अतिरिक्त अन्य कार्यों के लिए उपयोग हो रहा है। बोई जाने वाली भूमि के विषय में पीछे, 'खेती' शीर्षक परिच्छेद में विचार किया जायगा।

खनिज पदार्थ—हम पहले कह आए हैं कि अर्थ-शास्त्र की दृष्टि से भूमि में खानों का भी समावेश होता है। अतः अब हम यहां इनका विचार करते हैं। प्राचीन समय से यह देश खनिज पदार्थों के लिए प्रसिद्ध रहा है, इसे रत्न-गर्भा भूमि कहते आए हैं। सोने-चाँदी के आभूषण, ताँबे, पीतल, फूल आदि के बर्तन, लोहे के औज़ार और हथियार यहाँ चिरकाल से बर्ते जा रहे हैं। विविध खनिज पदार्थ यहाँ उपलब्ध हैं। यह भली भाँति सिद्ध हो गया है कि बाहर से आनेवाले बहुत से द्रव्य भी यहाँ ही मिल सकते हैं। सन् १९३३ ई० में कुल मिलाकर १४२४ खानें थीं, इनमें से ५०१ कोयले की ३७७ अभ्रक की, और शेष अन्य पदार्थों की थीं। विस्तार-भय से हम यहां कुछ मुख्य-मुख्य बातों का ही उल्लेख करते हैं।

लोहा—आज-कल यंत्रों और मशीनों का युग है, और ये चीज़ें अधिकतर लोहे की ही बनती है। इसके अतिरिक्त हमारे घरों के निर्माण में, तथा सामान बनाने में भी लोहे का विशेष स्थान है। इस प्रकार, जिस देश में लोहा नहीं होता, उसे अपनी एक मुख्य आवश्यकता के लिए परमुखापेक्षी रहना पड़ता है। सौभाग्य से भारतवर्ष में यह पदार्थ काफी मात्रा में मिलता है। बंगाल बिहार अपनी खानों के लिए प्रसिद्ध हैं, जो कोयले की खानों के निकट ही होने से विशेष उपयोगी हैं; इसके अतिरिक्त मध्य प्रान्त, मैसूर और मदरास में भी लोहा खासे परिमाण में मिलता है।

कोयला—आधुनिक औद्योगिक जगत में कोयले का बड़ा महत्त्व है; जहां कोयला निकलता है, वहां रेलें, यंत्र और कल-कारखाने आसानी से जारी हो सकते हैं। भारतवर्ष का ६० फ़ी-सदी कोयला बंगाल तथा बिहार से मिलता है; कुल कोयले का आधा भाग झरिया से, एक-तिहाई रानीगंज से, आता है। पंजाब, मध्य-प्रांत मध्य-भारत, आसाम, हैदराबाद और बिलोचिस्तान में छोटी खानें हैं। भिन्न-भिन्न स्थानों के कोयले के भाव में काफी अंतर होता है; इसका कारण कोयले का गुण उसकी गहराई, काम में आनेवाली मशीनें, मज़दूरी आदि के व्यय का अंतर होता है। भारतवर्ष में अन्य देशों की अपेक्षा कोयला सतह के पास ही मिलता है। परंतु जिस रीति से यहां खानों से निकाला जाता है, वह बहुत आपत्ति-जनक है, उससे इसका भंडार जल्दी समाप्त हो जायगा, अतः उसमें सुधार की आयश्यकता है।

अन्य खनिज पदार्थ—मैंगनीज़ की खानें मध्य-प्रदेश और मदरास में हैं। यह इसपात बनाने के काम आती है। यह विदेशों को भी भेजी जाती है। नमक की खान झेलम के किनारे से सिंध के पार कुछ दूर तक चली गई हैं। साँभर की झील में तथा समुद्री तटों पर खारी पानी से भी नमक बनाया जाता है। शोरा प्रायः उत्तरी बिहार में मिलता है। सोने की खानें कोलार (मैसूर) में हैं। अभ्रक की खानें अजमेर, मदरास और बिहार में हैं; संसार-भर के ख़र्च के लिए आधे से अधिक अभ्रक भारत से ही जाता है।

यद्यपि कुछ समय से यहां अधिकाधिक खनिज पदार्थ निकाले जा रहे हैं; एक उद्योग-धंधेवाले देश के लिए यह परिमाण कुछ भी नहीं है। इंगलैंड, जर्मनी, संयुक्त-राज्य अमेरिका आदि देश भारत की अपेक्षा आकार और जन-संख्या में कहीं छोटे हैं; परंतु उनकी तुलना में भारत की खनिज पदार्थों की निकासी बहुत हीन अवस्था में है।

खानों की रक्षा—भारत-भूमि खनिज और औद्योगिक पदार्थों के लिए बृहत् भंडार है। परंतु हमारे देशवासियों के अज्ञान, आलस्य तथा पराधीनता के कारण उससे यथेष्ट लाभ नहीं उठाया जाता। सोना आदि कई द्रव्य गुप्त पड़े हुए हैं। ताँबा, लोहा, कोयला आदि निकालने का अधिकांश काम अंगरेज़ों के हाथ में है। अ-कुशल भारतीय मज़दूर मामूली मज़दूरी पाते हैं। ये पदार्थ हमारे देश से बाहर बहुत चले जाते हैं। हमारी खानें ख़ाली हो रही हैं। इनमें क्रमागत ह्रास-नियम लगता है; अर्थात् एक सीमा से आगे जिस अनुपात से पूंजी और श्रम बढ़ाया जाता है, उस अनुपात से उत्पत्ति नहीं बढ़ती। यह ह्रास बहुत शोचनीय है, क्योंकि खानों से जब एक बार पदार्थ निकाल लिए जाते हैं, तो वे सदा के लिए ख़ाली हो जाती हैं, धातुएँ फिर पैदा नहीं की जा सकतीं। इसलिए खानों की रक्षा का सदैव विचार रहना चाहिए, और उनसे निकले हुए पदार्थों का स्वदेश के लिए अधिकतम उपयोग होना चाहिए।

प्राकृतिक शक्ति—जैसा कि पहले कहा गया है, भारतवर्ष प्राकृतिक शक्तियों का अतुल भंडार है। कोयले और इंधन के बारे में पहले लिखा जा चुका है, अतः इनसे मिलनेवाली शक्ति का अनुमान हो सकता है। यहाँ संसार-शिरोमणि हिमालय तथा अन्य बड़े-बड़े और ऊँचे-ऊँचे पहाड़ हैं, जिनमें अनेक जल-प्रपात हैं। बड़ी-बड़ी नदियों की भी यहाँ कमी नहीं। समुद्र तो इस देश को तीन ओर से घेरे हुए है। इस प्रकार यहाँ जल-शक्ति भी खूब विद्यमान है। हाँ, आधुनिक साधनों से उसे बिजली के रूप में परिणत करके वह कहाँ तक काम में आने योग्य बनाई गई है, तथा उसे कितना और बढ़ाया जा सकता है, यह दूसरी बात है। इसका विचार अन्यत्र किया जायगा।

भारतवर्ष में वायु-शक्ति भी पर्याप्त है; परंतु आज-कल उससे काम लेना बहुत लाभदायक नहीं होता। भारतवर्ष का अधिकतर भाग उष्ण कटिबंध में होने से यहां सूर्य के प्रकाश (धूप) से मिलने वाली शक्ति भी अनंत है। परंतु विज्ञान की उन्नति न होने से, उसे केंद्रित नहीं किया जाता, और संचालन शक्ति-के रूप में उसका प्रायः कुछ भी उपयोग नहीं हो रहा है।

निदान, भूमि संबंधी विविध बातों का विचार करके हम सहज ही इस निस्कर्ष पर पहुंचते हैं कि भारत-माता को वास्तव में स्वर्ण-भूमि, रत्न-गर्भा, या अनंत शक्ति-श्रोत कहना सार्थक है। इसकी संतान सुखी और संतुष्ट नहीं, तो इसका कारण स्वयं संतान की ही कोई न्यूनता या दोष है। जनता के संबंध में, अगले परिच्छेद में लिखा जायगा।

दूसरा परिच्छेद
भारतवर्ष की जन-संख्या

प्राक्कथन—पिछले परिच्छेद में भारत-भूमि का विचार किया गया है। परंतु भूमि, बिना मेहनत के केवल थोड़े-से, सो भी कच्चे पदार्थों को पैदा कर सकती है। जंगलों में स्वयं उत्पन्न पदार्थ मेहनत के बिना, मनुष्य के लिए विशेष उपयोगी नहीं होते, उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं कर सकते। भिन्न-भिन्न उपयोगी वस्तुओं का संग्रह करके रखने में या उन्हें ऐसे रूप में लाने में कि वे मनुष्य की इच्छाओं को पूर्ण कर सकें, परिश्रम आवश्यक है। अर्थ-शास्त्र में, श्रम के अंतर्गत मनुष्य

द्वारा किया हुआ मानसिक या शारीरिक वह सब प्रयत्न सम्मिलित है, जिसका उद्देश्य उस मनुष्य का मनोरंजन न होकर, धनोत्पत्ति हों, जो उत्पादक हो। अस्तु, श्रम पर विचार करने के लिए पहले इस परिच्छेद में भारतवर्ष की जन-संख्या संबंधी कुछ आवश्यक बातों पर संक्षेप में प्रकाश डालते हैं।

भारतीय जनता—बर्मा को छोड़ कर, कुल भारतवर्ष की जन-संख्या, सन् १९३१ ई० की मनुष्य गणना के अनुसार ३३ करोड़ ८२ लाख है। इनमें से १७ करोड़ ४३ लाख पुरुष, और १६ करोड़ ३९ लाख स्त्रियां हैं। कुल मिला कर पौने छब्बीस करोड़ मनुष्य ब्रिटिश भारत में हैं, और आठ करोड़ से कुछ अधिक देशी रियासतों में। ग्राम्य और नागरिक जनता के विचार से, तीस करोड़ से अधिक आदमी ग्रामों में रहने वाले हैं, और शेष केवल पौने चार करोड़ नगर निवासी हैं। कुल जन-संख्या की दृष्टि से भारतवर्ष का संसार में एक विशेष स्थान है; समस्त मानव जनता का लगभग छठा भाग भारतीय जनता है। यदि इतने आदमी भली भाँति शिक्षित, कुशल, स्वस्थ और स्वाधीन रहकर श्रम करें, तो देश की श्री-वृद्धि का क्या ठिकाना? परंतु भारत की आर्थिक दुर्दशा तो प्रसिद्ध ही है, इसका एक कारण यह भी है कि कुछ आदमी तो रोगी या आलसी होने से अपनी आजीविकार्थ उद्योग नहीं करते और बहुत-से आदमियों को यथोचित साधन या सुविधाएँ प्राप्त नहीं हैं। उदाहरणार्थ उनके पास यथेष्ट भूमि ही नहीं है।

जन-संख्या और भूमि—सन् १९३२-३३ ई० में ब्रिटिश भारत में कुल २१ करोड़ एकड़ भूमि जोती गई। इस क्षेत्रफल में प्रायः वह सब भूमि है, जो काम में लाई जा सकती है, थोड़ी सी ही ज़मीन और है, जो परिश्रम करने से व्यवहारोपयोगी बनाई जा सकती है। इस प्रकार ब्रिटिश भारतवर्ष के आदमियों के हिसाब से औसत लगाने पर

एक आदमी पीछे एक एकड़ ज़मीन भी नहीं आती। भारतवर्ष में प्रति १०,००० मनुष्यों में ६,९६० एक-मात्र खेती से जीवन निर्वाह करते हैं; यदि केवल इन्हीं लोगों की दृष्टि से भूमि का विचार किया जाय, तो भी प्रति व्यक्ति पीछे सवा एकड़ से अधिक भूमि नहीं पड़ती।

यदि मनुष्य-संख्या बढ़ती ही गई, तथा लोग दूसरी ओर न जाकर खेती पर ही भरोसा करते रहे, तो या तो जिस ज़मीन पर खेती हो रही है, उससे, अधिक पैदावार करने का प्रयत्न करना होगा, अथवा नई ज़मीन पर खेती करनी होगी। अधिक पैदावार करने में 'उत्पादकता का क्रम-ह्रास' नियम※ लगता है। और, नई जमीन में भी सब अच्छी ही नहीं निकलेगी, उसमें से बहुत-सी ख़राब भी होगी। इस प्रकार जन-संख्या की समस्या हमारे सामने उपस्थित होती है, विशेपतया जब कि इसकी निरंतर वृद्धि होती जा रही है। अस्तु, अब जन-संख्या की वृद्धि और खाद्य पदार्थों की उत्पत्ति के विषय में विचार करें।

जन-सख्या की वृद्धि, और खाद्यपदार्थ—किसी देश की जन-संख्या की वृद्धि दो बातों पर निर्भर होती है, (क) मृत्यु-संख्या की अपेक्षा-जन संख्या की अधिकता, (२) देश से बाहर जाकर बसने वालों की अपेक्षा, बिदेशियों की अधिकता। भारतवर्ष में कुछ विदेशियों

※इसका आशय यह है भूमि से उत्पादन करने में एक खास सीमा के आने पर फिर मूलधन और परिश्रम जिस अनुपात में बढ़ाया जाता है, उसी अनुपात में पैदावार नहीं बढ़ती, कम अनुपात में बढ़ती है। उत्पत्ति का यह अनुपात आगे चलकर क्रमशः कम होता जाता है। अधिक परिश्रम और मूलधन लगाने से जो अधिक फ़सल होती है, वह परिश्रम और मूलधन की अधिकता के अनुपात में नहीं होती; उससे कम होती है।

ने निवास कर रखा है, तो यहां के भी कुछ आदमी बाहर जाकर बसे हुए हैं और विदेशियों की संख्या यहां की जन-संख्या की तुलना में विशेष महत्व नहीं रखती, अर्थात् उसका यहां की जन-संख्या की वृद्धि में विशेष भाग नहीं है।

यहां जन-संख्या की वृद्धि का मुख्य कारण, मृत्यु-संख्या की अपेक्षा जन्म-संख्या की अधिकता ही है। इसके अंक समय-समय पर बदलते रहते हैं। प्रायः जितनी जन्म-संख्या अधिक होती है। उतनी ही मृत्यु-संख्या भी अधिक होती है। तथापि जनता की वृद्धि हो रही है। सन् १८७१ ई० में भारतवर्ष और वर्मा की जन-संख्या २०·६ करोड़ थी, १८८१ में २५·४ करोड़, १८९१ में २८·७ करोड़, १९०१ में २९·४ करोड़, १९११ में ३१·५ करोड़, १९२१ में ३२ करोड़, और १९३१ में ३५·३ करोड़ हुई।

इन वर्षों में खाद्य पदार्थों की मात्रा किस अनुपात से बढ़ी है, इस विषय में, हिसाब लगाने वालों में मत भेद है। सरकारी अधिकारियों का कथन है कि खाद्य पदार्थों की उत्पत्ति, जन-संख्या की वृद्धि के अनुपात से अधिक हुई है। कुछ लेखक इससे सहमत हैं। इनका यह भी अनुमान है कि सिंचाई और कृषि संबंधी उन्नति से, उत्पत्ति अभी और भी बढ़ सकती है। किंतु अन्य विद्वानों का मत है कि खाद्य पदार्थों की उत्पत्ति की वृद्धि उक्त अनुपात से कम हुई है। यही नहीं, इनका कथन है कि अब खेती-योग्य भूमि बढ़ाने की विशेष गुंजाइश नहीं है। नहरों आदि के निकालने से खाद्य पदार्थों का परिमाण कुछ अंश में और भी बढ़ाया जा सकेगा, पर वह अब अपनी चरम सीमा के निकट आ रहा है। एक सीमा के बाद यह परिमाण बढ़ाना प्रायः असम्भव होगा। जो लेखक यह मानते हैं कि विगत वर्षों में खाद्य पदार्थों की उत्पत्ति की वृद्धि जन-संख्या की वृद्धि के अनुपात से कुछ अधिक हुई है, वे भी यह स्वीकार

करते हैं कि सर्व-साधारण की स्थिति में विशेष सुधार नहीं हुआ। जितने आदमी पहले भूखे या अध-भूखे रहते थे, अब भी भूखे या अध-भूखे रहते हैं। इस प्रकार यदि दिखाने को हमारी आर्थिक अवस्था पहले की-सी हो, तो भी असली अवस्था में अवश्य ही अंतर आ गया है। अब मनुष्यों की आवश्यकताएँ बहुत बढ़ गई हैं, जीवन के आदर्श बदल गए हैं। पहले जितनी चीज़ों से निर्वाह हो जाता था, अब उतनी चीज़ों से काम नहीं चलता। ऐसी दशा में जन-संख्या की निरंतर वृद्धि होते रहना चिन्तनीय है; कारण, इसका परिणाम आर्थिक सिद्धान्तों के अनुसार अकाल या महामारी होगा।*

जन-संख्या और कुल धनोत्पत्ति—कुछ लेखकों का मत है कि जन संख्या का खाद्य पदार्थों की उपज की दृष्टि से विचार करना युक्ति-संगत नहीं है। हमें देखना चाहिए कि देश की कुल उत्पत्ति से उसका क्या अनुपात है, अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति के हिसाब से देश में जितनी औसत धनोत्पत्ति होती है, वह प्रति व्यक्ति की आवश्यकताओं की पूर्त्ति के लिए पर्याप्त है या नहीं। इस समय व्यापार का स्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय

---

*मालथस-नामक अर्थ-शास्त्री का यह सिद्धांत है कि यदि कोई बाधा उपस्थित न हो, तो देश की जन-संख्या ज्यामितिक वृद्धि अर्थात् १, २, ४, ८, १६, ३२ या १, ३, ९, २७, ८१, २४३ आदि के हिसाब से बढ़ती है, और खाद्य पदार्थ १, २, ३, ४, ५, ६ या १, १॥, २, २॥, ३, ३॥ आदि अर्थात् अंक-गणित की वृद्धि के हिसाब से बढ़ते हैं। यदि जनता की वृद्धि नियमित रूप से न रोकी जाय, तो दरिद्रता (जो अनियमित वृद्धि का एक अवश्यंभावी परिणाम है) या ईश्वरीय कोप द्वारा उसका ह्रास होता है। राज्यों में परस्पर युद्ध छिड़ जाता है, भाँति-भाँति के रोग फैलते हैं, और बालकों की मृत्यु-संख्या बढ़ जाती है।

होने से जन संख्या की समस्या का स्वरूप बदल गया है। यदि हमारे देश में पर्याप्त खाद्य पदार्थ नहीं होते और हमारे पास यथेष्ट संपत्ति है तो खाद्य पदार्थ विदेशों से मोल मंगाए जा सकते हैं। ये लेखक अपने इस तर्क से यह सिद्ध करते हैं कि चाहे खाद्य पदार्थों की दृष्टि से भारतवर्ष की वर्तमान जन-संख्या ही अधिक हो परंतु, देश के औद्योगिक-करण से यह बात न रहेगी, उससे लोगों की सम्पत्ति अधिक होगी। फिर उनके लिए खाद्य पदार्थों की समस्या उपस्थित न होगी, यहां आवश्यक सामग्री न मिलने पर वह कुछ मंहगे भाव से ही सही, विदेशों से सहज ही मंगाई जा सकेगी।

देश में उद्योग-धंधों की वृद्धि को हम भी आवश्यक और उपयोगी मानते हैं, (इसके संबंध में विशेष विचार अन्यत्र किया जायगा) तथा यह भी ठीक है कि कुछ अंश में उससे जन-संख्या की समस्या हल होने में सहायता मिलेगी। परंतु स्मरण रहे कि वह भी इस समस्या का स्थाई हल नहीं है। अन्य देश भी औद्योगिककरण में लग रहे हैं, तथा लगेंगे। यदि संसार के प्रत्येक देश के आदमी अपने जीवन-निर्वाह की खाद्य सामग्री के लिए अन्य देशों के आश्रित रहने लगें तो क्या परिणाम होगा, यह सहज ही अनुमान किया जा सकता है। फिर आजकल तो हर समय युद्ध के बादल छाए रहते हैं, और किसी भी देश के, युद्ध में संलग्न होने की आशा बनी रहती है। ऐसी स्थिति में अपने खाद्य पदार्थों के लिए परावलम्बी बना रहना जोखम से खाली नहीं। अस्तु, भारतवर्ष को अपनी जन-संख्या के संबंध में असावधान रहना उचित नहीं, चाहे इस समस्या का आज, उतना उग्र रूप न भी हो, जितना कुछ सज्जन बतलाते हैं।

जन-संख्या पर सामाजिक और धार्मिक विचारों का प्रभाव—भारतवर्ष में जन-संख्या की वृद्धि का कारण कुछ अंश में यहां

की जल-वायु की उष्णता; अशिक्षा और निर्धनता है। देश में शिक्षा-प्रचार तथा आर्थिक उन्नति होने पर जन-संख्या की वृद्धि में कुछ रुकावट होने की आशा है। अस्तु, यहां विशेष विचार सामाजिक रीतियों और धार्मिक विश्वासों का करते हैं, जिनका जन-संख्या की वृद्धि पर खासा प्रभाव पड़ रहा है।

यद्यपि भारतवर्ष में विभिन्न जातियों के, और एक ही जाति के भिन्न-भिन्न आदमियों के विचारों में थोड़ा बहुत अंतर है, तथा नगरों और गांवों के, एवं शिक्षित और अशिक्षित व्यक्तियों के विचार भी समान होना स्वाभाविक नहीं है, यहां हिन्दुओं में, जो अन्य सब जातियों के आदमियों से भी अधिक संख्या में हैं, विशेषतया कन्या का विवाह अनिवार्य माना जाता है। पुत्र-प्राप्ति धार्मिक कृत्य समझा जाता है। सर्व-साधारण की यह धारणा है कि 'अपुत्रस्य गतिर्नास्ति'। सम्भवतः प्रारंभ में इस प्रकार के विचारों के प्रचलित होने का कारण वह स्थिति होगी, जब नई-नई भूमि में बस्ती होने लगी होगी, देश में जन-संख्या बहुत कम होगी, और उसे बढ़ाने की आवश्यकता, आर्थिक आदि कारणों से बहुत अधिक प्रतीत हुई होगी। अब वह बात नहीं रही, परंतु समाज में किन्हीं विचारों के एक बार घर कर लेने के बाद उनका सहसा उन्मूलन नहीं होता। शिक्षा आदि के यथेष्ट प्रचार न होने के कारण अधिकांश भारतवासी स्वतंत्र चिन्तन करके, प्राचीन प्रथाओं, रीतियों और विचारों में, देश काल के अनुसार सम्यक् परिवर्तन नहीं करते, और जन-संख्या-वृद्धि-संबंधी उपर्युक्त विचारों को अपनाए हुए हैं।

इसके अतिरिक्त प्राचीन काल में, इस संबंध में जो मर्यादाएँ थीं, वे भी अब नहीं रहीं। पहले ऐसी व्यवस्था थी कि पुरुष पचीस वर्ष तक, और कन्याएँ सोलह वर्ष तक ब्रह्मचर्य आश्रम में रहें, और विद्याध्ययन करें, शारीरिक, मानसिक और नैतिक योग्यता प्राप्त करें,

अपनी आजीविका प्राप्त करने और घर गृहस्थी चलाने योग्य बन जायँ, तब जाकर गृहस्थाश्रम में प्रवेश करें। फिर, गृहस्थाश्रम भी चार आश्रमों में से एक था, अर्थात् इसकी अवधि आयु के चतुर्थ भाग—पच्चीस वर्ष की ही थी। इसके बाद सन्तानोत्पत्ति बन्द हो जाती थी। गृहस्थाश्रम समाप्त करने पर जीवन आत्मोन्नत्ति तथा परोपकार में लगाया जाता था। विगत शताब्दियों में उपर्युक्त बातों का विचार न रहा। विविध कारणों से, जिनके वर्णन करने की यहाँ आवश्यकता नहीं, इस देश में बाल-विवाह प्रचलित हो गया, छोटे-छोटे बच्चे-बच्चियों के विवाह होने लगे। वान-प्रस्थ और सन्यास आश्रम केवल धर्म-ग्रन्थों में रह गए, व्यवहार में लोगों ने इसकी प्रायः पूर्णतया विस्मृति कर दी। विवाह होने के बाद मनुष्य आजीवन गृहस्थाश्रम में रहने लगे। पुरुष की एक स्त्री मर जाने पर दूसरा, तीसरा, और कुछ दशाओं में इसके बाद भी विवाह होने लगा। हाँ, उच्च कही जाने वाली जातियों में विधवा स्त्रियों के पुनर्विवाह की प्रथा नहीं रही, वे बल-पूर्वक ब्रह्मचर्य का जीवन व्यतीत करने के लिए बाध्य की जाने लगीं।

अस्तु, परिणाम यह हुआ कि एक ओर तो अनेक छोटी उम्र के लड़के-लड़कियों के सन्तान होने लगी; दूसरी ओर, कितने ही बूढ़े आदमियों के बे-मेल विवाहों से जन-संख्या की वृद्धि हुई। इन नव-जात शिशुओं का दुर्बल, रोगी, और अल्पायु होना स्वाभाविक ही था। अब कुछ समय से इसमें क्रमशः सुधार हो रहा हैं। ब्रिटिश भारत में तथा कुछ देशी राज्यों में बाल-विवाह निषेधक क़ानून बन गए हैं, समाज-सुधारक भी इस दिशा में यथा-शक्ति आन्दोलन कर रहे हैं। हाँ, और भी बहुत कुछ कार्य होने की गुंजाइश है। शिक्षा के प्रचार, आर्थिक संघर्ष, कुछ लोगों के रहन-सहन का दर्जा ऊँचा होने, स्वच्छन्द जीवन बिताने की इच्छा आदि से भी जन-संख्या की वृद्धि पर कुछ रुकावट

होने लगी है। तथापि वर्तमान अवस्था में यहाँ जनाधिक्य की समस्या थोड़ी बहुत विद्यमान है। विविध कारणों से यहाँ के निवासियों को विदेशों में जाकर रहने की भी सुविधाएँ नहीं हैं। फलतः यहाँ जन-संख्या की वृद्धि में मालथस का सिद्धांत* कुछ-कुछ लागू हो रहा है, उसे रोकने वाले नैसर्गिक उपाय—दुर्भिक्ष महामारी आदि का भयंकर कोप बना रहता है।※

जन-संख्या और पराधीनता—वर्तमान अवस्था में भारत-वर्ष पराधीन है, अतः यह विचार कर लेना आवश्यक है कि पराधीनता का जन-संख्या पर क्या प्रभाव पड़ता है। पहले कहा गया है कि यहाँ जन-संख्या की, वृद्धि में यहां की शिक्षा की कमी तथा निर्धनता भी सहायक है। देश के स्वाधीन हो जाने पर इन बातों का दूर होना स्वाभाविक है, फल-स्वरूप उस दशा में यहां जन-संख्या की वृद्धि में भी कुछ रुकावट होगी।

स्वराज्य-प्राप्ति के आन्दोलन से भी जन-संख्या की वृद्धि कुछ अंश में रुकती है, विशेपतया जब कि आन्दोलन निरंतर, तथा सुदीर्घ काल तक चलता है। उस समय पुरुष ही नहीं, महिलाएँ भी राष्ट्रीय कार्य-क्रम को पूरा करने में जुट जाती हैं और लोकमत संतान पैदा करने के विरुद्ध हो जाता है। पिछले राष्ट्रीय आन्दोलन में स्थान-स्थान पर यह बात सुनने और पढ़ने में आई कि दासता-काल में संतान-वृद्धि करना अनुचित है। कितने ही पुरुषों और स्त्रियों ने, सरकार के दमन से, जेल में जाने के कारण, और कुछ ने स्वयं अपनी इच्छा से अपना विवाह करना स्थगित कर दिया। निदान, स्वतंत्रता-प्राप्ति के आन्दोलन से, एवं स्वराज्य प्राप्त होने पर भारतीयों की जन-संख्या की वृद्धि रुकने की संभावना है।

---

*देखो फुट-नोट पृष्ठ २६। ※'धन की उत्पत्ति' से।

प्रवास—जन-संख्या की वृद्धि को रोकने का एक उपाय यह है कि आदमी काफ़ी संख्या में, विदेशों में जाकर बसते रहें। आज-कल आमद्रोरफ़्त के साधनों की वृद्धि तथा सुलभता के कारण जनता का आवास-प्रवास सुगम हो गया है, किन्तु सर्व-साधारण की, अपना निवास-स्थान छोड़ने की प्रवृत्ति बहुत कम है। इसका एक कारण तो यही है कि अधिकांश आदमी खेती-बाड़ी से संबंधित हैं, जिसे सहसा छोड़ा नहीं जा सकता। फिर, विविध रोगों में ग्रस्त रहने के कारण भी उनमें बाहर जाने का उत्साह या स्फुर्ति नहीं होती। इसके अतिरिक्त अधिकांश आदमियों के ऋण-ग्रस्त होने से उनका साहूकार भी उनके स्थानान्तर गमन में बाधक होता है। परंतु आर्थिक आवश्यकताएं लोगों से उनके घर का मोह छुटा रही हैं, तथा उन्हें अपने मार्ग की बाधाओं को दूर करने के लिए उत्तेजित कर रही हैं। कुछ आदमी नौकरी आदि की तलाश में बाहर जाते रहते हैं, यद्यपि इनमें से अधिकतर की पहुंच पास के नगर या कस्बे तक होती है, कुछ आदमी दूर-दूर चले जाते हैं, यहाँ तक कि अपने प्रांत को छोड़ कर दूसरे प्रांत में जहां आजीविका-प्राप्ति की अधिक आशा होती है, जा बसते हैं। उदाहरणवत् मारवाड़ी इस समय बंगाल, आसाम, महाराष्ट्र आदि अनेक भागों में फैले हुए हैं, और वहाँ के व्यापार में खासा भाग ले रहे हैं, यहाँ तक कि कुछ दशाओं में ये इन प्रांतों के मूल निवासियों की ईर्षा के पात्र हो गए हैं। प्रायः अशिक्षित होते हुए भी इन्होंने दूर-दूर जाकर वहाँ की भाषा सीख कर अपना कारोबार जमाने और मितव्ययिता-पूर्वक काम चला कर खासी संपत्ति संचित करने में अद्भुत साहस और कौशल का परिचय दिया है। इसी प्रकार गुजराती, बंगाली, पंजाबी, आदि भी प्रवास में खासे उद्योगी रहे हैं।

यह तो हुई, अन्तर्प्रान्तीय प्रवास की बात। विदेश-गमन की कठिनाइयों का अपेक्षा-कृत अधिक होना स्पष्ट ही है। नई भाषा, नया रहन-

सहन आदि तो हैं ही, यहां हिन्दुओं को तो समुद्र-यात्रा में धार्मिक और सामाजिक बाधाएँ भी हैं, यद्यपि ये अब क्रमशः कम हो रही हैं। अब एक नई बाधा और बढ़ रही है। अपनी बढ़ती हुई जन-संख्या की आवश्यकताओं की पूर्ति के चिंता-युक्त विचारों के कारण प्रत्येक भू-भाग के निवासी यथा-सम्भव बाहर वालों को अपने यहां आकर बसने से रोकते हैं। यद्यपि नए उपनिवेश बसाने के समय आरम्भ में अन्य देशों के आदमियों को आमंत्रित करने के लिए विविध सुविधाएँ तथा प्रलोभन दिए जाते हैं, कुछ काल पश्चात् यह स्थिति नहीं रहती। इस प्रकार जो भारतीय यहाँ की आर्थिक कठिनाइयों से विवश होकर, अथवा साहस करके बाहर गए भी, उन्हें प्रायः अच्छा अनुभव नहीं हुआ; उन्हें अनेक प्रकार की कठिनाइयों का सामना करना पड़ा, और अब भी करना पड़ रहा है। इसका एक मुख्य कारण यह है कि ये पराधीन हैं, यहां की सरकार विदेशों में इनके स्वार्थों की समुचित रक्षा नहीं करती। उधर उपनिवेशों में प्राय: वर्ण-विद्वेष या सांस्कृतिक भेद आदि की बातें हैं, पराधीन देश वालों की तो वहां अब कुछ गुजर ही नहीं, वे केवल कुली-गीरी या निम्न श्रेणी का श्रम करके भी केवल उस समय तक वहां रह सकते हैं, जब तक वहां के निवासी इसमें अपना स्वार्थ सिद्ध होता देखें। अस्तु, भारतवासियों के लिए जन-संख्या की वृद्धि को रोकने के वास्ते प्रवास का मार्ग प्रायः अवरुद्ध ही है। स्वराज्य प्राप्त होने पर यहां के आदमी विशेषत: उन देशों में जाकर बस सकेंगे, जहां के आदमी यहां आकर बसें, अथवा अन्य प्रकार से यहां से लाभ उठाने के इच्छुक हों।

अन्य प्रतिबन्धक उपाय—इस विषय में तो प्रायः सभी विचारशील एक मत हैं कि यहाँ जन-संख्या की वृद्धि में कमी होनी चाहिए, परंतु उसके लिए काम में लाए जाने उपायों के विषय में दो मत हैं। एक पक्ष का कहना है कि संयम और ब्रह्मचर्य का सिद्धांत

बहुत अच्छा अवश्य है, किन्तु यह केवल उच्च विचारवालों के वास्ते है, सर्व-साधारण के लिए यह व्यवहारिक नहीं है, उन्हें कृत्रिम उपायों से संतान-निग्रह करना चाहिए। ये लोग जनता में इस प्रकार के विचारों का, अपने भाषणों तथा लेखों आदि से प्रचार कर रहे हैं। कुछ स्थानों में संतान-निग्रह की शिक्षा देने की भी व्यवस्था हो चली है। यह मत यहाँ थोड़े समय से ही प्रचलित हुआ है, और, इस मत के पक्षवालों की संख्या धीरे-धीरे बढ़ती जा रही है; विशेषतया नव-शिक्षितों की प्रवृत्ति इस ओर बढ़ती हुई दिखाई दे रही है। तथापि अधिकांश जन-समाज इन बातों को भयंकर आशंका और घृणा की दृष्टि से देखता है। वह भारतवर्ष की प्राचीन संस्कृति, नैतिकता और धार्मिकता के नाम पर उसका विरोध करता है तथा यह भी प्रतिपादन करता है कि उन देशों में जहाँ ये उपाय विशेष रूप से काम में लाए गए हैं, समाज को बहुत क्षति उठानी पड़ी है, यहां तक कि वहां कितने ही गण्य-मान्य पुरुषों ने इसका विरोध करना आरंभ कर दिया है।

जन-संख्या की अनुचित वृद्धि को रोकने के लिए निम्नलिखित उपायों का अवलम्बन किया जाना चाहिए।❀

(१) जनता में यह प्रचार किया जाय कि रहन-सहन का दर्जा ऊँचा करें। आदमी अच्छे मकान और उत्तम भोजन-वस्त्र का उपयोग करें, और अपनी संतान के लिए भी इन चीजों का उत्तम प्रबंध करें। रहन-सहन का दर्जा ऊँचा रखने वालों में संतानोत्पत्ति की इच्छा अपेक्षाकृत कम होती है। इसके विपरीत, जिन लोगों की आवश्यकताएँ कम होती हैं या थोड़े से श्रम से पूरी हो जाती है, उनमें यद्यपि कुछ व्यक्ति बहुत संयमी भी होते हैं, साधारणतया संतानोत्पत्ति अधिक ही होती है।

❀ 'धन की उत्पत्ति' के आधार पर।

(२) बालक बालिकाओं की उच्च शिक्षा का प्रबन्ध किया जाय, जिससे बड़े होने पर वे अपने उत्तरदायित्व को पहिचानें, दूरदर्शी बनें, और सन्तानोत्पत्ति की इच्छा का उदय होने पर आगे-पीछे की परिस्थिति का सम्यग् विचार करके उसका यथा-सम्भव दमन करें; और कई-कई अयोग्य सन्तान की अपेक्षा एक-एक दो दो सुयोग्य सन्तान पैदा करने का ही विचार रखें।

(३) बालक बालिकाओं को सदाचार और संयम की शिक्षा दी जाय, तथा विवाह की उम्र बढ़ाई जाय, और एक निर्धारित आयु के बाद किए जाने वाले विवाहों का (कुछ विशेष अपवादों को छोड़ कर) निषेध किया जाय। इस संबंध में हिन्दुओं की आश्रम व्यवस्था बहुत अनुकरणीय है, जिसका उल्लेख पहले किया जा चुका है।

(४) निर्बल, दरिद्र, वंशानुगत रोगी, पागल, या ऐसे शारीरिक या मानसिक विकार वाले व्यक्तियों के विवाह का निषेध होना चाहिए, जिनकी संतान सुदृढ़ और सुयोग्य होने की सम्भावना न हो।

(५) विदेशों के उन्हीं आदमियों को, तथा उसी दशा में आकर बसने की अनुमति दी जानी चाहिए, जब वे देश की धन-वृद्धि में सहायक हों अथवा जब वे देश में उच्च नैतिक विचारों का प्रचार करने वाले हों।

(६) स्वराज्य प्राप्त किया जाय, जिससे देश की विशेषतया आर्थिक स्थिति का यथेष्ट सुधार हो।

इन उपायों का अवलंबन किए जाने से भारतवर्ष की जन-संख्या की वृद्धि की समस्या बहुत-कुछ हल होने की आशा की जा सकती है।

क्या भारतवर्ष में श्रमजीवियों की कमी है?—हमने ऊपर कहा है कि भारतवर्ष में जन-संख्या की वृद्धि को यथा-सम्भव मर्यादित करने की आवश्यकता है। परंतु बहुधा पूंजीपतियों को श्रम

जीवियों की कमी की शिकायत होती है। ऐसी दशा में यह विचारणीय है कि वास्तविक बात क्या है। क्या यहां श्रम जीवियों की सचमुच कमी है ?

यह सर्व-विदित है कि भारतवर्ष में प्लेग, इनफ्लुएंज़ा, मलेरिया, चेचक और हैज़ा आदि बीमारियाँ बहुत घातक कार्य करती हैं, प्रति वर्ष लाखों आदमी इनकी भेंट हो जाते हैं। इनमें बहुत-से श्रमजीवी होते हैं। परंतु इस बात से ही कि यहाँ अब मज़दूर पहली तनख़्वाहों पर नहीं मिलते, यह नहीं समझा जाना चाहिए कि उनकी कमी है। इस समय विविध ब्रिटिश उपनिवेशों में बीस लाख से अधिक भारतीय श्रमजीवी काम कर रहे हैं, और प्रति वर्ष हज़ारों कुली, बहुधा झूठे प्रलोभनों में फँसकर, ठेके पर या स्वतंत्र रूप से वहाँ जाते हैं। यदि यहाँ उन्हें वर्तमान मँहगी के अनुसार मज़दूरी मिले, तो वे यहां ही न काम करें, घर का मोह छोड़ कर विदेशों में क्यों भटकते फिरें ! हमें यह भी नहीं भूलना चाहिए कि देश में बेकारी की कितनी विकट समस्या उपस्थित है। यद्यपि यहां सरकारी तौर से प्रमाणिक अंक प्रस्तुत नहीं है, समय-समय पर होने वाली, बेकारों की आत्म-हत्या, तथा एक साधारण वेतन वाली नौकरी के लिए सैकड़ों उम्मेदवारों का प्रतियोगिता करना, अनेक उच्च घरानों के व्यक्तियों का निम्न प्रकार के समझे जाने वाले कार्य को करने के लिए तैयार हो जाना, आदि ऐसी घटनाएँ हैं कि बेकारी का विकराल स्वरूप छिपाए नहीं छिप सकता।

हम यह भी स्मरण रखें कि यहां लगभग पांच करोड़ आदमी अछूत माने जाते हैं। यदि इनके प्रति मनुष्यत्व के विचारों से भ्रातृ-भाव रक्खा जाय, तो इनमें से बहुत-से आदमी अच्छे-अच्छे कामों में सहायक हो सकते हैं। आज उनकी दशा अच्छी नहीं, वे अशिक्षित और गंदे हैं, परंतु उद्योग करने पर इनसे धनोत्पत्ति का

अधिक काम लिया जा सकता है; सुधार आन्दोलन के कारण कुछ अंश में लिया जाने लगा है। जरायम-पेशा जातियों के आदमियों से भी वर्तमान अवस्था में बहुत कम काम लिया जा रहा है, इनका उद्धार हो जाने पर ये भी श्रमियों की संख्या बढ़ने में काफी सहायक हो सकते हैं। कई स्थानों पर किए गए प्रयोगों के अनुभव से सिद्ध हो गया है कि चोर और डाकू यथेष्ट परिस्थिति मिलने पर भले आदमी और उपयोगी नागरिक बन सकते हैं।

पुनः हमारे फ़क़ीरों (बनावटी साधुओं) से भी देश के धनोत्पादन-कार्य में कुछ योग नहीं मिल रहा है। बहुत-से आदमी केवल मुफ्त का खाने और मेहनत से बचने के लिए गेरुआ कपड़े पहन लेते हैं, अथवा यों ही फ़क़ीरी धारण कर लेते हैं। ये लोग साधारण गृहस्थों के लिए भार-रूप और देश की आर्थिक उन्नति में बाधक हैं। हर्ष की बात है कि अब सभा-समाजों में इस प्रश्न पर विचार हो रहा है कि इनका कैसे उत्थान हो और देश की आर्थिक उन्नति में इनसे कैसे सहायता मिले। आशा है, क्रमशः इस दिशा में भी सुधार होगा।

अस्तु, वर्तमान अवस्था में अछूत, जरायम-पेशा, और फ़क़ीर काफ़ी संख्या में हैं, विदेशों में भी लाखों भारतीय श्रमी काम कर रहे हैं। फिर भी यहां इतनी बेकारी है। इससे यह भली भांति सिद्ध है कि यहां श्रमियों की संख्या कम नहीं है; हां कल-कारखाने वाले जितनी कम मज़दूरी पर उनसे काम लेना चाहते हैं, उतनी पर काफ़ी श्रमी न मिलें तो बात दूसरी है। हां, यह कहा जा सकता है कि जैसे कुशल श्रमी चाहिए, वैसे कम हैं। इसका उपाय यह है कि उनकी योग्यता बढ़ाने के लिए यथोचित शिक्षा आदि की व्यवस्था की जाय, जिसके संबंध में अगले परिच्छेद में लिखा जायगा।

तीसरा परिच्छेद

भारतीय श्रम

पिछले परिच्छेद में भारतवर्ष की जन-संख्या का विचार किया गया है। जन-संख्या की वृद्धि या ह्रास का धनोत्पत्ति पर उतना प्रभाव नहीं पड़ता, जितना मनुष्यों के श्रम के उत्पादक या अनुत्पादक होने का, या उस श्रम की कुशलता की अधिकता या न्यूनता का। इस परिच्छेद में इन बातों का विचार किया जायगा। पहले श्रम की उत्पादकता का विषय लेते हैं।

उत्पादक श्रम, व्यक्तिगत और सामाजिक—जिस श्रम से कोई ऐसी वस्तु बनाई जाती है, जो धन की उत्पत्ति या वृद्धि में सहायक हो, अथवा जो श्रम दूसरों की धनोत्पादक शक्ति बढ़ाए, वह प्रत्यक्ष हो, या परोक्ष, उसे उत्पादक श्रम कहा जाता है। मनुष्य को ऐसा ही श्रम करना चाहिए, जो उत्पादक हो। परंतु इसमें भी उसकी दृष्टि व्यक्तिगत न रह कर सामाजिक होनी चाहिए। इसका आशय समझने के लिए हमें जानना चाहिए कि कुछ श्रम ऐसे हैं, जो व्यक्तिगत दृष्टि से उत्पादक होते हुए भी सामाजिक दृष्टि से अनुत्पादक होते हैं; इसी प्रकार कुछ श्रम सामाजिक दृष्टि से उत्पादक होते हैं, परंतु वे व्यक्ति की दृष्टि से अनुत्पादक हो सकते हैं। एक आदमी चोरी करके धन लाता है, उसका श्रम उस व्यक्ति की दृष्टि से धनोत्पादक है, परंतु समाज को इससे कोई लाभ नहीं, वरन् बहुत हानि है। आतशबाज़ी, नशे और विलासिताओं की वस्तुओं के उत्पादन में लगा हुआ श्रम भी

व्यक्ति की दृष्टि से उत्पादक गिना जाता है। इससे समाज का हित नहीं होता, उसकी दृष्टि से यह अनुत्पादक है। ऐसे कुछ अन्य श्रम जो व्यक्ति की दृष्टि से उत्पादक, और समाज की दृष्टि से अनुत्पादक हैं, उन वकील और जमींदारों आदि के हैं, जो देश में मुकद्दमेबाजी बढ़ाने या किसानों की दशा बिगाड़ने में सहायक होते हैं। ऐसे श्रम के करनेवाले अपने व्यक्तिगत स्वार्थ का ध्यान रख कर काम करते हैं। परंतु संसार में ऐसे परोपकारी, महात्माओं, संतों और स्वयं-सेवकों का भी अभाव नहीं है—हाँ, उनकी संख्या अपेक्षाकृत बहुत कम रहती है—जो अपने व्यक्तिगत स्वार्थ की प्रायः अवहेलना करके भी अपना जीवन अपनी जाति, देश, या मानव समाज के हितार्थ अर्पण करते हैं। जब कोई आदमी बहुत कष्ट उठा कर समाज की सेवा करता है, उपदेशक, लेखक, कथावाचक, या चिकित्सक आदि का कार्य करता है, परंतु अपने श्रम में धनोत्पत्ति का उद्देश्य नहीं रखता, उस श्रम के उपलक्ष में कोई धन न लेकर सब कार्य अवैतनिक रूप से करता है, तो यह श्रम समाज की दृष्टि से उत्पादक, और व्यक्ति की दृष्टि से अनुत्पादक कहा जाता है। भारतवासियों को स्वदेशोन्नति के लिए ऐसा श्रम भी काफ़ी परिमाण में करना चाहिए।

सामाजिक दृष्टि से अनुत्पादक या हानिकर श्रम दो प्रकार के होते हैं। इनमें से कुछ तो राज्य की ओर से दंडनीय माने जाते हैं, और कुछ के लिए दंड नहीं दिया जाता। उदाहरणार्थ, भारतवर्ष में चोरी लूट-मार आदि करने वालों को दंड मिलता है, परंतु आतशबाजी की चीजें, या अनेक प्रकार के मादक पदार्थ (जो औषधियों के लिए काम में नहीं लाए जाते) बनाने वालों के, और मुकद्दमा-बाज़ी बढ़ाने वाले वकीलों के हानिकर श्रम को दंडनीय नहीं माना जाता। आजकल शहरों में 'कार्निवल' होते हैं, उनमें प्रतियोगिता के नाम पर नए-नए ढंग के जुए से

दर्शकों का धन अपहरण किया जाता है, तथा तरह-तरह की 'लाटरियां' निकाल कर उनमें लोगों को फँसाया जाता है। इन कामों के करने वालों के श्रम भी कानून से वर्जित नहीं है। किंतु हमें चाहिए कि कानून की न्यूनता या त्रुटि से अनुचित स्वार्थ-सिद्ध न करें; चाहे राज्य से दंड मिलने की व्यवस्था हो, या न हो, हम कोई कार्य ऐसा न करें, जो सामाजिक दृष्टि से हानिकर हो।

भारतवर्ष में अनुत्पादक—यों तो ऐसे व्यक्ति थोड़े-बहुत प्रायः प्रत्येक देश में होते हैं, जो उत्पादक श्रम नहीं करते, किंतु भारतवर्ष में तो उनकी खेदजनक अधिकता है। छोटे बालकों को उत्पाद-न कार्य न करने के लिए दोष नहीं दिया जा सकता, कारण कि वे अभी उस कार्य के लिए योग्यता-प्राप्त नहीं हैं। यदि वे ऐसी शिक्षा आदि प्राप्त कर रहे हैं जिससे वे भविष्य में अच्छे उत्पादक बन सकेंगे, तो समझना चाहिए कि वे अपना कर्तव्य पालन कर रहे हैं। इसी प्रकार लंगड़े लूले, या अपाहिज, तथा बेकार भी अनुत्पादक होने के कारण दोषी नहीं ठहराए जा सकते; कारण कि वे ऐसा करने के लिए बाध्य हैं। परंतु जो आदमी हृष्ट-पुष्ट और काम करने योग्य होते हुए भी भिक्षा आदि से अपना निर्वाह करते हैं, वे (परोपकारी संत महात्माओं को छोड़ कर) दूसरों पर भार हैं। इनके अतिरिक्त, विशेषतः हिन्दू घरों में अनेक आदमी और औरतें ऐसी है जो उत्पादक कार्य नहीं करते। अनेक रईस, धनवान, या सेठ साहूकार तथा उनके लड़के भी अपने हाथ से कोई उत्पादक कार्य करना अपनी शान के खिलाफ़ समझते हैं। कितने ही पुजारी और महंत आदि भी ऐसे हैं जो समाज के हितार्थ बहुत थोड़ी देर कुछ सेवा पूजा आदि का कार्य करते हैं, या उतना भी नहीं करते, और मज़े से विलासिता-पूर्वक जीवन व्यतीत करते हैं।

इन सब बातों का निवारण किया जाना आवश्यक है। इसका एक

उत्तम उपाय यह है कि मुफ्तखोरी, या परावलंबन के विरुद्ध लोक-मत संगठित किया जाय। जो आदमी बिना श्रम किए खाता-पीता है, उसे समाज में प्रतिष्ठा न मिलनी चाहिए, चाहे वह स्वयं अपने ही पूर्वजों की कमाई खाता हो, या सरकार की किसी विशेष कृपा के फल-स्वरूप बड़ा आदमी कहा जाने लगा हो।

जाति-भेद—'श्रम' में शारीरिक बल के अतिरिक्त मनुष्यों के ज्ञान, कौशल, शिक्षा, स्वास्थ, व्यवहार, धर्म, रीति-रस्म, रहन-सहन आदि-संबंधी समस्त योग्यता समझ ली जाती है, जो धनोत्पादन में सहायक हो सके। इस लिए भारतीय श्रम के संबंध में विचार करने में हमें यहां के निवासियों की उपर्युक्त बातों का भी विचार करना होगा। पहले जाति-भेद को लेते हैं। प्राचीन काल में वेद-शास्त्रों के अनुसार चिर समय तक यहां गुण-कर्मानुसार चार जातियां रहीं, जो अपने अपने निर्धारित कर्तव्य का नियम-पूर्वक पालन करके देश को सुखी और समृद्धिशाली रखती थीं। पीछे समय के फेर से वे पृथक्-पृथक् सहस्रों छोटी-छोटी जातियों में विभक्त हो गईं। बहुत से लोगों का मेल-जोल रहन-सहन, खान-पान, विवाह-संबंध आदि प्रायः अपने अपने क्षुद्र क्षेत्र में ही होता है। इस प्रकार, जन-साधारण के विचार तथा कार्य का केन्द्र बहुत परिमित हो गया। विगत दशाब्दियों में इस स्थिति में क्रमशः परिवर्तन हुआ है। वर्तमान शिक्षा सभ्यता, धार्मिक जागृति, आजीविका-प्राप्ति की कठिनाइयों और राष्ट्रीय आंदोलन ने इस कार्य में सहायता पहुँचाई है।

आर्थिक दृष्टि से जाति-भेद के प्रधान लाभ ये मालूम होते हैं:—(अ) इससे वंशानुगत कार्य-कुशलता की प्राप्ति होती है, बाप-दादे के किए हुए काम की शिक्षा और उसके रहस्य जल्दी जान लिए जाते हैं। (आ) हर एक जाति वालों का एक संघ होता है, जिसके सदस्य परस्पर एक दूसरे की सहयता कर सकते हैं, तथा कार्य की मज़दूरी नियमित करने में सहायक होते हैं। (इ) इससे कुछ अंश तक स्थूल श्रम-विभाग होता

है, एक जाति के पुरुष एक ही कार्य करते हैं, हां, उन्हें किसी नवीन कार्य का आरंभ करना कठिन भी हो जाता है।

जाति-भेद से होने वाली मुख्य हानियाँ ये हैं—(क) स्थान या पेशे के बदलने में कठिनाई होती है। कुछ जातियों को नए ढंग से अपना कार्य-संचालन करने में बाधा होती है। (ख) कई जातियों को अछूत या नीच माने जाने से समाज में श्रम की यथेष्ट महिमा नहीं रहती। (ग) कल-कारख़ाने आदि बड़े-बड़े कार्यों के संगठन के लिए जाति-भेद बाधक होता है। (घ) चौके की छुआ-छूत के कारण बहुत अपव्यय होता है। जब भिन्न-भिन्न जाति के आदमी अपना-अपना भोजन अपने ही हाथ से पकाते हैं, तो उसकी अलग-अलग व्यवस्था करने में स्थान, ईंधन आदि की अधिक आवश्यकता होती है, तथा बुद्धिमान् आदमी को, जो बहु-मूल्य कार्य-संपादन कर सकता है, अपना बहुत-सा समय खाना पकाने के काम में ही लगा देना पड़ता है, जिसे संभव है, वह अच्छी तरह करना न जानता हो।

जाति-भेद के दोषों को दूर करने के उपाय— जाति-भेद के वर्तमान दोषों को देखते हुए बहुत से आदमी जाति-पांति को समूल नष्ट करने के इच्छुक हैं। कुछ वर्षों से जाति-पांति-तोड़क मंडल इस दिशा में कुछ संगठित रूप से कार्य भी कर रहा है। परंतु विशाल सामाजिक क्रांति के बिना, जिसकी अभी संभावना नहीं है, किसी ऐसे प्रयत्न में विशेष सफलता नहीं हो सकती। यह सफलता तो बहुत कुछ शिक्षा-प्रचार पर निर्भर रहेगी। जब घर-घर ज्ञान का प्रकाश होगा, विशेषतया महिलाएँ शिक्षित होंगी तो जाति-पांति की रूढ़ि-गत प्रथा को तोड़ने में समुचित सहयोग मिलेगा। वर्तमान अवस्था में अधिकतर जन-समुदाय कृषि-कार्य में लगा है, अतः पुरातन संरक्षणशील विचार वाला है, देश के औद्योगिक-करण से भी इस मनोवृत्ति में क्रमशः सुधार होगा।

संयुक्त-कुटुंब-प्रणाली—भारतवर्ष के बहुत-से भागों में एक कुटुंब या परिवार के व्यक्ति इकट्ठे रहते, और मिलकर धन-उपार्जन तथा व्यय करते हैं। सब कमानेवालों की आमदनी घर के एक बड़े-बूढ़े के पास जमा होती है। वह सबकी ज़रूरतें पूरी करने की कोशिश करता है। इससे—

(१) अनाथों की शिक्षा तथा रक्षा में कुछ सुविधा होती है, तथा बीमारी या बुढ़ापे में कोई व्यक्ति निराश्रय और असहाय नहीं होता।

(२) कोई आदमी अपनी मेहनत का तमाम फल अपनी संतान के लिए ही नहीं छोड़ सकता, अतः धनोपार्जन में उसे विशेष उत्साह नहीं होता।

(३) रोटी-कपड़ा मिलने की आशा सबको बनी रहती है। इसलिए प्रत्येक व्यक्ति में स्वावलंबन तथा साहस नहीं होता। कोई-कोई व्यक्ति मुफ़्त में ही बेकार रहता हुआ अपने दिन काटा करता है।

(४) एक व्यक्ति चिरकाल तक बड़ा पूँजी-पति नहीं रहने पाता; क्योंकि उसके मरने पर उसका धन कुटुंब के सब आदमियों के हिस्से में आता है।

(५) इस प्रणाली में आधुनिक व्यक्ति-गत स्वतंत्रता के भावों का उदय नहीं होता। बहुधा पुरुष पराधीनता में कलह और दुःख का जीवन व्यतीत करते हैं, जो आर्थिक दृष्टि से हानिकर है।

आज-कल लोगों में वैयक्तिक विचारों की वृद्धि हो रही है। पहले प्रायः एक परिवार के सब आदमी एक ही प्रकार के उद्योग-धंधे से आजीविका प्राप्त करते थे, अब आमोदरफ़्त की वृद्धि और यातायात की सुविधाएँ अधिक होने से, तथा जीवन-संग्राम की कठिनाइयां दिनों-दिन बढ़ने से, परिवार के जिस आदमी को जहाँ जिस प्रकार के कार्य करने

का अवसर मिल जाता है, वह वहाँ वैसा करने लगता है। इस तरह परिवार के सदस्यों के दूर-दूर रहने का प्रसंग बढ़ता जाता है। अनेक दशाओं में जब कि एक आदमी गाँव में खेती करता है, उसका एक लड़का उसके साथ रहता है, दूसरा किसी नगर में कलर्की आदि का कार्य करता है, और तीसरा किसी अन्य नगर के कल कारखाने में श्रम करता है। इसका परिणाम स्पष्टतः संयुक्त-कुटुंब-प्रणाली का ह्रास है। यद्यपि स्वावालंबन और विचार-स्वातंत्र्य का यथेष्ट महत्व है, तथापि समाज की उन्नति के लिए पारस्परिक सहानुभूति, सहयोग, और त्याग के भावों की उपेक्षा नहीं होनी चाहिए। इस प्रकार, आवश्यकता इस बात की है कि संयुक्त-कुटुंब-प्रणाली के अंतर्गत गुणों की वृद्धि हो, और इसके दोषों का निवारण हो।

क्या यहां धार्मिक विचार आर्थिक उन्नति में बाधक हैं?— प्रायः यह कहा जाता है कि भारतवर्ष की आर्थिक स्थिति पर यहाँ के धार्मिक विचारों का घनिष्ट प्रभाव है, और अधिकतर आदमी परलोक-चिंतन में लगे रहने के कारण भौतिक विषयों की ओर समुचित ध्यान नहीं देते। ऐसा कथन कुछ अत्युक्ति-पूर्ण है। निस्सन्देह यहां कुछ आदमी अपना खासा समय और शक्ति पूजा-पाठ या तीर्थ-यात्रा आदि धार्मिक कृत्यों में खर्च करते हैं, परंतु उसे धनोत्पत्ति की दृष्टि से भी नितान्त व्यर्थ नहीं कह सकते। इससे उन्हें शान्ति और संतोष प्राप्त होता है, हानि-लाभ में, सुख-दुख में धैर्य बनाए रखने में सहायता मिलती है, जिसकी आर्थिक जीवन की सफलता के लिए अत्यन्त आवश्यकता है। कुछ आदमी तीर्थ-यात्रा के प्रसंग में अनेक स्थानों, बाज़ारों और मंडियों का निरीक्षण करते है, और विविध व्यक्तियों से मेल-मुलाकात करते हैं, जिससे उन्हें पीछे आर्थिक लाभ भी होता है। हाँ, ऐसी दृष्टि थोड़े ही व्यक्तियों की होती है, अन्य आदमी यदि चाहें तो उक्त समय और

द्रव्य को बहुत-कुछ धनोत्पत्ति में लगा सकते हैं; संतोष-वृत्ति के कारण, वे ऐसा नहीं करते। अस्तु, कुल जनता के व्यवहार का विचार करते हुए यह कहा जा सकता है कि सर्व-साधारण पर उनके धार्मिक विचारों का ऐसा प्रभाव नहीं है कि वह धनोत्पत्ति में विशेष बाधक हो। उदाहरण-वत् मारवाड़ी, जैन और भाटियों ने धर्मिक विचारों से कट्टर होते हुए भी उद्योग व्यापार आदि में यथेष्ट ख्याति प्राप्त की है। इसी प्रकार, यद्यपि मुसलमान ब्याज पर रुपया देना-लेना धार्मिक दृष्टि से अच्छा नहीं मानते, आर्थिक व्यवहार में वे इसे निषिद्ध नहीं समझते।

भारतवर्ष में बहुत से आदमी बहुत-कुछ भाग्यवादी अवश्य हैं; पर इसका कारण इतना धर्म नहीं, जितना राजनैतिक और आर्थिक तथा अशिक्षा-मूलक है। गत शताब्दियों में देश में शांति और सुव्यवस्था कम रहने से लोगों का जीवन प्रायः अस्थिर और संकटमय रहा है। उनकी आर्थिक स्थिति पीढ़ी-दर-पीढ़ी ऐसी खराब रही है कि उनकी कार्य-क्षमता और उत्साह घट गया है। इसलिए उनमें उद्योग-वाद या कर्म-वाद के भावों की न्यूनता है। फिर, अधिकांश भारतवासी कृषि कार्य में लगे हुए हैं, और कृषि की सिंचाई के लिए मुख्य आश्रय वर्षा का होता है, जो बहुधा अनिश्चित रहती है, कभी बहुत कम, कभी बहुत ज़्यादह। कभी-कभी बाढ़ या भूकम्प आदि का भी अनुभव होता रहता है। अनेक बार कीड़ा आदि लग जाने से भी फ़सल ख़राब होने का अवसर आ जाता है। विज्ञान-ज्ञान के अभाव में बेचारा दीन हीन किसान भाग्य-वादी न हो तो क्या हो। अस्तु, इसमें मूल कारण धर्म न होकर अन्य बातें हैं।

इस प्रसंग में हमें यह भुलाना उचित न होगा कि वर्तमान काल में जब कि सर्व-साधारण में शिक्षा का अभाव है, धार्मिक भाव उनके नैतिक चरित्र को अपेक्षा-कृत ऊंचा बनाने में सहायक हैं। धार्मिक

भावना के कारण भारतवर्ष का एक औसत दर्जे का आदमी झूठ बोलने, चोरी या बेईमानी करने, अपने सहयोगियों से लड़ने-झगड़ने, मालिक को हानि पहुँचाने, तथा नशा करने आदि से परहेज करता है। वह शौच, स्नान, सफाई आदि की उपयोगिता को भली भाँति न समझते हुए भी बहुत-कुछ उसका ध्यान रखता है। अस्तु, यद्यपि यह वांछनीय है कि यहाँ ज्ञान और विद्या का प्रचार हो, धार्मिक सुधार हो, अविवेकता-पूर्वक रूढ़ियों का पालन न हो, तथापि सब बातों का विचार करके, यह कहा जा सकता है कि यहां की प्रचलित धार्मिक भावना आर्थिक दृष्टि से उतनी हानिकर नहीं है, जितनी प्रायः समझी जाती है।

भारतीय श्रमजीवी—जैसा कि पहले कहा गया है श्रमजीवियों में वे सभी व्यक्ति सम्मिलित किए जाते हैं, जो किसी प्रकार का शारीरिक या मानसिक श्रम करते है। भिन्न भिन्न प्रकार के भारतीय श्रमजीवियों के संबंध में, विशेष बातें आगे कही जायँगी। यहां कुछ साधारण बातें, जो थोड़ी बहुत सभी के लिए लागू होती हैं, बताई जाती हैं। अधिकतर आदमियों को अपने घर और निवास-स्थान का बहुत मोह होता है। बिलकुल ही लाचारी की अवस्था उपस्थित हुए बिना वे दूसरी जगह जाकर काम-धंधा करना पसंद नहीं करते; और जब बाहर जाते हैं, तो बहुधा कुछ रुपया जमा हो जाते ही घर लौट आते हैं। इसमें क्रमशः परिवर्तन हो रहा है, इस संबंध में पहले कहा जा चुका है। अधिकतर जनता ग्रामों में रहने वाली है, इसलिए उपर्युक्त प्रवृत्ति के कारण श्रमजीवी प्रायः नगरों में उन दिनों में अधिक ठहरते हैं जब कि उन्हें गाँवों में खेती की फसल आदि का काम नहीं होता।

भारतीय श्रमी अधिकतर संतोष-वृत्ति वाले होते है; किसी-तरह निर्वाह-योग्य आय हो जाने पर, और अधिक आय के लिए वे

चिन्ता या प्रयत्न नहीं करते। उनका रहन-सहन का दर्जा बहुत निम्न श्रेणी का, तथा जीवन सरल और सादा होता है। वे अपने कष्टों को भी बहुत सीमा तक सहन कर लेते हैं, उनके विरुद्ध शिकायत या आन्दोलन बहुत कम करते हैं। इन बातों में क्रमशः परिवर्तन हो रहा है, तथापि पाश्चात्य श्रमजीवियों की अपेक्षा उनमें बहुत अंतर है।

सर्व-साधारण जनता का स्वास्थ्य अच्छा नहीं है, खाने-पीने, विश्राम, औषधी आदि की व्यवस्था नहीं होने से, वे बहुधा रोग-ग्रस्त रहते हैं और अल्पायु होते हैं, इससे उनकी कार्य-क्षमता का यथेष्ट उपयोग नहीं हो पाता। साधारणतया औद्योगिक शिक्षा की भी कमी है, इससे श्रमियों की कुशलता पर हानिकारक प्रभाव पड़ता है।

पिछली (सन् १६३१ ई० की) मनुष्य-गणना के हिसाब से (जिस में बर्मा के अंक भारत से पृथक नहीं हैं) यहां प्रति सैकडा ४४ आदमी वास्तविक कार्य करने वाले थे, और ५६ उन के आश्रित थे, जब कि इस के पूर्व, सन् १६२१ ई० की गणना के अनुसार ये क्रमशः ४६ और ५४ थे। आश्रितों का अनुपात बढ़ने का बहुत-कुछ कारण, करने-योग्य काम का न मिलना है। पूर्वोक्त प्रति सैकडा ४४ उत्पादकों में मोटे हिसाब से ३६ व्यक्ति खास काम करते है, और ८ उन के सहायक हैं। इन ३६ कार्य-कर्ताओं में २८ पुरुष और ८ स्त्रियां हैं, तथा ८ सहायकों में से २ पुरुष और ६ स्त्रियां है। इस प्रकार कुल जन संख्या में जो प्रति सैकड़ा ४४ उत्पादक है, उन में ३० पुरुष और १४ स्त्रियां हैं।* और, क्योंकि मोटे हिसाब से यहां कुल जनता में ५१ पुरुष और ४६ स्त्रियां मानी जा सकती हैं, उपर्युक्त हिसाब से मालूम होता है कि प्रति सैकडा २१ पुरुष

* इन में औसतन चार पुरुष और दो स्त्रियां अपने मुख्य पेशे के अतिरिक्त कुछ और भी काम करती हैं।

और २५ स्त्रियां आश्रित हैं; ये स्वयं कुछ काम नहीं करतीं, दूसरों की कमाई खाती हैं। इन आश्रितों में बच्चे तथा बूढ़े भी सम्मिलित हैं।

भिन्न-भिन्न पेशों के अनुसार जनता (कार्य करनेवाले और उन के आश्रित व्यक्तियों) के अंक प्रति सैकड़ा इस प्रकार हैं :—

पेशा	प्रति सैकड़ा
खेती और पशु-पालन	६७·०
खनिज पदार्थों की निकासी	·१
उद्योग-धंधे	६·७
माल-ढुलाई	१·५
व्यापार	५·४
सेना	·५
सरकारी नौकरियां	·८
पढ़ना-लिखना	१·७
विविध (घरेलू नौकर, अनिश्चित आय वाले, और अनुत्पादक आदि)	१३·३
योग	१००·०

कुछ साधारण बातों का विचार चुकने पर अब हम भिन्न-भिन्न प्रकार के श्रमियों संबंधी विशेष बातों को लेते हैं। भारतवर्ष में सर्व-प्रथम कृषक ही सामने आता है।

कृषक—भारतीय जनता में दो-तिहाई, कृषक या कृषि-श्रमजीवी हैं। प्राचीन काल में ऐसा न था, उस समय यह देश अपने उद्योग-धंधों की प्रसिद्धि के कारण विदेशी व्यापारियों को आकर्षित किया करता था। जब योरप में औद्योगिक क्रांति हुई, और साथ ही भारतवर्ष में धीरे-धीरे अंगरेजों का अधिकार हुआ तो ईस्ट इंडिया कंपनी के समय में

यहाँ की उत्तमोत्तम दस्तकारियाँ नष्ट करके इसे जबरदस्ती ब्रिटिश कारखानों के लिए कच्चा माल देने वाला बनाया गया। अनेक भारतीय कारीगरों को जब अन्य कोई कार्य न रहा तो वे खेती की ओर झुक गए, और देश की कृषक-जनता के रूप में भूमि का भार बढ़ाने वाले हो गए। अब, अनेक किसानों के पास भूमि इतनी कम है, कि उससे उनका निर्वाह नहीं हो सकता।

भारतीय कृषकों को लोग बहुधा गँवार, अयोग्य और कूढ़-मग्ज़ समझते हैं। यद्यपि वह नवीन कार्य-प्रणाली से अपरिचित और पुराने संरक्षण-शील विचारवाला होता है, तथापि उसे अपने वंशानुगत कार्य का स्वाभाविक ज्ञान होता है। वह बिना सिखाए ही यह जानता है कि कौन-सी फ़सल कब और कैसी ज़मीन में बोनी चाहिए, और किस भूमि में एक फ़सल के बाद दूसरी कौन-सी फ़सल बोना लाभकारी होगा। उसके साधन प्रायः अपर्याप्त होते हैं, आर्थिक बाधाएँ उसके सुधार-कार्यों में पग-पग पर बाधक होती हैं। वैज्ञानिक प्रणाली का प्रयोग करने, बड़े-बड़े खेत रखने, अच्छी खाद देने, गहरी जोताई, और पूरी आबपाशी करने के लिए बड़ी पूँजी चाहिए। पूँजी के अभाव में कृषक उक्त सुधारों की उपयोगिता जानता हुआ भी, उन्हें अमल में नहीं ला सकता।

कृषकों की दशा बहुत-कुछ उनकी परिस्थिति पर भी निर्भर रहती है; जिन स्थानों में वर्षा निश्चित समय पर होती है, अथवा आबपाशी के साधन उपलब्ध हैं, वहां किसान उत्साह, फ़ुर्ति, और परिश्रम से काम करता है। इसके विपरीत, जहाँ परिस्थिति प्रतिकूल होती है, वह आलसी भाग्यवादी और निराशावादी तथा कंगाल हो जाता है। इस कथन में कुछ सचाई अवश्य है कि वातावरण या परिस्थिति के सुधार होने पर कृषक स्वयं सुधर जायगा। परंतु वास्तव में कृषक और उसके वातावरण दोनों के ही सुधार की आवश्यकता है। किसानों को यथेष्ट पूंजी मिलने की सुविधा होने, लगान की मात्रा घटने, और लगान

वसूल करने की पद्धति में सुधार होने आदि के संबंध में विशेष विचार अन्यत्र प्रसंगानुसार किया जायगा। यहां हम उनकी शिक्षा के विषय में ही कुछ लिखते हैं।

कृषकों की शिक्षा—भारतवर्ष में 'किसान' शब्द अनपढ़ होने का अर्थ रखता है। जब कि यहाँ कुल जनता में ही सात फ़ी-सदी आदमी पढ़े-लिखे हों, तो दीन-हीन कृषकों में तो शिक्षा पानेवालों का अनुपात और भी कम होना स्वाभाविक है। अब देश में जागृति होने लगी है, और राष्ट्र के मुख्य आधार, कृषकों को शिक्षित करने के प्रश्न पर भी ध्यान दिया जा रहा है। यह विषय भी विचाराधीन है कि कृषकों की शिक्षा में सामान्य शिक्षा से क्या विशेषता हो। इस संबंध में स्मरण रखने की बात यह है कि कृषक-बालकों के लिए वही शिक्षा पद्धति उपयोगी हो सकती है, जिससे शिक्षा पाकर वे कृषि-कार्य को अच्छी तरह करने में दत्त-चित्त हों; ऐसा न हो कि वे उसे घृणा से देखते हुए दफ़्तरों में कलर्की आदि करने के उत्सुक होने लगें। उनका पाठ्य-क्रम ऐसा हो जो भविष्य में उनके काम आवे। उनकी शिक्षा का समय तथा छुट्टी में भी कृषि की सुविधा का ध्यान रखा जाय। उनके अध्यापक ग्राम-सेवाभिलाषी हो। साथ ही उनमें शिक्षा का विशेष स्थाइत्व होने के लिए स्त्रियों की शिक्षा की भी आवश्यकता है, उसके वास्ते स्त्री-अध्यापिकाएं तैयार करने के लिए विशेष उद्योग होना चाहिए। प्रौढ़-शिक्षा भी बहुत जरूरी है, और उसके लिए रात्री-पाठशालाओं और वाचनालयों की स्थापना करने, तथा मेजिक लालटेन के दृश्य दिखाने की व्यवस्था यथेष्ट परिमाण में होनी चाहिए। ऐसी कृषि-प्रदर्शनियां भी बहुत उपयोगी होती है, जिन में, खेती की विकसित पद्धति, अच्छे औजार, बीज, और अच्छी नस्ल के पशु दिखाए जाते हैं, तथा कृषि-संबंधी बातें क्रियात्मक ढङ्ग से समझाई जाती हैं।

कृषकों का स्वास्थ्य—कृषक-जनता अधिकतर गावों में रहती है, और यद्यपि वहां नगरों की तरह घनी आबादी अथवा मिलों या कारखानों की चिमनियों से निकलने वाले धुएं की भरमार नहीं होती, फिर भी लोगों का स्वास्थ्य कैसा रहता है यह पाठकों को विदित ही होगा। मलेरिया ज्वर, प्लेग, हैजा, चेचक, खाँसी आदि की शिकायतें व्यापक रूप से रहती हैं। वहां चिकित्सा की भी व्यवस्था नहीं-सी है। इससे मृत्यु-संख्या तो बढ़ती ही है, अनेक आदमी जो इन बीमारियों के शिकार होते हुए जीवित रह जाते हैं बहुधा स्थाई रूप से निर्बल रहते हैं, उनकी कार्य-क्षमता कम होती है। बीमारियों का मुख्य कारण लोगों की निर्धनता तथा अज्ञान है। किसानों के अज्ञान की बात तो सब कहते हैं, पर उनकी निर्धनता का विचार बहुत कम किया जाता है। कितने ही आदमियों को साधरण समय में भी अच्छा या पर्याप्त भोजन नहीं मिल पाता। किसान लोग जो बढ़िया अन्न, फल या शाक आदि अच्छी वस्तुएँ पैदा करते हैं, वे सब बिकने के वास्ते होती हैं, जिससे वे अपना लगान, तथा ऋण का सूद चुका सकें। इनके बच्चों को दूध घी भी बहुत ही कम मिल पाता है। ये बातें इनकी आर्थिक हीनता के कुछ उदाहरण मात्र हैं। फिर, जबकि ये बातें साधारण अच्छे समझे जाने वाले वर्षों की हैं, तो दुर्भिक्ष के समय की स्थिति का सहज ही अनुमान किया जा सकता है। अस्तु, इनके स्वास्थ्य को उन्नत करने के वास्ते इनकी आर्थिक स्थिति सुधारने तथा उनमें शिक्षा प्रचार करने की अत्यंत आवश्यकता है। इस ओर जिला-बोर्डों को समुचित ध्यान देना चाहिए, तथा सरकार के स्वास्थ्य-विभाग और सहकारिता-विभाग आदि का समुचित सहयोग मिलना चाहिए।

कृषि-श्रमजीवी—ऊपर कृषकों के संबंध में लिखा गया है। अब उनसे कुछ वेतन (जिंस में, या नक़द) लेकर काम करने वाले श्रमजीवियों के विषय में विचार करें। इनकी संख्या चार करोड़ से अधिक

है। हिसाब से मालूम हुआ है कि भारतवर्ष में १०० काश्तकार औसतन् २५ श्रमजीवी रखते हैं। यह संख्या भिन्न-भिन्न प्रांतों में पृथक्-पृथक् है। कृषि-श्रमजीवी के संतोषी, परिश्रमी और सहनशील होने में कोई संदेह नहीं। उसके पास बहुधा कुछ अपनी भूमि भी होती है, परंतु उससे उसका निर्वाह नहीं हो सकता। अतः वह ज़मीदार की ज़मीन के साथ इसे भी जोतता है। इसके अतिरिक्त वह और भी काम करता रहता है। वह बैलगाड़ी रखता है, उसमें किराए पर सवारियाँ ले जाता है या माल ढोता है, कभी-कभी पास के कल-कारख़ाने में मज़दूरी भी कर लेता है। औरतें खेतों में निराई-कटाई आदि कार्य करती हैं, ईंधन बेचती हैं; गोबर के उपले या कंडे थापती हैं (जो निकटवर्ती क़स्बों में बिकते हैं), कपास लोढ़ती हैं, सूत कातती हैं और दूसरे काम करती हैं, इस प्रकार कृषि-श्रमजीवी का ध्यान भिन्न-भिन्न ओर रहता है, एक ही धंधे में नहीं रहता।

वर्तमान कृषि-श्रमजीवियों में बहुत से पहले किसान थे। उन्होंने दुर्भिक्ष के दिनों में अपना उदर-पूर्ति के लिए, या अपनी संतान को विवाह-शादी, या किसी मृतक-भोज आदि सामाजिक प्रथा या दंड के लिए, या लगान चुकाने आदि के लिए ज़मीन गिरवी रख कर ऋण लिया, और पीछे उसे न चुका सकने के कारण वे ज़मीन से वंचित हो गए। कृषि-श्रमजीवियों में कुछ हरिजन जातियों के भी आदमी हैं, जो सामाजिक कठोरता के कारण जमीन आदि के अधिकारी नहीं होने पाते। कृषि-श्रमजीवी अशिक्षित और अकुशल होते हैं। गत वर्षों में इनका श्रम अपेक्षाकृत कुछ मंहगा होने लगा है; इसके कई कारण हैं। अज-कल लोगों को आमोद-रफ्त की सुविधाएँ अधिक हैं, श्रमी किसी एक ही स्थान में अधिक संख्या में न बने रह कर, जहां उन्हें अधिक वेतन की आशा होती है, जाते रहते हैं, फिर अब रेल, निर्माण-कार्य और कल कारखानों में भी उनकी मांग, और कुछ सीमा तक, वेतन, बढ़ रहा है। परंतु इससे यह न समझना

चाहिए कि इन सब लोगों की दशा बहुत सुधर गई है। बढ़ी हुई वेतन का लाभ थोड़े ही आदमियों को मिलता है, विशेषतया उनको, जो शहरों या कल-कारखाने वाले स्थानों के पास रहते हैं। अन्यत्र बहुत से आदमियों को तो काम ही नहीं मिलता, उन्हें फसल के दिनों में भी इतनी आय नहीं होती कि अपना और अपने परिवार का कुछ अच्छी तरह भरण-पोषण कर सकें। खाने के लिए उन्हें अच्छा बढ़िया अन्न तो कभी नसीब ही नहीं होता, घटिया पदार्थों पर जैसे-तैसे निर्वाह करना पड़ता है। साल में लगभग छः मास जब खेतों में काम नहीं होता और ये मज़दूर बेकार रहते हैं, तो इनकी दुर्दशा का कुछ अन्त नहीं रहता। देश के जिन भागों में दो फसलें होती हैं, वहां के श्रमजीवी अपेक्षा-कृत कुछ अच्छे रहते हैं, पर जैसा कि ऊपर कहा गया है, साधारणतया इनकी जो दशा होती है, उसे ये ही जानते हैं; 'जिनके फाटी नहीं बिवाई, वे नहीं जानें पीर पराई'। अस्तु, इनके जीवन में आशा और उत्साह का, तथा इनके कार्य में स्फुर्ति का अभाव होना स्वाभाविक ही है। यह कहा जा सकता है कि कुछ अंश में इनके दुख-सुख तथा दोष या त्रुटियां उसी प्रकार की हैं, जैसी कृषकों की; और, जिन उपायों से कृषकों की उन्नति होगी, उनसे इन्हें भी बहुत-कुछ लाभ होने को आशा है।

खानों और कारखानों के मजदूर—भारतवर्ष अभी कृषि-प्रधान है, कारखानों में काम करने वाले बहुत से मज़दूर भी गाँवों से आते हैं। जब उन्हें खेती का कुछ काम नहीं रहता, वे आजीविका के लिए कल-कारखानों की शरण लेते हैं। पाश्चात्य सभ्यता का अधिक प्रचार होने से यद्यपि गत वर्षों में यहाँ शराब-ख़ोरी बढ़ गई है (जो खेद-जनक है), तथापि पाश्चात्य देशों के मुक़ाबिले में यहाँ बहुत कम नशा होता है। यहाँ के श्रमजीवी धार्मिक आचार-विचार के कारण स्वभाव से ही संतोषी माने जाते हैं। उनका रहन-सहन साधारण, और

आवश्यकताएँ कम रहती हैं। उनकी मेहनत प्रायः घटिया दर्जे की या कम उत्पादक होती है, इसलिए बहुधा बड़े-बड़े कामों में सस्ती दिखलाई पड़ने पर भी अन्य उन्नत देशों की अपेक्षा वास्तव में मंहगी पड़ती है। इसके कई कारण हैं। यथोचित ज्ञान के अतिरिक्त वे यथेष्ट पुष्टिकर भोजन भी नहीं पाते; उनके रहन-सहन, निवास-स्थान आदि के सुधार के साथ, उनकी शिक्षा के लिए समुचित व्यवस्था होने की अत्यंत आवश्यकता है। बड़े-बड़े कारखानों या मिलों में काम करनेवालों की शिक्षा के लिए अलग प्रबंध करना चाहिए। खानों के लिए उनके आस-पास ही स्कूल खोलना उचित है, वहाँ भू-तत्व-विद्या के साथ खान खोदने की व्यावहारिक शिक्षा दी जाय। धातुओं को गलाने और कल-पुर्जा ढालने के लिए लोहे के कारखानों से संलग्न स्कूल उपयोगी हैं। इन सब प्रकार की शिक्षाओं के लिए सरकार कारखानों को आर्थिक सहायता दे।

कारीगर या स्वतंत्र श्रमी——साधारणतया हमारे कारीगर अपने वंश-क्रमानुगत कार्य को जल्दी सीख लेते हैं; हाँ, उन्हें सुअवसर मिलना चाहिए। मां बाप की निर्धनता के कारण अनेक व्यक्तियों को बहुत थोड़ी उम्र में ही आजीविका-प्राप्ति के प्रयत्न में लग जाना पड़ता है, इससे उनकी योग्यता का विकास नहीं होने पाता। अधिकांश आदमी पुराने धंधों को, पुरानी ही शैली से, करने के आदी होते हैं, नए काम उन्हें नहीं रुचते; और, यदि रुचिकर भी हों तो आजीविका के यथेष्ट साधनों के अभाव में वे उसके लिए साहस नहीं कर सकते, कारण कि ऐसा करने से उन्हें सहज ही भूखा मरने की नौबत आ जाती है। देश में सर्व-साधारण की निर्धनता के कारण अब सस्ती चीजों की मांग बढ़ रही है, कारीगरी की कदर करने वाले कम हैं। कुछ राजा महाराजा, रईस, या उच्च वेतन पाने वाले व्यक्ति अवश्य कारीगरी की वस्तुओं के शौकीन होते हैं, पर उससे कितने कारीगरों का भला हो सकता है! तथापि

उनकी दशा के सुधारने में, औद्योगिक शिक्षा के प्रचार से कुछ सफलता अवश्य मिल सकती है।

औद्योगिक शिक्षा—खेद है कि औद्योगिक शिक्षा के संबंध में यहाँ समाज और राज्य यथोचित कर्तव्य-पालन नहीं कर रहे हैं, और कला-कौशल आदि की शिक्षा-संस्थाएँ इनी-गिनी हैं; जर्मनी, अमरीका आदि देशों की तुलना में तो वे नहीं के बराबर ही हैं। औद्योगिक शिक्षा की कमी के कुछ मुख्य कारण ये हैं— (क) यहाँ औद्योगिक कार्य वैश्यों या शूद्रों के लिए परिमित है, बहुधा उच्च जातिवालों को हाथ का काम करने में शर्म मालूम होती है। (ख) एक पेशे का काम वंश-परंपरा से चलता है; दूसरे आदमियों को सिखाया नहीं जाता। (ग) उत्पत्ति की रीतियों में भेद आ जाने से अब हाथ से कार्य करने की रीति उठती जा रही है। (घ) जाति-पाँति के बंधनों तथा निर्धनता के कारण नवयुवकों को विदेशों में जाकर औद्योगिक-शिक्षा प्राप्त करने की सुविधा नहीं है। अन्यान्य देशों में, ब्रिटिश-साम्राज्य के अंतर्गत देशों में भी, पराधीन भारतीय बड़े निरादर से रक्खे जाते हैं। ये सब दोष दूर करने का प्रयत्न होना चाहिए।

औद्योगिक शिक्षा के लिए सबसे पहली ज़रूरत यह है कि देश-भर में सब श्रेणी के बालकों को इस बात की शिक्षा दी जाय कि परिश्रम करना—हाथों से कमाना—बुरा नहीं है। प्राथमिक पाठशालाओं में फूल-पत्तियाँ लगाना सिखलाकर, चित्र-कला और नमूने (माडल) बनाने की शिक्षा देकर, परिश्रम और व्यावहारिक शिक्षा के प्रति प्रेम उत्पन्न कराया जाय। इसके साथ-साथ यह भी आवश्यक है कि देश में बड़ी-बड़ी प्रयोगशालाएँ खोली जायँ, जहाँ विद्वान् लोग दिन-रात खोज में लगे रहें। इस 'खोज' से उद्योग-धंधों को बड़ा लाभ पहुँचेगा।

स्वतंत्र-रूप से बढ़ई, लुहार, मेमार आदि दस्तकार को अपनी आँखों

और हाथों से काम लेना होता है। इनकी शिक्षा के लिए हर शहर और बड़े-बड़े देहातों में दक्ष मास्टरोंवाले स्कूलों की ज़रूरत है। इन शिक्षार्थियों को हाथ और आँख का इस्तेमाल और सँभाल बतलानी चाहिए, तथा नए-नए- पैटर्नों (नमूनों) को समझना और उनके मुताबिक़ काम करना सिखलाना चाहिए।

इस देश में औद्योगिक शिक्षा की कमी दूर करने के लिए जगह-जगह शिक्षा-संस्थाएँ खुलने की आवश्यकता है। हर्ष की बात है कि कुछ समय से देश-भक्तों का ध्यान इस ओर आकर्षित हुआ है, और वे तन, मन, धन से इसका उद्योग कर रहे हैं। जहां-तहां कई संस्थाओं द्वारा साहित्यिक शिक्षा के साथ-साथ औद्योगिक विषयों की शिक्षा का प्रचार हो रहा है, जिनमें लकड़ी लोहे का काम, वस्त्र-कला, दरी कालीन बुनना, कुर्सी मूढ़े बनाना आदि मुख्य हैं। इन संस्थाओं का उद्देश्य यह है कि पढ़े-लिखे आदमी श्रम से घृणा न करें, वरन् उसकी यथेष्ट महिमा जानें। साथ ही कारीगर भी निरे निरक्षर न रहें। निदान, भावी नागरिकों की ज्ञानेंद्रियों और कर्मेंद्रियों का अथवा विशेषतया दिमाग़ और हाथों का समुचित सहयोग हो। ऐसी औद्योगिक संस्थाओं की देश में बड़ी ज़रूरत है। इन्हें निःशुल्क होने पर ही विशेष सफलता प्राप्त हो सकती है।

शिक्षित श्रमी—भारतवर्ष में शिक्षा-प्रचार बहुत कम है। इसका एक मुख्य कारण यह है कि आधुनिक शिक्षा, विशेषतया उच्च शिक्षा बहुत मंहगी या खर्चीली है। साधारण गृहस्थों के लिए अपने बालकों को कालिज में भेजना तो दूर, मेट्रिक या स्कूल-लीविंग क्लास तक की शिक्षा दिलाना भी कठिन है। फिर, जब शिक्षित व्यक्तियों को भी अपनी आजीविका-प्राप्ति के लिए भटकना पड़े तो शिक्षा ओर जनता की अरुचि बढ़ना स्वाभाविक ही है। हाँ, और भी कोई मार्ग प्रशस्त न होने से

अनेक माँ बाप जैसे-तैसे, कुछ दशाओं में तो ऋण लेकर भी, अपने बालकों की शिक्षा की व्यवस्था करते हैं। अस्तु, उच्च-शिक्षा-प्राप्ति यहाँ बहुत दुर्लभ है; यद्यपि बेकारी के कारण यहाँ शिक्षितों की संख्या कभी-कभी कुछ अधिक समझी जाती है, देश की कुल जन-संख्या का विचार करते हुए वह अत्यंत कम है। इसका मुख्य कारण, जैसा कि ऊपर कहा गया है, इसका मंहगापन है। आवश्यकता है कि विद्यार्थियों की आर्थिक स्थिति का ध्यान रखते हुए फीस आदि कम की जाय। पर सरकार का इस ओर ध्यान नहीं है। सरकारी स्कूलों और कालिजों की फ़ीस प्रायः बढ़ती ही जाती है। कुछ राष्ट्रीय शिक्षा संस्थाएं अल्प व्यय से शिक्षा देने में प्रयत्न-शील हैं।

हमारे अनेक उच्च-शिक्षा-प्राप्त व्यक्तियों को अपनी योग्यता दिखाने का पूरा अवसर नहीं मिलता; विविध उच्च पदों पर अभी तक भी अंगरेजों की, या सरकार के विशेष कृपा-पात्रों की नियुक्ति होती है, जिनमें जाति-गत या साम्प्रदायिक लिहाज़ रहता है। यह बात उच्च शिक्षा प्राप्ति में बाधक है, और दूर की जानी चाहिए।

घरेलू नौकर—पहले कहा जा चुका है कि अधिकांश भारत-वासियों की आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं है। इसके फल-स्वरूप देश में बहुत कम आदमी ऐसे हैं जो नौकर रखने में समर्थ हों; फिर, जो व्यक्ति नौकर रखते भी हैं, उनमें से अधिकांश चौके-बर्तन, झाड़ू-बुहारी या रसोई आदि के काम के लिए नौकर रखते हैं, जिसमें विशेष योग्यता की आवश्यकता नहीं होती; इन कामों को अकुशल श्रमी भली भाँति कर सकता है। ऐसे श्रमियों की संख्या देश में पर्याप्त है। अस्तु, इनमें से अधिकांश की दशा अच्छी नहीं है, कुछ तो अपने निर्वाह के लिए दो-दो तीन-तीन घरों में काम करते हैं। इनका कोई संगठन नहीं होता। बहुधा एक मालिक के यहाँ से बर्खास्त किए जाने पर इन्हें

बहुत समय तक दूसरी जगह नौकरी की खोज करनी पड़ती है।

श्रम की कुशलता की वृद्धि—भिन्न-भिन्न भारतीय श्रम-जीवियों संबंधी उक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि उनकी कुशलता बहुत कम है और उसके बढ़ाने की बहुत आवश्यकता है। श्रमजीवियों की कुशलता जल-वायु, जातीयता, रहन-सहन, स्वास्थ, शिक्षा, कार्य करने की स्वतंत्रता, उन्नति और लाभ की आशा, कार्य क्रम की विभिन्नता जिससे श्रम बहुत निरस प्रतीत न हो, आदि बातों पर निर्भर होती है। यहां कुशलता-वृद्धि में एक मुख्य बाधा लोगों की आर्थिक स्थिति की है; उद्योग करने पर, उनमें विविध प्रकार की शिक्षा का प्रचार करने से उसमें बहुत-कुछ सुधार हो सकता है। सरकार को इस ओर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है; वर्तमान परिस्थिति में राष्ट्रीय नेताओं को चाहिए कि यथा-शक्ति प्रयत्न करें, और सरकार द्वारा उसका कर्तव्य समुचित रीति से पालन कराएँ।

चौथा परिच्छेद

पूंजी

मूल-धन या पूँजी—भूमि के अतिरिक्त जो धन और अधिक धन पैदा या तैयार करने में लगाया जाय, वह मूल-धन या पूँजी कहलाता है। सब मूल-धन तो धन होता है, परंतु सब धन मूल-धन नहीं कहा जा सकता। यदि एक मनुष्य के पास कुछ अन्न है, और वह बिना

परिश्रम किए उस अन्न को खाता रहे, तो वह अन्न उसका धन तो है, पर मूल-धन नहीं कहा जायगा। हाँ, यदि वह इसका खर्च करते समय और धन-उत्पादन करने का कार्य कर रहा है, तो वह अन्न मूल-धन की गणना में आएगा। इसी प्रकार, यदि हम अपना धन किसी और को ब्याज पर उठा दें, तो उस धन में कुछ कमी न होकर हमें उससे कुछ प्राप्ति होती रहेगी; इस दशा में भी हमारा धन मूल-धन ही कहलाएगा, यद्यपि ब्याज पर देना उसका बहुत अच्छा उपयोग नहीं है।

भारतवर्ष में पूँजी की दशा—यहाँ जन-साधारण के पास पूँजी बहुत कम है। अधिकांश आदमी 'जो आया, सो खाया' का हिसाब रखते हैं। जैसे-तैसे निर्वाह करना भी जिनके लिए बड़ा कठिन है, उनके पास जमा करने के लिए कुछ विशेष द्रव्य हो ही कैसे सकता है! हाँ, कितने ही आदमी ऐसे भी हैं, जो यदि चाहें, तो अपनी आय में से धीरे-धीरे थोड़ी-थोड़ी बचत करके उसे अधिक धनोत्पादन के कार्य में लगा सकते हैं। परंतु जिनके पास बचत थोड़ी-थोड़ी हो सकती है, उनमें से बहुत-से बचाते ही नहीं। कुछ आदमी हानि की आशंका और साहस की कमी के कारण अपनी थोड़ी बचत से कुछ काम नहीं लेते, उसे घर पर ही नक़दी, धातु या आभूषण के रूप में रख छोड़ते हैं। यदि ये लोग अपनी पूँजी से अलग-अलग काम करें, तो इन्हें विशेष लाभ भी न हो। हाँ, यदि बहुत-से आदमी अपनी थोड़ी-थोड़ी पूँजी एकत्रित करके उससे कोई बड़ा कार्य करें, तो उस पूँजी की धनोत्पादक शक्ति बढ़ सकती है। हमारे कितने ही राजा-महाराजों तथा ज़मींदारों के पास कुछ धन है। यदि वे इसे व्यावसायिक कार्यों में लगावें, तो देश का बड़ा हित हो; परंतु इनमें से बहुतों को अपनी शौक़ीनी तथा विलास-प्रियता से ही छुटकारा नहीं। इन सब कारणों से यहाँ पूँजी बहुत कम है।

इधर कुछ वर्षों से व्यवसायों में भारतीय पूँजी की मात्रा क्रमशः बढ़ती जा रही है। मिश्रित पूँजीवाली जो कंपनियाँ स्थापित हो रही हैं, उनकी पूँजी सब यहीं से एकत्रित होती है। अब लोग बैंकों में रुपया जमा कराने में अधिक उत्साहित पाए जाते हैं। बहुत-से छोटे-छोटे काम जो योरपियनों ने आरंभ किए थे, अब हिंदुस्थानियों के हाथ में है, जैसे जीन, प्रेस, सोडा-वाटर या तेल की फ़ैक्टरियाँ, कपड़े और ज्यूट की मिलें, और कोयले की खानें, इस्पात के क़ारखाने आदि। रेल, तार, डाक आदि का काम सरकार ने विदेशी पूँजी से किया है। कुछ मिलें, खनिज पदार्थों के निकालने के काम, जहाज़ आदि बनाने के कारखाने प्रायः योरपियनों के हाथ में हैं। चाय तथा क़हवे की काश्त एवं कोयले, आटे, बर्फ़, शक्कर तथा लोहे-पीतल के सामान के कारख़ानों में हिन्दुस्थानी और विलायती पूँजी भिन्न-भिन्न मात्रा में लगी हुई है।

किसानों की पूँजी—हमारे देश के किसानों की नक़द पूँजी नहीं के बराबर है। ऋण के वास्ते इन्हें कड़ा सूद देना पड़ता है। तिस-पर भी देहातों में काफ़ी रुपया नहीं मिलता; क्योंकि देहातों के महाजन भी तो ग़रीब हैं। किसानों की साधारण पूँजी हल, फाल, खुरपी, कुदाली, पानी खींचने का चरसा या रहट आदि होती है, किसी-किसी किसान के पास बैल तथा बैल-गाड़ी भी रहती है। फ़ुरसत के दिनों में वह हल के बैलों को गाड़ी में जोतकर बोझ लादने का काम करता है। उक्त वस्तुओं में बीज, जो किसान खेतों में बोता है, और खाद, जो खेतों में डालता है, इनको शामिल कर लेने से प्रायः किसानों की पूँजी का पूरा टोटल हो जायगा। बहुधा किसानों के पास खाने से कुछ बच ही नहीं सकता। उन्हें डेवढ़े या सवाए के क़रार पर महाजनों से बीज उधार लेना पड़ता है। ऐसे किसान बहुत कम मिलेंगे, जिनकी सब पूँजी अपनी है, और जो काम-चलाऊ पूँजी के अलावा भावी आवश्यकता के

लिए कुछ जमा भी रख सकें। भारतवर्ष में बीमा कराने की प्रथा अपेक्षाकृत कम है; किसानों में तो यह मानों आरंभ ही नहीं हुई। उनकी ज़िंदगी का, या चारे, फसल बैल आदि का बीमा नहीं होता। सुरक्षित पूँजी का प्रायः अभाव रहता है। हाँ, कुछ किसान अच्छी फसल होने की दशा में, अपनी अन्य आवश्यकताओं को मर्यादित रख कर कभी-कभी विशेषतया स्त्रियों के लिए थोड़े-बहुत ज़ेवर बनवा देते हैं; बस, संकट-काल में इन्हीं पर उनकी नज़र पड़ती है। यही कारण है कि दुर्भिक्ष आदि के अवसर पर असंख्य किसानों की थोड़ी-थोड़ी चांदी और कुछ दशाओं में सोना मिल कर इन धातुओं की काफी मात्रा बाज़ार में बिकने के लिए, तथा निर्यात के लिए आ जाती है।

पशु-पालन—अन्य उपयोगी पदार्थों की तरह पशु भी देश की बड़ी संपत्ति हैं। कृषि-प्रधान भारत के लिए तो इनका महत्व और भी अधिक है। बैल और भैंसे से ही यहाँ खेती होती है। इसके अतिरिक्त ये बोझ ढोते और सवारी ले जाते हैं। परंतु अन्य देशों की अपेक्षा भारतवर्ष पशु-धन में बहुत दरिद्र है। इंगलैंड अमरीका आदि कई पाश्चात्य देशों में, जो कृषि-प्रधान भी नहीं हैं, न केवल प्रति व्यक्ति पशुओं की संख्या भारतवर्ष की तुलना में, अधिक है, वरन् वहां के पशु अधिक बलवान, तथा नीरोग है, और अधिक दूध देने वाले हैं। खेद है कि यहाँ बहुत-से किसान ऐसे भी हैं, जिनके पास बैल या भैसों की एक भी जोड़ी अपनी नहीं है। यहाँ पशुओं को प्रायः अस्वच्छ पानी तथा घटिया दर्जे का और कम चारा दिया जाता है, इससे उनकी आयु कम हो जाती है; उनके श्रम तथा रोग की ओर यथेष्ट ध्यान नहीं दिया जाता, उनके रहने की जगह अच्छी नहीं होती, और उनकी नस्ल उन्नत करने का उपाय भी बहुत कम किया जाता है।

पशुओं की उन्नति के लिए दो सरकारी विभाग हैं। फ़ौजवाले उन

पशुओं के पालने तथा नस्ल सुधारने का काम करते हैं, जो फ़ौजी रिसाले में लिए जाते हैं। सिविल-विभाग साधारणतः बैल, भैंस, भेड़, घोड़ा, ख़च्चर आदि पशुओं की उन्नति और चिकित्सा का प्रबंध करता है। कुछ नगरों में पशु-चिकित्सा करनेवाले ऐसे डाक्टरों और कर्मचारियों को शिक्षा दी जाती है, तथा ऐसी सरकारी प्रयोग-शालाएँ हैं, जहाँ पशुओं के रोग और उनकी चिकित्सा का अनुसंधान होता है। ज़िला-बोर्डों की तरफ़ से सब-डिवीज़नों में पशु-चिकित्सक रक्खे जा रहे हैं।

पशु-पालन से चारे का घनिष्ट संबंध है। अब बहुत-से घनी बस्तीवाले स्थानों में पशुओं के चरागाह तक जोत डाले जाते हैं, और पशुओं को भर-पेट चारा नहीं मिल सकता। यद्यपि प्रत्येक हिन्दू-गृहस्थ के लिए एक गाय रखना आवश्यक कर्तव्य है, परंतु वर्तमान अवस्था में यह कार्य बहुत ही कठिन हो गया है। बहुत-से आदमी चारे के अभाव में अपने गाय-बछड़ों को क़साई के हाथ नहीं बेचते, तो उसे किसी गोशाला या पिंजरा-पोल में छोड़कर उससे निश्चिंत हो जाते हैं। वास्तव में पशु-पालन के लिए चरागाहों की बड़ी आवश्यकता है। जंगलों में बहुत-सी घास बरबाद हो जाती है। उसे सरकारी फ़ार्मों की तरह संचय करने का प्रबंध होना चाहिए, तथा अन्य चारों को अधिकाधिक मात्रा में पैदा करने और उन्हें आवश्यकता के समय के लिए बचाकर रखना चाहिए।

गो-वंश का भयंकर ह्रास—भारतवर्ष में गाय बहुत आदरणीय है। कृषि अधिकतर गो-संतान (बैलों) पर ही निर्भर है। इसके अतिरिक्त हिन्दुओं के लिए घी-दूध से बढ़कर कोई पुष्टिकर पदार्थ नहीं। बच्चों, रोगियों और बूढ़ों के लिए तो गाय का दूध एक न्यामत है। प्राचीन काल में यहाँ दूध-दही की ऐसी बहुतायत थी कि अनेक स्थानों में इन चीज़ों को बेचना अनुचित कर्म समझा जाता था। मुसलमानों के समय में भी इन पदार्थों की विशेष कमी न हुई। अँगरेज़ों के यहाँ आने

के बाद क्रमशः इन पदार्थों का दुःखदायी अभाव होने लग गया। देश का मक्खन निकलता जा रहा है; यहाँ अब छाछ भी काफ़ी नहीं होती।

भारतवर्ष में अब गउओं की कमी के मुख्य कारण ये हैं—(१) चमड़े के व्यापार के लिए लाखों गायें प्रति वर्ष मारी जाती हैं। यहाँ से बहुत सी खालें विदेशों को भेजी जाती हैं, शेष यहाँ काम में लाई जाती हैं। (२) फ़ौजी गोरे गो-मांस खाते हैं। इनके वास्ते मि० जस्सावाला के हिसाब से डेढ़ लाख पशु प्रति वर्ष मारे जाते हैं। (३) मुसलमान गाय की क़ुर्बानी करते हैं। इनकी संख्या गोरों के लिए मारी जानेवाली गउओं की संख्या से बहुत कम है, और राष्ट्रीय जागृति होने से इसमें और भी कमी होती जाती है। (४) बहुत-सी अच्छी-अच्छी गउएँ विदेशों को ले जाई जाती हैं। कहना नहीं होगा, गउओं की कमी के इन कारणों को दूर करने की अत्यंत आवश्यकता है। सरकार इस ओर कुछ विशेष ध्यान नहीं देती। कुछ समय से गाय-बैल की नस्ल सुधारने के हेतु अच्छे साँडों की व्यवस्था की जाने लगी है, परंतु जब कि पशुओं के चरने के लिए काफी चरागाह नहीं है, तथा किसान इतने निर्धन हैं कि वे पशुओं को पौष्टिक पदार्थ तो क्या, अच्छा भोजन भी भर-पेट नहीं दे सकते, केवल साँडों की व्यवस्था से क्या लाभ हो सकता है!

उद्योग-धंधों के लिए पूँजी—अब यह विचार करते हैं कि उद्योग धंधों के वास्ते यहाँ पूँजी की कैसी स्थिति है। पहले देशी पूँजी की बात लें। हमारे देहातों और साधारण कस्बों में बेंकिंग या महाजनी की कोई संगठित व्यवस्था नहीं है। आदमी डाकखानों के सेविंग बैंकों में, तथा कुछ वर्षों से सहकारी बैंकों में अपनी बचत का रुपया जमा करने लगे हैं। परंतु साधारणतया स्थानीय आवश्यकताओं के लिए गाँव का महाजन ही पूँजी देता है। वह अपनी पूँजी नए कामों में बहुत कम लगाता है। कहीं-कहीं स्थानीय पूँजी से कुछ कार्य आरंभ किए गए हैं; उदाहरणवत् आटा

पीसने की चक्कियां (फ्लोर मिल), कपास के क्षेत्रों में जीन, प्रेस, और धान के क्षेत्रों में, धान कूटकर चावल निकालने की मिलें। जब किसानों को कुछ बचत होती है तो उनका वह रुपया किसी उद्योग-धंधे में न लगकर प्रायः ज़ेवरों में खर्च होता है। सरकारी कर्मचारी तथा अन्य पेशेवाले बहुधा अपनी पूँजी ज़मीन को ख़रीदने या रेहन रखने आदि में लगाना पसंद करते हैं, हाँ, कुछ समय से इन लोगों में, बैंकों में रुपया जमा करने की प्रवृत्ति बढ़ रही है।

यह तो देहातों तथा साधारण कस्बों की बात हुई; बड़े-बड़े नगरों और व्यापारिक क़स्बों में उद्योग-पूंजी की दशा अपेक्षा-कृत कुछ संतोष-जनक है। यहाँ बैंकों की सुविधा अधिक है, और आदमियों में अपनी बचत उद्योग तथा व्यापार में लगाने की प्रवृत्ति भी अधिक है। यहाँ जब अच्छे होशियार आदमी कोई औद्योगिक कार्य करना चाहते है तो बहुधा उन्हें आवश्यक पूँजी मिल जाती है। परंतु यहाँ भी कुछ कठि-नाइयां हैं। वर्तमान बैंकों की पद्धति औद्योगिक दृष्टि से हितकर नहीं है। उद्योग-धंधों के वास्ते जैसी बड़ी अवधि के लिए रुपया चाहिए, उसके मिलने की संगठित व्यवस्था नहीं है। मध्य श्रेणी के छोटे-छोटे साहसियों को औद्योगिक कार्यों के लिए पूंजी जुटाने में विशेष कठिनाई होती है, कारण, वे आवश्यक ज़मानत नहीं दे सकते, और, ऐसे प्रसिद्ध भी नहीं होते कि उनकी यथेष्ट साख हो। सहकारी बैंक जुलाहों आदि छोटे कारीगरों के लिए ही उपयोगी होते हैं। अस्तु, उद्योग-धंधों की उन्नति के लिए यथेष्ठ पूंजी की व्यवस्था होने की अत्यंत आवश्यकता है। प्रत्येक प्रांत में वहां की परिस्थिति और आवश्यकताओं का विचार करते हुए, अच्छे औद्योगिक बैंक होने चाहिए (संयुक्त-प्रांत में एक कंपनी खोली जा रही है, जो छोटे-छोटे उद्योग-धंधों की सहायता करेगी; इस कंपनी की पूँजी के निर्धारित मुनाफे की ज़िम्मेदारी प्रांतीय सरकार ने लेली है,

अर्थात् जब एक निर्धारित दर से कम मुनाफा होगा, तो उसकी कमी की पूर्ति सरकार करेगी।

मशीनें—आज-कल औद्योगिक संसार में अचल पूंजी लगाने या चल पूंजी को अचल करने की प्रवृत्ति बढ़ती जा रही है।* एक काम पहले-पहल मज़दूरों द्वारा होता है। कुछ समय में उसके करने के लिए किसी मशीन का आविष्कार हो जाता है। तब मज़दूरों को दी जानेवाली चल पूंजी मशीन में लगा दी जाती है। इससे, कम मज़दूरों की आवश्यकता रह जाती है; उन्हें दीजानेवाली वेतन की कुल रक़म में कमी हो जाती है, और व्यवस्थापकों को लाभ अधिक होने लगता है। अस्तु, आधुनिक काल में भारतवर्ष में भी मशीनों का उपयोग क्रमशः बढ़ रहा है। इनसे बड़ा लाभ यह है कि उत्पादन अपेक्षा-कृत अधिक होता है, माल अधिक मात्रा में, तथा कम खर्च में तैयार होने लगता है और वह सस्ता पड़ता है। परंतु मशीनें वर्तमान अवस्था में बेकारी बढ़ाती हैं, और इनसे पूँजी और मज़दूरों के पारस्परिक झगड़े भी होते हैं। पुनः कल-कारखानों में मज़दूरों का स्वास्थ्य और चरित्र दूषित होता है। इन दोषों को दूर करने का प्रयत्न किया जा रहा है; इस संबंध में, अगले परिच्छेद में लिखा जायगा।

---

* जो पूंजी बहुत दिनों तक काम नहीं देती, एक ही बार के उपयोग में ख़र्च हो जाती है, उसे चल, पूँजी कहते हैं; जैसे मज़दूरों को दिया जानेवाला वेतन, भट्ठी में काम आनेवाला कोयला, खेती का बीज आदि। जो पूँजी बहुत समय तक काम देती रहती है, एक ही बार के उपयोग में व्यय नहीं हो जाती, वह अचल पूँजी कहलाती है। इसमें शिल्प-शाला, यंत्र, औज़ार, रेल, जहाज़, खेती में काम करनेवाले बैल या घोड़े आदि की गिनती होती है।

विदेशी पूँजी का प्रयोग—आज-कल थोड़ी-बहुत विदेशी पूँजी तो अनेक देशों में लगी हुई है, पर भारतवर्ष में इसका प्रयोग बहुत ही अधिक है। भारतवर्ष में उद्योग-धंधों और बैंकों में जितनी स्वदेशी पूंजी लगी है, उसकी अपेक्षा विदेशी पूंजी कहीं अधिक है। फिर, सरकार ने जो रेल, डाक, तार, नहर आदि का कार्य किया है, वह अधिकतर विदेशी पूँजी से किया है; अकेले रेलों में लगभग आठ अरब रुपए लगे हुए हैं। इससे यहां विदेशी पूँजी के विशाल परिमाण का अनुमान सहज ही हो सकता है। अस्तु, यहां इसके प्रयोग की समस्या विशेष विचारणीय है।

साधारणतया विदेशी पूँजी से भी धनोत्पादन करना लाभकारी होता है। परंतु यहाँ भारतवर्ष में विदेशी पूँजी का प्रयोग हमारे इच्छा-नुसार नहीं किया जाता। उसके साथ उसे लगानेवाले विदेशी व्यवसाई भी आ जाते हैं। प्रथम तो हमें प्रायः सूद ही बहुत अधिक देना पड़ता है, फिर, इन विदेशी व्यवसाइयों का तो कुछ ठिकाना ही नहीं। वे बहुधा हमारी कारीगरी को नष्ट करके अपना मनमाना व्यापार करते हैं; जिससे वे बेढब लाभ उठाते हैं। कहने को तो यह हो जाता है कि भारत-वर्ष में विदेशी पूँजी के सहारे अमुक कारख़ाना नया खुल गया; परंतु हम नहीं कह सकते कि उस कारख़ाने को कहाँ तक 'भारतीय' कहना सत्य हो सकता है, जिसमें भारतीयों को कुलियों की मज़दूरी के अतिरिक्त कुछ विशेष प्राप्ति नहीं होती। तात्पर्य यह कि विदेशों से जो पूँजी आए, उसका उपयोग यहाँवालों के हाथ से होना चाहिए। प्रायः पाश्चात्य देशों में मज़दूरी यहां की अपेक्षा बहुत मंहगी है, तथा वहां कच्चे माल की भी कमी रहती है। इन बातों का विचार करके अनेक विदेशी कंपनियों के लिए भारतवर्ष में अपना कारख़ाना चलाना लाभ-दायक रहता है। भारतवर्ष में लोक-मत से कुछ प्रभावित होकर सरकार

जो संरक्षण-कर लगाने लगी है, उसका लाभ ये कंपनियां भली भाँति उठाती हैं। यदि यहां ऐसा नियम किया जाता है कि सुविधाएं उन्हीं कंपनियों को दी जायँ जो भारतीय विद्यार्थियों को अपने यहां शिक्षा दें, तो ये कंपनियां अपना मतलब गाँठने के लिए कुछ शिक्षा का दिखावटी कार्य कर देती हैं। भारत-सरकार, देशी राज्यों और धनी व्यापारियों को उचित है कि स्वयं यहाँ के विद्यार्थियों को औद्योगिक शिक्षा देने की समुचित व्यवस्था करें।

यह स्पष्ट है कि विदेशी पूँजी-पतियों से यहाँ के व्यापार के चौपट होने की आशंका है। इसके अतिरिक्त वर्तमान अवस्था में विदेशी पूँजी से देश की राजनैतिक पराधीनता भी बढ़ती है। अमेरिका के भूत-पूर्व राष्ट्रपति विलसन का कथन है कि "जितनी ही विदेशी पूँजी देश में आकर लगती और रहती है, उतना ही विदेशियों का प्रभाव बढ़ता रहता है। इसलिए पूंजी की चालें विजय की चालें हैं।" भारत-सरकार पर गोरे व्यापारियों का प्रभाव प्रसिद्ध है, उनके सामने प्रायः भारतवासियों के हिताहित का विचार नहीं होने पाता। जब कभी कोई राजनैतिक सुधार होने की बात उठती है, तो विदेशी पूँजीवाले हमारे भविष्य को निर्णय करने का अधिकार माँगते हैं। यदि अब अमरीका या और कोई देश यहाँ उद्योग-धंधों में पूंजी लगाएगा, तो वह ऐसे अधिकार से कब वंचित रहना चाहेगा! उसके पूँजी-पति भी भारतवर्ष को पराधीन बनाए रखने में अंगरेज़ व्यापारियों से सहयोग करेंगे।

देश की औद्योगिक उन्नति के लिए अभी कुछ समय तक विदेशी पूँजी की आवश्यकता से इनकार नहीं किया जा सकता। हाँ, यह ज़रूरी है कि हम न तो उसे सर्वथा निर्बाध रूप में लें, और न अत्याधिक परिमाण में ही। अतः उस पर बाधाएँ इस प्रकार सोच-विचार कर लगाई जानी चाहिए कि उस से लाभ अधिकतम, और हानि न्यूनतम हो। सरकार को

ऋण कम सूद पर मिल सकता है। उसे चाहिए कि अपने नाम और ज़िम्मेदारी से रुपया उधार लेकर भारतीय व्यवसायों की सहायता करे। साथ ही, देश में जो धन हो, उसका भी यथेष्ट उपयोग किए जाने की ज़रूरत है। अन्ततः अभीष्ट तो यही है कि देश की नई-नई औद्योगिक आवश्यकताओं की पूर्त्ति के लिए विदेशी पूँजी न लेनी पड़े, यथा-संभव सब काम देशी पूँजी से हो सके। विदेशी पूँजी की समस्या का वास्तविक हल इसी बात में है कि देश के अपने पूँजी-संबंधी साधनों की यथेष्ट उन्नति की जाय।

भारत के काम में न आने वाला धन—भारतवर्ष में कुछ धन ऐसा है, जो काम में नहीं आता, आदमी उसे ज़मीन में गाड़ कर रखते हैं, अथवा आभूषणों आदि में लगा देते हैं, उद्योग-धंधों आदि उत्पादक कार्यों में नहीं लगाते। रुपए को ज़मीन में गाड़कर रखने से वह अधिक उत्पत्ति नहीं करता उतना-का-उतना ही बना रहता है, और ज़ेवरों में लगाने से तो वह क्रमश कम होता जाता है। विगत वर्षों में अनेक स्थानों में ऐसा दृष्टि-गोचर हुआ है कि ज़मीन में गड़ी हुई संपत्ति का पता घर के केवल बड़े-बूढ़े को था, उसकी कहीं कुछ स्पष्ट लिखित सूचना न थी; संयोग से घर का बड़ा-बूढ़ा ऐसी अवस्था में मर गया कि वह अपने उत्तराधिकारियों को उसके विषय में कुछ न बता सका। इस का परिणाम यह हुआ कि घर में संपत्ति गड़ी रहने पर भी उस परिवार के व्यक्ति बहुधा बड़े आर्थिक संकट में ग्रस्त रहे। इस समय भी किसी-किसी देशी राज्य में पूर्वजों के समय का संचित ऐसा द्रव्य मौजूद है, जिसका स्वयं शासक को ठीक-ठीक पता नहीं। राज्य पर ऋण हो जाता है, उसका सूद देना हड़ता है परंतु संचित द्रव्य का उपयोग नहीं किया जाता, अथवा यों कहें कि उपयोग किया नहीं जा सकता। इसी प्रकार कुछ मंदिरों में भी आरती आदि की, और मठों में धर्मादे की,

कुछ संपत्ति ऐसी रहती है, जो किसी उपयोग में नहीं आती। यह संपत्ति क्रमशः बढ़ती रहती है। ऐसी संपत्ति ने प्राचीन काल में कभी-कभी विदेशी आक्रमणकारियों को आकर्षित किया है, तथा आज-कल भी उसके कारण कभी-कभी मंदिरों या मठों में चोरी होने के उदाहरण सामने आते हैं।

अस्तु, संचित धन को यथा-संभव किसी उपयोगी अर्थात् उत्पादक काम में लगाते रहना चाहिए। भारतवर्ष में, उसे वृथा पड़े रखने का दोष विशेष रूप से यहाँ की अशांति, और अनिश्चित राजनैतिक परिस्थिति के समय का बढ़ा हुआ है; अब, इस में क्रमशः शिक्षा, बैंकों, और उद्योग-धंधों की वृद्धि से सुधार हो रहा है; साथ ही जनता की आर्थिक कठिनाइयों ने भी इसे दूर करने में सहायता दी है।

भारतीय पूँजी की वृद्धि के उपाय—पूँजी बचत का फल है। आदमी जितना धन पैदा करते हैं, यदि उस सब को खर्च कर डालें, भविष्य में धनोत्पादन करने के लिए, उस में से कुछ बचा कर न रखें, तो पूँजी कहाँ से आए! अतः खर्च करने में मितव्ययिता का विचार रहना आवश्यक है; फ़ज़ूल-ख़र्ची रोकी जानी चाहिए। असभ्यता या अराजकता की दशा में मनुष्य अपनी भावी आवश्यकताओं के वास्ते अथवा भविष्य में धनोत्पादन करने के लिए, अपनी उपार्जित संपत्ति का कुछ भाग बचा कर रखना नहीं चाहते। जहाँ आदमी अधिकतर पारलौकिक विषयों का चिंतन करते और यही सोचते रहते हैं कि न-मालूम कब मर जाँय, वहाँ भी धन का विशेष संचय नहीं होने पाता। भारतवर्ष में पूँजी की वृद्धि के लिए जनता में शिक्षा के अतिरिक्त, मितव्ययिता और दूरदर्शिता के भावों का प्रचार होना चाहिए, ब्याह-शादी, नाच-रंग और जन्म-मरण आदि संबंधी फ़िज़ूल-ख़र्ची की विविध रीति-रस्में हटनी चाहिए तथा खेती, उद्योग-धंधों, और बणिज-व्यापार, के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार के बैंकों और

कंपनियों के खोलने तथा बढ़ाने की आवश्यकता है; जिनमें लोग साझी-दारी के नियमों से अपने संचित द्रव्य को लगाने में उत्साहित हों। इनका विशेष विवेचन आगे प्रसंगानुसार किया जायगा।

पाँचवाँ परिच्छेद

व्यवस्था और बड़ी मात्रा की उत्पत्ति

प्राक्कथन—भारतवर्ष के, उत्पत्ति के तीन साधनों—भूमि, श्रम और पूंजी—का विचार हो चुका। परंतु उत्पादन-कार्य तभी संभव है, जब इन तीनों की समुचित व्यवस्था हो। अब तो बहुत धनोत्पादन बड़ी मात्रा में, तथा कल-कारख़ानों द्वारा होने से व्यवस्था की आवश्यकता और भी बढ़ गई है।* इसलिए आधुनिक अर्थ-शास्त्र में इसे उत्पत्ति का पृथक् साधन माना जाने लगा है; इस परिच्छेद में व्यवस्था और बड़ी मात्रा की उत्पत्ति के संबंध में विचार किया जाता है।

व्यवस्था में प्रबंध का स्थान—व्यवस्था के अंतर्गत दो कार्य हैं—प्रबंध और साहस। कल-कारख़ानों में पृथक्-पृथक् आदमी के श्रम के स्थान पर बहुत-से आदमियों को इकट्ठे काम करना पड़ता है। इस दशा में निरीक्षण या प्रबंध करनेवाले की ज़रूरत पड़ती है। प्रबंधक सदैव यह विचारता रहता है कि उत्पादक साधनों से किस प्रकार तथा किस अनुपात में काम लिया जाय कि उत्पत्ति अधिक-से-अधिक हो।

* कुछ लेखक 'व्यवस्था' के स्थान पर 'संगठन'-शब्द का भी व्यवहार करते हैं।

जो रीति या साधन महँगे होंगे, उनके स्थान में वह सस्ते की खोज करके, उन्हें बदल देगा। प्रबंधक का कार्य निम्नलिखित होता है:—

(१) कारख़ाने में भिन्न-भिन्न प्रकार की आवश्यक योग्यता-वाले मनुष्यों को इकट्ठा करना और उनसे श्रम-विभाग के विकसित सिद्धांतों के अनुसार अधिक से अधिक काम लेना।

(२) कारख़ाने की जायदाद का निरीक्षण करना और अच्छे, बढ़िया यंत्रों और औज़ारों का इस्तेमाल कराना।

(३) उत्पत्ति के भेद, मात्रा तथा समय का निश्चय करना।

(४) आवश्यक कच्चे पदार्थों को समय पर तथा उचित मात्रा में मोल लेना, तैयार माल को अच्छे मूल्य में बेचने का प्रबंध करना।

(५) व्यापार के उतार-चढ़ाव का पूर्ण ज्ञान रखना और उससे समुचित लाभ उठाना।

साहस—व्यवस्था के अंतर्गत, प्रबंध के अतिरिक्त दूसरा कार्य साहस है। धनोत्पादन के लिए एक चीज़ बनाने या पैदा करने का विचार पहले किसी के मन में अवश्य आना चाहिए, और इस विचार को उसे कार्य-रूप में परिणत करने का साहस करना चाहिए। संभव है, दूसरे आदमियों को उसकी सफलता में संशय हो; साहसी को अपने उत्पादन-कार्य के हानि-लाभ की जोखम उठानी पड़ती है। साहसी का काम पूँजी लगानेवालों के काम से पृथक् है। साहसी पूंजी उधार लेकर, अथवा कंपनियों की सहायता से, अपना काम चला सकता है; वह उस काम के संचालन और हानि-लाभ आदि की सब ज़िम्मेदारी उठाता है। बहुत-से आदमी बिना जोखम की, और निश्चित आमदनी चाहते हैं। साहस का प्रतिफल अनिश्चित और अस्थिर होता है। जब किसी चीज़ के बनाने में कुछ हानि या लाभ हुआ, तो उसका धक्का या

आनंद पहले साहसी को ही होगा। हाँ, वह पीछे भूमि, श्रम और पूंजी की मात्रा कम या अधिक करके इस धक्के या आनंद को धनोत्पत्ति के अन्य साधनों तक पहुंचा देगा। यथेष्ट व्यावसायिक वृद्धि के लिए ऐसे आदमियों की ज़रूरत है, जो बड़े-दिलवाले हों, कभी हानि भी सहना पड़े, तो हिम्मत न हारें और नवीन कार्यों के लिए सदा साहसी रहें।

भारतवर्ष में प्रबंध और साहस—भारतवर्ष में प्रबंध और साहस की कमी है। ये कार्य ऐसे हैं जो बहुत-कुछ आदमी के व्यक्तित्व पर निर्भर होते हैं। शिक्षा से इनकी यथेष्ट योग्यता प्राप्त नहीं की जा सकती। हाँ, व्यावहारिक अनुभव इसके लिए बहुत उपयोगी है, और यह शिल्प-कार्यालयों तथा कारख़ानों में मिल सकता है। आवश्यकता है जिन आदमियों की रुचि और प्रवृत्ति इस ओर हो, उन्हें समाज तथा राज्य की ओर से समुचित सुविधाएँ दी जायँ। जो आदमी दूरदर्शी, विश्वसनीय, बड़ी-बड़ी उत्पादन-योजनाएँ करनेवाले, और औद्योगिक नेतागिरी के गुणवाले प्रतीत हों, उन्हें अपने विचारों को कार्य में परिणत करने का अवसर मिले, तो कभी-कभी कुछ विफलता होने पर भी कुल मिलाकर धनोत्पत्ति में बहुत लाभ ही होगा।

उत्पत्ति के तीन क्रम—पहले कहा गया है कि आधुनिक समय में उत्पत्ति का अधिकांश कार्य कल-कारख़ानों द्वारा होने के कारण व्यवस्था अर्थात् प्रबंध तथा साहस की आवश्यकता बहुत बढ़ गई है, अतः व्यवस्था-संबंधी अन्य बातों से पूर्व हमें यह विचारना चाहिए कि कल-कारख़ानों के ज़माने से पहले धनोत्पत्ति किस तरह होती थी, अथवा, अब भी इनके अभाव में वह किस तरह होती है। धनोत्पादन के प्रायः तीन क्रम होते हैं—

(१) स्वावलंबी समुदायों का ज़माना।

(२) छोटी मात्रा की उत्पत्ति—कारीगरों का ज़माना।

(३) बड़ी मात्रा की उत्पत्ति—कारख़ानों का ज़माना।

प्रारंभिक अवस्था में सभी देशों में पहला क्रम होता है। धीरे-धीरे दूसरे और तीसरे का आगमन होता है। पाश्चात्य देशों में तीसरे क्रम की बहुतायत है। भारतवर्ष में इसका अभी प्रारंभ हुआ है।

स्वावलंबी समुदाय—प्रारंभिक काल में मनुष्य प्रायः गाँवों में रहते हैं। प्रत्येक गाँव के रहनेवाले बहुधा अपनी आवश्यकताओं के पदार्थ स्वयं पैदा करते हैं, वे उनके लिए बाहर के आदमियों पर निर्भर नहीं रहते। इस अवस्था में तीन श्रेणियों के मनुष्य रहते हैं—(१) किसान, जो खेती करते हैं, (२) मज़दूर, जो किसानों के लिए काम करते हैं, (३) कारीगर, जो नित्य व्यवहारोपयोगी वस्तुएँ बनाते और टूटी-फूटी चीज़ें सुधारते हैं, और नौकर, जो इन सब कामों में सहायता पहुँचाते हैं।

इस अवस्था में, लोगों की आवश्यकताएँ बहुत कम रहती हैं। उनका काम अधिकतर कृषि-जन्य पदार्थों से चल जाता है। उद्योग या शिल्प की ज़रूरत कम होती है, और वे ही चीज़ें तैयार की जाती हैं, जो स्थानीय उपभोग के लिए आवश्यक हों। साथ ही उनका परिमाण भी यथा-संभव उतना ही रखा जाता है, कि वे वहां खप सकें। इससे स्पष्ट है कि इस दशा में उत्पत्ति छोटी मात्रा की होती है, इसमें विशेष-तया स्थानीय क्षेत्र की ही मांग का ध्यान रखा जाता है। स्वावलंबी समुदायों का बहुत उत्तम उदाहरण भारतवर्ष की प्राचीन ग्राम्य संस्थाएँ हैं। ये संस्थाएँ सभी अंगों से पूर्ण तथा स्वावलंबी होती थीं। हर गाँव में कुछ पुश्तैनी कार्य-कर्ता होते थे; जैसे पंडित, पुजारी, पहरेदार, महा-जन, सुनार, तेली, नाई, बढ़ई, लुहार, धोबी, जुलाहा, कुम्हार, चमार,

भंगी, और बहुधा भिखारी आदि भी। जो चीज़ गाँव में नहीं मिल सकती थी, वह बाज़ार-हाट लगने के समय लेली जाती थी। ऐसी हाट सप्ताह में एक या दो बार, कई गाँवों के किसी केंद्रस्थ स्थान में, लगती थी। फिर, तीर्थ-स्थानों में, साल में एक-दो बार मेले लगते थे, जहाँ दूर-दूर के व्यवसाई तथा व्यापारी इकट्ठा होकर ख़रीद-फ़रोख़्त करते थे।

छोटी मात्रा की उत्पत्ति—कारीगरों का ज़माना— अब धनोत्पत्ति की दूसरी अवस्था का विचार करें। इसमें भी उत्पत्ति छोटी मात्रा की ही होती है, परंतु वह अधिकतर कृषि-जन्य पदार्थों की ही नहीं होती, कारीगरी की चीज़ों का अनुपात खासा हो जाता है। यह अवस्था तब आती है, जब लोगों की आवश्यकताएँ बढ़ने लगती हैं। इस दशा में प्रत्येक कारीगर या उसका परिवार स्वतंत्र रूप से अपना काम करता है। वह उसका स्वयं निरीक्षक या प्रबंधकर्ता होता है। वह अपनी ही पूँजी लगाता, अथवा सूद पर रुपया उधार लेकर काम चलाता है। जो वस्तु वह बनाता है, उसका वही मालिक होता है। उसे वह अपने नगर में अथवा दूर भेजकर बेच डालता है।

भारतवर्ष में मुसलमानों के शासन-काल तक बहुत-सी दस्तकारियों की बड़ी उन्नति हुई। १८ वीं शताब्दी तक भारतवर्ष से बढ़िया-बढ़िया माल बाहर जाने के कारण यहाँ का हर एक नगर दूर-दूर के देशों में किसी-न-किसी ख़ास चीज़ के लिए प्रसिद्ध हो गया था। अब मशीनों के युग में वे बातें हवा हो गईं, तथापि भारतवासियों के औद्योगिक जीवन में हाथ की दस्तकारियों का बड़ा स्थान है।

बड़ी मात्रा की उत्पत्ति—कल-कारख़ानों का ज़माना— क्रमशः लोगों की आवश्यकताएँ बहुत अधिक बढ़ गईं; और उत्पादन

के लिए भाफ, और पीछे, बिजली आदि से चलने वाले यन्त्रों का आविष्कार हो गया। साथ ही आमोदरफ़्त के साधनों की वृद्धि हो गई। इस अवस्था में लोगों को अपनी चीज़ें खपाने के लिए स्थानीय क्षेत्र तक परिमित न रह कर दूर-दूर के देशों में जाने का विचार हुआ। चीज़ें बहुत बड़े परिमाण में बनाई जाने लगीं, बड़ी मात्रा की उत्पत्ति होने लगी। कल-कारख़ानों का ज़माना आ गया। इसमें मज़दूर कोई वस्तु अपने लिए नहीं बनाते; वे हज़ारों-लाखों की संख्या में इकट्ठे होकर एक पूँजीवाले व्यक्ति या कंपनी के अधीन काम करते हैं। जो सामान बनता है, उस पर कारख़ानेवाले का प्रभुत्व होता है; मज़दूरों को केवल उनके काम की मज़दूरी मिल जाती है। इस दशा में बड़ी मात्रा की उत्पत्ति होती है। आधुनिक व्यावसायिक जगत् के उन्नत देशों में कल-कारख़ानों का विस्तार बढ़ता जा रहा है, और इन बड़े-बड़े कारख़ानों की संख्या भी बढ़ रही है।

इस अवस्था में वस्तुओं का लागत-खर्च औसतन कम होता है, चीज़ें अपेक्षाकृत सस्ती बेचने पर भी खूब मुनाफ़ा रह सकता है। हाँ, पूँजी की, बड़े परिमाण में आवश्यकता होती है। बहुत से मज़दूरों के एक जगह काम करने से, उनके स्वास्थ्य तथा रहन-सहन आदि की समस्या भी उपस्थित होती है। वेतन का भी प्रश्न विचारणीय होता है। मज़दूरों के असंतुष्ट रहने की दशा में हड़ताल होती हैं। अथवा, कभी-कभी पूँजीपति ही अपनी शर्तें मनवाने के वास्ते उन पर दबाव डालने के लिए उनका काम पर आना बंद कर देते हैं, इसे 'द्वारावरोध' कहते हैं। इस प्रकार पूँजीपतियों और श्रमजीवियों का हित-विरोध होता है; इसे रोकने के लिए सरकारी और गैर-सरकारी प्रयत्न किए जाते हैं। इन प्रश्नों पर, आगे विचार किया जायगा। पहले आवश्यक पूँजी जुटाने की बात लेते हैं।

x Stock ...

मिश्रित पूँजीवाली कंपानियाँ—आज-कल बड़ी मात्रा में उत्पत्ति होने और कल-कारखानों से काम लेने में बड़ी-बड़ी पूँजी की ज़रूरत होती है, और व्यवस्थापक को इसका प्रबंध करना पड़ता है। बहुधा एक-एक व्यक्ति से इतनी पूँजी व्यवसाय-कार्य में नहीं लगाई जा सकती, इसलिए बहुत-से आदमियों की थोड़ी-थोड़ी पूँजी मिलाकर 'जोयँट स्टाक' अर्थात् मिश्रित पूँजी की कंपानियाँ स्थापित की जाती हैं। भारतवर्ष में इन कंपनियों का कार्य क्रमशः बढ़ रहा है। बहुत-से योरपियन उद्योग इसी प्रणाली से आरंभ हुए थे। वे भारतवासी भी, जिन्हें नए औद्योगिक कार्य आरंभ अथवा विस्तृत करने होते हैं, बहुधा ऐसी ही कंपनियाँ बनाते हैं। ये दो प्रकार की होती हैं—परिमित या 'लिमिटेड' देनदारी की, और अपरिमित या 'अनलिमिटेड' देनदारी की।

परिमित देनदारी की कंपनी के बंद होने पर उसके हिस्सेदारों की ज़िम्मेदारी, उसका सब ऋण चुकाने की, नहीं होती, केवल अपना-अपना हिस्सा चुका देने की होती है। अपरिमित देनदारी की दशा में प्रत्येक हिस्सेदार पर कंपनी का सब ऋण चुकाने की ज़िम्मेदारी रहती है। अपरिमित देनदारीवाली कंपानियों की साख तो अधिक होती है, परंतु उसमें हिस्सेदारों की हानि की बहुत संभावना होती है। अधिकतर कंपनियाँ परिमित देनदारीवाली ही खुलती हैं।

कंपनी के हिस्सेदार 'शेयर-होल्डर' कहलाते हैं, और उनकी ओर से कार्य-संचालन करनेवाले व्यक्ति, डाइरेक्टर (संचालक)। संचालक अपने प्रबंध-संबंधी अधिकार प्रायः एक ऐसी कंपनी या फ़र्म को सौंप देते है, जो मिश्रित-पूँजी-कंपनी में या तो स्वयं विशेष पूँजी लगाती है, या दूसरे पूँजी-पतियों को विशेष पूँजी लगाने के लिए तैयार करती है। प्रबंध-संबंधी अधिकारवाली इस फ़र्म को 'मेनेजिंग एजंट' कहते हैं। यह फ़र्म उक्त मिश्रित-पूँजी-कंपनी की कर्ता-धर्ता हो जाती है। इसके

अधिकार बहुत अधिक होते है, यहाँ तक कि मैनेजर का रहना न रहना बहुत-कुछ इसी की इच्छा पर निर्भर रहता है। मेनेजिंग एजंट बहुधा शेयर-होल्डरों के लाभ-हानि का यथेष्ट विचार नहीं करता, अतः जनता का उसके प्रति बहुत असंतोष रहता है। वर्तमान अवस्था में मेनेजिंग एजंट की प्रथा हटाई तो नहीं जा सकती, हाँ. उसके अधिकारों पर समुचित नियंत्रण रखा जाना चाहिए।

हर एक कंपनी को रजिस्टरी करानी होती है, और इसके लिए उसे कुछ नियमों का पालन करना पड़ता है। योग्यता-प्राप्त 'आडीटर' अर्थात् लेखा-परीक्षक कंपनी के वार्षिक हिसाब की नियमानुसार जांच करता है, इस जांच के बाद ही हिसाब सर्वसाधारण के लिए प्रकाशित किया जाता है, जिससे सब आदमी कंपनी की आर्थिक स्थिति भली प्रकार जान लें; यथा-संभव किसी को उसके संबंध में धोखा न रहे। कंपनियों की रजिस्टरी के कानून के अनुसार सन् १९३२-३३ ई० के अंत में यहां कुल मिलाकर ७,५४४ कंपनियां ब्रिटिश भारत (तथा वर्मा) में, और १,१७५ रियासतों में थीं। इन की प्राप्त-हिस्सा-पूँजी पौने तीन सौ करोड़ रुपए थी। ब्रिटिश भारत में सबसे अधिक कंपनियां व्यापार करने और तैयार माल बनानेवाली थीं; इन की संख्या २,९३५ थी। इन से कम संख्या क्रमशः बैंकिंग और उधार देनेवाली, तथा चाय और बीमा की कंपनियों की थी। प्रांतों के हिसाब से, अकेले बंगाल में ३,९६६ थीं, बंबई में १,०९६ और मद्रास में ९१७ थीं। संयुक्तप्रांत इस विषय में बहुत पीछे है, वहां केवल २७२ ही कंपनियाँ थीं। देशी रियासतों की कंपनियों में से लगभग आधी, बीमे की थीं; और, ९२४ कंपनियां अर्थात् लगभग ८० फी सदी अकेले ट्रावंकोर राज्य में थी। अस्तु, भारतवर्ष में मिश्रित पूँजी वाली कंपनियां अभी बहुत कम हैं, इसीलिए यहां बड़े-बड़े कल-कारखानों की भी कमी है; इस विषय पर विशेष विचार आगे किया जायगा।

कारखानों के मजदूरों का जीवन—कारखानों में काम करने वालों का जीवन उतना स्वतंत्र नहीं हो सकता; जितना कृषि-श्रमजीवियों का, अथवा घरू उद्योग-धंधों का काम करने वाले बढ़ई तथा राज आदि कारीगरों का होता है। यद्यपि हमारे देहात प्रायः मलिन हैं, परंतु फिर भी वहाँ खुली हवा और रोशनी का तो लाभ है ही। कारख़ानों में हरदम शोर मचानेवाली मशीन के पास घंटों काम करते रहने से श्रमजीवियों के स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव पड़ता है। श्रमजीवियों पर कारख़ानों के जीवन से सामाजिक और नैतिक प्रभाव भी बहुत बुरा होता है, ख़ास-कर जब-कि वहां औरतें भी काम करती हैं; इस हालत में घर पर छोड़े हुए बच्चों की देख-भाल भी नहीं होती।

भारतवर्ष की बहुत-सी मिलों में ठेकेदार मज़दूरों को भरती कराते हैं। इसके लिए उन्हें पुरस्कार भी मिलता है। इस पद्धति से मिलों के संचालक श्रमजीवी एकत्र करने की चिंता से मुक्त रहते हैं, परंतु श्रमजीवी प्रायः एक लोभी आदमी के अधीन हो जाते हैं। बालकों से भी काम लिया जाता है, जब कि चाहिए यह कि वे खुली हवा में स्वतंत्र जीवन व्यतीत करें; इससे नवयुवकों के शरीर का बड़ा ह्रास होता है।

कारख़ानों का क़ानून—कारख़ानों का पहला क़ानून सन् १८८१ ई० में पास हुआ। इसका संशोधन सन् १८६१ में और पुनः सन् १६११ई०के कानून से हुआ। अंतर्राष्ट्रीय मजदूर कानफ्रेंस के मंतव्यों के अनुसार, सन् १६२२ ई० में इस में कुछ संशोधन हुआ;तदनंतर सन् १६२३ और १६२५ ई० में भी कुछ सुधार हुआ। सन् १६२६ ई० में मज़दूरों की दशा की जाँच के लिए शाही कमीशन नियत हुआ था। उसकी सिफ़ारिशों का ध्यान रखते हुए सन् १६३४ ई० में भारतीय व्यवस्थापक सभा ने नया क़ानून बनाया, जिस में पुराने कानून की आवश्यक बातों का

समावेश कर दिया गया। यह नया क़ानून जनवरी १९३५ ई० से अमल में आने लगा। इस की मुख्य मुख्य बातें निम्न लिखित हैं:—

(१) बीस आदमियों से काम लेनेवाले कारख़ानों पर भी, अगर वहाँ मशीन से काम लिया जाता हो, यह क़ानून लागू होता है। प्रांतिक सरकारों को अधिकार है कि वे उन कारख़ानों को भी, जहाँ दस या अधिक आदमी काम करते हों, इस क़ानून के अंदर घोषित कर सकती है।

(२) काम करने के लिए बालकों की कम-से-कम उम्र बारह वर्ष निश्चित की गई है। पंद्रह वर्ष तक वे बालक माने जाते हैं। पंद्रह वर्ष से सतरह वर्ष तक के वे लड़के भी, जिन्हें बालिगों का काम करने का प्रमाण-पत्र न मिला हो, बालक समझे जाते हैं। बालकों से अधिक-से-अधिक छः घंटे काम लिया जा सकता है। उन्हें औसत से हर साढ़े पाँच घंटे में आधे घंटे का अवकाश देना आवश्यक है, तथा उनसे लगातार चार घंटे से अधिक काम नहीं लिया जा सकता।

(३) निरंतर साल भर चलने वाले कारख़ानों में काम करने का अधिक-से-अधिक ६० घंटे का सप्ताह नियत है, और किसी एक दिन में ११ घंटे से अधिक काम नहीं लिया जा सकता। किसी मौसम विशेष में काम करने वाले (जीन, प्रेस, चाय, चीनी, रबड़ आदि के) कारख़ानों में काम करने के अधिक-से-अधिक घंटे साधारणतया प्रति दिन दस, और प्रति सप्ताह चव्वन निर्धारित हैं।

(४) स्त्रियों को, और १८ वर्ष से कम आयु के लड़कों को जोखम के कुछ काम करने का निषेध है।

(५) कारख़ाने के मालिक पर श्रम-संबंधी अपराध में ५००) तक जुर्माना हो सकता है। चोट-चपेट लगने पर आहत मजदूरों को दान,

और चोट-चपेट के कारण मर जाने पर उसके कुटुंब के लिए कुछ धन देने की व्यवस्था है। मज़दूरों के कुशल-क्षेम संबंधी हवा पानी आदि कुछ अन्य बातों के लिए भी नियम निर्धारित हैं।

खानों में मज़दूरों का जीवन—भारतवर्ष में दो लाख से कुछ अधिक आदमी खानों में काम करते है, इनमें से लगभग दो-तिहाई कोयले की खानों में हैं। अधिकतर खानों में, मज़दूरों को ज़मीन के अंदर तथा बहुत नीचे काम करना होता है। कोयले की खानों में आग लगने की बहुत आशंका रहती है। पिछले दिनों ऐसी दुर्घटनाएं विशेष हुई हैं। कुछ खानों में किनारे पर पानी निकलता है, और इससे वहां बहुत सील रहती है। बड़ी खानों में ताज़ी हवा जाने आने का प्रबंध किया हुआ रहता है, पर छोटी खानों में यह बात नहीं होती। सूर्य का प्रकाश तो खानों में जा ही नहीं पाता। अतः इनमें मज़दूरों का स्वास्थ्य जल्दी बिगड़ने लग जाता है। फिर, मज़दूरों को शराब पीने की आदत पड़ जाती है, (दुर्भाग्य से कितने ही स्थानों में शराब, खानों के पास ही मिलने की व्यवस्था है), उससे वे अपनी कमाई—जो मामूली होती है—बहुत-कुछ उसमें उड़ा देते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि अपने भरण-पोषण के लिए भी उनके पास काफी नहीं रहता। फिर, दूध आदि की तो बात ही क्या ! अधिकांश मज़दूर ऋण-ग्रस्त बने ही रहते हैं, साहूकार उनसे खूब ब्याज वसूल करता है। इससे उनकी आमदनी में और कमी हो जाती है। ऐसी दशा में उनके पास स्वास्थ्य-प्रद मकान होने की कल्पना नहीं की जा सकती; प्रायः वे बहुत तंग, नमीवाले, और अंधकारमय स्थानों में गुज़र करते हैं, और विविध बीमारियों के शिकार बनते हैं।

सन् १९३३ई० में, जिन खानों पर, खानों का क़ानून लागू होता था, उनमें १४२ घातक और ६५१ अन्य बड़ी दुर्घटनाएँ हुईं। साधारण दुर्घटनाएँ

अलग रहीं। कुल मिलाकर १५३ मनुष्यों (१३० पुरुष और २३ स्त्रियों) की मृत्यु हुई, और ७०२ को बहुत सख़्त चोट आई।

खानों का क़ानून—इस क़ानून द्वारा कुछ बातों का सुधार होने में सहायता मिलती है। इस समय सन् १९३५ ई० का कानून अमल में आ रहा है, उसके पूर्व सन् १९२३ ई० का क़ानून व्यवहृत था, जो सन् १९०१ ई० के क़ानून का संशोधित स्वरूप था। वर्तमान क़ानून की कुछ मुख्य-मुख्य बातें निम्नलिखित हैं:—

(१) कोई श्रमी सप्ताह में छः दिन से अधिक काम में नहीं लगाया जा सकता।

(२) श्रमजीवी ज़मीन के ऊपर एक सप्ताह में ५४ घंटे, और एक दिन में दस घंटे से अधिक काम नहीं कर सकता।

(३) जो श्रमी ज़मीन के अन्दर काम करते हैं, उनका समय, ज़मीन के अन्दर जाना आरंभ करने से, लौट कर ऊपर आने तक गिना जाता है। यह सब समय नौ घंटे से अधिक नहीं होना चाहिए।

(४) पन्द्रह वर्ष से कम उम्र वालों से खानों में काम नहीं लिया जा सकता।

इन मज़दूरों की उन्नत्ति के संबंध में भी बहुत-कुछ वही वक्तव्य है, जो कारखानों के मज़दूरों के विषय में पहले कहा जा चुका है।

हड़तालों का कारण—बहुधा यह कहा जाता है कि अधिकांश औद्योगिक झगड़ों का, अथवा कम-से-कम इनकी वृद्धि का मुख्य कारण साम्यवाद या कम्यूनिज़्म, वर्गवाद या बोल्शेविज़्म आदि की लहर है; कुछ नेतागिरी के अभिलाषी मज़दूरों को, उनके मालिकों के विरुद्ध भड़का देते हैं, इससे वे हड़ताल करने पर उतारू हो जाते हैं; फिर,

यह क्रमशः व्यापक रूप धारण कर लेती हैं। इन बातों में तर्क और सत्यता कहां तक है? श्रमजीवियों के वास्ते हड़ताल का अर्थ अपनी बंधी हुई आजीविका के साधन को छोड़ना, भूखा-नंगा रहने के लिए तैयार होना, तथा अपने बाल-बच्चों को संकट-ग्रस्त होते देखना है। क्या यह कार्य ऐसा सरल और मनोरंजक है कि इसे मजदूर चाहे-जब, किसी के बहकाने-मात्र से, कर सकते हैं? वास्तव में बात यह है कि संसार में निम्न-श्रेणी के वर्गवालों में अब चेतनता आ रही है। वे अब-तक जो कष्ट-प्रद जीवन व्यतीत करते आ रहे थे, उसे अब सहन नहीं कर सकते। वे सोचते हैं कि हमारे परिश्रम से, हमारे 'मालिक' अधिकाधिक संपत्ति के स्वामी होते जा रहे है, और हमें अपनी प्राण-रक्षा भी दुर्लभ है।

अस्तु, हड़तालों के कुछ मुख्य कारण ये हैं:—

(क) व्यावहारिक पदार्थों की 'मंहगाई' और मज़दूरी या बोनस कम मिलना, या समय पर न मिलना।

(ख) मज़दूरों के साथियों को काम पर से हटा देना, और उनके संगठन को अस्वीकार करना।

(ग) मज़दूरों की बरख़ास्तगी तथा अन्य असुविधाएँ।

(घ) अधिक समय (घंटे) तक काम लेना।

(ङ) अफ़सरों तथा फ़ोरमैनों का दुर्व्यवहार।

(च) काम करने की जगह का स्वास्थ्य-प्रद न होना, और रहने के स्थान का यथेष्ट प्रबंध न होना।

श्रमजीवियों की उन्नति के उपाय—श्रमजीवियों के हितार्थ कई सुधारों की आवश्यकता है। बीस वर्ष से देश में अनिवार्य शिक्षा-

प्रचार का प्रस्ताव स्वीकार हो चुका है, परंतु अधिकांश स्थानों में इसके लिए यथेष्ट व्यवस्था नहीं हुई। स्कूलों के अतिरिक्त पुस्तकालय और वाचनालय भी ज़रूरी हैं। मज़दूरों के स्वास्थ्य और, रहने के लिए मकान आदि का उचित प्रबंध करना आवश्यक है। जहाँ मिलें नगर के बाहर हों और स्थान काफ़ी हो, वहाँ, उनके लिए, एक मंज़िल के सादे मकानों की सहज व्यवस्था हो सकती है। इस काम के लिए मिलों के निकट भूमि प्राप्त करने में सरकार का पूँजी-पतियों की सहायता करनी चाहिए, और कुछ नियमों के अनुसार श्रमजीवियों की बस्तियाँ बनाने की आज्ञा देनी चाहिए। बहुत-से मज़दूरों को ऋण लेने की बुरी आदत पड़ जाती है। महाजन इससे अनुचित लाभ उठाते हैं। इनसे उनकी रक्षा की आवश्यकता है। कारख़ानों के अधिपतियों को चाहिए कि श्रमजीवियों के लिए आवश्यक और अच्छी वस्तु, साधारण दर से देने का, किसी ख़ास महाजन को ठेका दे दें। सहयोग-समितियों से उनका बड़ा उपकार हो सकता है। मज़दूरों के दिल-बहलाव और खेल-कूद का, तथा उन्हें शराब और जुए आदि की बुरी आदतों से बचाए रखने का भी प्रबंध होना चाहिए। रोगियों के लिए चिकित्सा, और बुढ़ापे के समय के वास्ते प्रोविडेंट फंड की व्यवस्था आवश्यक है। मज़दूरों के स्वत्वों की रक्षा के लिए उनके संगठन की बड़ी ज़रूरत है।

श्रमजीवी-संघ—भारतवर्ष में पहले एक-एक व्यवसाय करनेवालों की लुहार, बढ़ई आदि एक-एक संगठित जाति थी। किंतु अब व्यवसाय और जाति का संबंध शिथिल होता जा रहा है, और स्वतंत्र व्यवसाइयों की अपेक्षा कल-कारख़ानों में काम करनेवाले मज़दूरों की संख्या बढ़ती जा रही है। इन्हें क्रमशः यह अनुभव होने लगा है कि यदि हम बिना संगठन के अलग-अलग काम करेंगे, और कम मज़दूरी स्वीकार करने के संबंध में आपस में प्रतियोगिता करेंगे, तो कारख़ाने का मालिक

हमारी फूट से लाभ उठाएगा, और कम-से-कम मज़दूरी देगा। इसलिए हमें मिलकर काम करना चाहिए। इस विचार से अब मज़दूर अपना एक संगठित संघ बनाते हैं। संघ के सभासद् नियमानुसार चंदा देकर एक कोष स्थापित कर लेते हैं। जब कोई सभासद बीमार पड़ जाता है, या किसी दुर्घटना, हड़ताल आदि के कारण काम करने-योग्य नहीं रहता, तो उसे इस कोष से सहायता दी जाती है। यदि किसी के व्यवसायोपयोगी औज़ार आदि नष्ट हो जाते हैं, तो वे ख़रीद दिए जाते हैं। यह संघ मज़दूरों के सुधार, शिक्षा, मनोरंजन और स्वास्थ्य आदि के विषय में यथा-शक्ति ध्यान देता रहता है। मज़दूरी की दर ऊँची रखने के लिए कभी-कभी छोटे-छोटे श्रमजीवी-संघ इस बात की भी कोशिश करते हैं कि उनके यहाँ काम करनेवालों की संख्या परिमित रहे। वे नए मज़दूरों को, बाहर से आकर, वह काम नहीं करने देते। इन संघों का बहुधा यह काम भी रहता है कि वे निर्बल मज़दूरों को समर्थ पूँजीपतियों का सामना करने की शक्ति प्रदान करें।

भारतवर्ष में पहला ट्रेड-यूनियन या मज़दूर-संघ सन् १९१८ ई० में स्थापित हुआ। पश्चात् क्रमशः इन की वृद्धि होती गई; बंबई में विशेष प्रगति हुई; अब तो भारतवर्ष के सभी मुख्य औद्योगिक स्थानों में मज़दूर-संघ कार्य कर रहे हैं। सन् १९३३-३४ में ब्रिटिश भारत में कुल मज़दूर-संघ दो सौ, और उनके सदस्य दो लाख के लगभग थे। अधिकतर स्थानों में, संघों का संगठन या शक्ति विशेष प्रभावशाली, नहीं है। अन्यान्य बाधाओं में, इन्हें यथेष्ट आर्थिक साधन भी प्राप्त नहीं हैं।

पूँजी और श्रम का संघर्ष—आधुनिक औद्योगिक संसार में पूँजी और श्रम का संघर्ष बढ़ता जा रहा है। सन् १९२९ ई०में औद्योगिक झगड़े १३४ हुए, और सन् १९३३ ई० में १४६। इस बीच में,

१६२८ में तो इन की संख्या २०३ तक पहुँच गई। इन में आधे से अधिक अकेले बंबई प्रांत में थे, और लगभग ३० फ़ी सदी बंगाल में। व्यवसाय की दृष्टि से सब से अधिक (११०) झगड़े रूई और ऊन की मिलों में हुए; बंबई में रूई का कारोबार ही मुख्य है। सन् १६३३ ई० के १४६ झगड़ों में १ लाख ६५ हज़ार आदमी व्यस्त थे। और, उन झगड़ों के कारण इतने काम की क्षति हुई जितना एक लाख आदमी मिल कर बाईस दिन में कर सकते हैं।

हित-विरोध-नाशक उपाय—आज-कल कारखानों के मालिक यदा-कदा द्वारावरोध करते हैं, तो हड़तालें तो मामूली बात हो गई हैं। और, द्वारावरोध हो, या हड़ताल, इन से मालिक और मज़दूर दोनों का ही नुक़सान है। जनता के भी दु:खों का अंत नहीं। धनोत्पत्ति में भी ये बहुत बाधक हैं। इनसे बचने के लिए पूँजी और श्रम के पारस्परिक हित-विरोध को दूर किया जाना चाहिए। इसे रोकने के उपाय यह हैं:—(१) कारखाने से होने वाले लाभ का काफ़ी अंश मज़दूरों में बाँट दिया जाय (२) मज़दूर अपनी थोड़ी-थोड़ी पूँजी इकट्ठी करके कारखानों में लगाएँ और इस प्रकार कारखाने से होने वाले लाभ में हिस्सा लें, (३) सब मजदूर एक-मात्र अपनी ही पूँजी से (और अपने ही श्रम से) कारखाने को चलाएँ; इस दशा में कारखाना उनका ही होगा, दूसरा पक्ष होगा ही नहीं, और इसलिए विरोध की बात भी न रहेगी।

समझौते की व्यवस्था—अब हम यह बतलाते हैं कि भारतवर्ष में इस संबंध में क्या व्यवस्था है। यहाँ बंगाल और बंबई में सरकार ने हड़तालें रोकने के उपाय ढूँढ़ने के लिए कमेटियाँ स्थापित की थीं। बंगाल में तो यह राय ठहरी कि सब कारख़ानेवालों को मालिक और मजदूरों के प्रतिनिधियों की सम्मिलित कमेटी बनानी चाहिए, जिस

में मज़दूर अपने सुख-दुःख की फ़रियाद पहुँचाएँ। किंतु बंबई की कमेटी ने यह राय दी कि पहले तो मालिकों और मज़दूरों को आपस ही में समझौता कर लेना चाहिए; परंतु यदि किसी तरह यह संभव न हो, तो सरकार एक जाँच-कमेटी क़ायम करे, और ज़रूरत हो, तो एक औद्योगिक अदालत भी खोल दी जाय।

सन् १९२४ ई० में बंबई में एक क़ानून बनाने का विचार हो रहा था, कि भारत सरकार ने देश भर के लिए क़ानून बनाने का निश्चय किया। सन् १९२६ ई० में मज़दूर-संघ-क़ानून बनाया गया, वह जून १९२७ ई० से अमल में आया। प्रांतीय सरकारों की सम्मति लेकर सन् १९२९ ई० में भारत सरकार ने उसमें संशोधन करके पांच वर्ष के वास्ते दूसरा क़ानून बनाया। इसके अनुसार यह व्यवस्था की गई, कि जब दोनों पार्टियां चाहें, सरकार जाँच-अदालत या समझौता-बोर्ड की स्थापना करे। इनमें जो व्यक्ति काम करे, वह स्वतंत्र हो, अर्थात् उसका किसी पार्टी से या इस प्रकार के उद्योग से, व्यक्तिगत संबंध न हो। इनकी रिपोर्ट प्रकाशित की जाया करे। रेल आदि सार्वजनिक उपयोगिता के कामों में मासिक वेतन पर लगे हुए मज़दूर, हड़ताल करने से निर्धारित समय पूर्व, अपने उक्त विचार की सूचना दिया करें। मालिक भी पूर्व सूचना देकर द्वारावरोध किया करें।

इस क़ानून की अवधि सन् १९३४ ई० तक थी, परंतु सरकार ने इसे अब स्थाई कर दिया है। जब से क़ानून पास हुआ है, देश में लगभग एक हज़ार हड़तालें और द्वारावरोध हो चुके हैं, परंतु क़ानून का उपयोग छः वर्ष में छः बार भी नहीं हुआ, इसके उपयोग के लिए आवेदन भी विशेष नहीं किया गया। इसका मुख्य कारण यह है कि इसके वास्ते दोनों पार्टियों की इच्छा होना आवश्यक माना गया है। आवश्यकता है कि एक पार्टी के आवेदन पर भी इसका उपयोग हो सके, क्योंकि

यह संभव है कि दूसरी पार्टी की शक्ति और साधन पर्याप्त हों, और वह इस विषय में निश्चिंत होकर अपनी ज्यादती करती रहे।

कुछ नेताओं का मत है कि उपर्युक्त क़ानून मज़दूरों में पैदा होने वाली राजनैतिक जागृति का दमन करने के लिए बनाया गया है। इससे मज़दूरों की स्वतंत्रता कम होती है, उनके हड़ताल करने के अधिकारों पर आघात पहुंचता है, जिसका आशय, उन्हें अपनी रक्षा करने के अधिकार से वंचित करना है। निदान, इस क़ानून के प्रति जनता में बहुत असंतोष है। संक्षेप में, सरकार मज़दूरों के प्रश्न की ओर कुछ ध्यान देने लगी है, परंतु अभी बहुत-कुछ कार्य होना शेष है।

विशेष वक्तव्य—अन्यान्य औद्योगिक देशों की तुलना में, भारतवर्ष में, मज़दूरों के संगठन बहुत कम हैं, और, उनकी वृद्धि की बड़ी आवश्यकता है। परंतु स्मरण रहे, ये जितने शक्तिशाली होंगे, उतने ही पूँजीपतियों के भी, इनके विरुद्ध प्रबल संगठन होंगे। इन स्पर्द्धा-पूर्ण संगठनों से यह धारणा हो जाती है कि पूँजीपतियों और श्रमजीवियों की भलाई में आवश्यक और अनिवार्य विरोध है। प्रत्येक को यह चिंता बनी रहती है कि कहीं विरोधी संघ का पलड़ा अधिक भारी न हो जाय। इसलिए हम इन संघों की स्थापना की प्रथा को एक सामयिक युक्ति-मात्र समझते हैं, यह हमारा आदर्श नहीं। परमात्मा करे, औद्योगिक संसार के लिए वह समय शीघ्र आ जाय, जब एक दूसरे के विरुद्ध दलबंदी करने की ज़रूरत ही न रहे; दोनों पक्ष पारस्परिक हितों का यथेष्ट ध्यान रक्खें।

छठा परिच्छेद

खेती

उत्पत्ति के विविध साधनों भूमि—श्रम, पूँजी और व्यवस्था—का भारतीय दृष्टि से विचार कर चुकने पर अब यहाँ की खेती और उद्योग-धंधों पर विचार करना है। इस परिच्छेद में खेती का विषय लेते हैं।

हमारी खेती की उपज—जैसा कि पहले बताया जा चुका है, वर्मा-रहित ब्रिटिश भारत में २१ करोड़ एकड़ भूमि जोती जाती है। यहाँ के भिन्न-भिन्न भागों की जल-वायु, उष्णता, तथा तरी आदि विविध प्रकार की होने से यहाँ प्रायः सब प्रकार के खाद्य पदार्थ उत्पन्न होते हैं। अन्नों में यहाँ चावल, गेहूँ, चना, ज्वार, बाजरा, जौ, मकई, आदि मुख्य हैं। दालों में मूंग, उड़द, अरहर, मटर, मसूर आदि पैदा होती हैं। तेलहन में तिल, सरसों, अलसी आदि प्रधान हैं। अन्य खाद्य पदार्थों में गन्ना, तथा विविध फल, सब्ज़ी, मसाले और मेवा आदि होती हैं। अखाद्य पदार्थों की पैदावार में कपास, सन (जूट), नील, अफ़ीम, कहवा, चाय, तमाखू और पशुओं का चारा विशेष उल्लेखनीय हैं।

कृषि-जन्य पदार्थों की मात्रा की दृष्टि से भारतवर्ष का संसार में तीसरा नंबर है। सब देशों की सन की माँग यही पूरी करता है, और

गेहूँ, कपास, चावल आदि की पैदावार में यह उनके सामने अच्छा स्थान रखता है। परंतु देश-निवासियों की आवश्यकताओं को देखते हुए यहाँ की उपज कम है (खाद्य पदार्थों की अन्य देशों में निर्यात हो जाने से तो यह कमी और भी बढ़ जाती है)। तुलना करने पर मालूम हुआ है, कि यहाँ प्रति एकड़ भी गेहूं, जौ, कपास, गन्ने आदि की उत्पत्ति, कई देशों से कम होती है। इसका यह आशय नहीं कि हमारी भूमि अन्य देशों की ज़मीन से कम उपजाऊ है, क्योंकि कृषि-विभाग के अफ़सर इसी ज़मीन पर नए तरीक़ों से खेती करके उपज दूनी-तिगुनी कर लेते हैं। बंबई-प्रांत के कृषि-विभाग के भूतपूर्व डाइरेक्टर श्री० कीटिङ्ग साहब का यह कहना है कि भारत में नए तरीक़ों के उपयोग से अस्सी फ़ी-सैकड़ा उपज आसानी से बढ़ाई जा सकती है। परंतु इसके लिए हमें किसानों की असुविधाएँ दूर करने की आवश्यकता है।

कृषि-संबंधी बाधाएँ—भारतवर्ष में कृषि-संबंधी मुख्य-मुख्य बाधाएँ ये हैं—

१—किसान अशिक्षित और निर्धन हैं। उन्हें ब्याज बहुत देना होता है। ग़ैर-मौरूसी, और शिकमी-दर-शिकमी काश्तकारों से लगान बहुत लिया जाता है।

२—उनकी ज़मीन बहुत छोटे-छोटे टुकड़ों में विभक्त है, जो बहुधा दूर-दूर भी हैं।

३—बहुत सी भूमि बंजर है, या परती छोड़ दी जाती है।

४—देश के कई भागों में सिंचाई के साधन नहीं है।

५—उत्तम बैल, बीज, खाद और औज़ारों की कमी है।

६—यहाँ बढ़िया और नई किस्म की चीज़ें पैदा नहीं की जाती।

किसानों की निर्धनता और निरक्षरता—अब हम उपर्युक्त बाधाओं के निवारण के संबंध में क्रमशः विचार करते हैं। किसानों की निर्धनता कितनी अधिक है यह पहले, ('श्रम' शीर्षक परिच्छेद में) बताया जा चुका है। उन की आय का बड़ा भाग लगान और सूद में चला जाता है। इन दोनों मदों में कमी होनी चाहिए। इस विषय में सविस्तर आगे प्रसंगानुसार लिखा जायगा। इसके अतिरिक्त, वर्तमान अवस्था में किसान अपनी शेष आयका खासा भाग मुकद्दमेबाज़ी, या विवाह-शादी और मृतक-भोज आदि सामाजिक कार्यों में खर्च कर डालते हैं, इसे भी कम करने की आवश्यकता है। इसमें विशेष सफलता, किसानों में ज्ञान का प्रसार होने पर मिलेगी। उनकी शिक्षा कैसी हो, यह पहले बताया जा चुका है।

खेतों के छोटे-छोटे और दूर-दूर होने को रोकने के उपाय—भारतवर्ष में बहुत-से खेतों का क्षेत्रफल एक-एक दो-दो एकड़ भी नहीं है। कितने ही खेतों का विस्तार तो केवल आधा-आधा एकड़ ही है, अथवा इससे भी कम। इसके अतिरिक्त अनेक किसानों के पास एक से अधिक खेत हैं, जो प्रायः एक-दूसरे से दूर-दूर पर हैं। इससे काश्तकारों को बहुत नुक़सान होता है—आने-जाने में उनका बहुत-सा समय नष्ट हो जाता है, उन्हें वैज्ञानिक यंत्र इत्यादि का उपयोग करने में बहुत असुविधा होती है तथा वे उससे यथेष्ट लाभ नहीं उठा सकते, रखवाली करने में बहुत दिक़्क़त होती है, उन खेतों की मेंड़, तथा उनमें जाने के लिए रास्ता बनाने में और उनमें नहर से पानी ले जाने में बड़ी अड़चन पड़ती है, और काश्तकारों का पारस्परिक झगड़ा भी बढ़ता है। इन हानियों का दूरी-करण आवश्यक है, और उसका एक-मात्र साधन यह है कि प्रत्येक किसान की जोत के खेत एक स्थान में—एक चक में—हो

जायँ, और भविष्य में उनका छोटे-छोटे टुकड़ों में बाँटा जाना क़ानूनन रोक दिया जाय। इसकी विधि यह है कि जिस गांव के किसान चक-बंदी के लाभ समझ जाते हैं, वहाँ एक सहकारी समिति सब किसानों से प्राय: चार वर्ष तक के लिए त्याग-पत्र लिखा लेती है। फिर, सब ज़मीन के चक बनाकर वे किसानों में उचित परिमाण में इस तरह बाँट दिए जाते हैं कि प्रत्येक किसान की भूमि एक ही स्थान में हो जाय। और, हर एक किसान को दी जानेवाली भूमि का मूल्य उतना ही हो, जितना पहले उस किसान की ज़मीन के विविध टुकड़ों का था। इस भूमि-विभाजन में सहकारी समिति के दो-तिहाई सदस्यों का सहमत होना आवश्यक है। चार वर्ष के बाद, यदि किसी किसान का विरोध न हो (और, प्राय: विरोध नहीं होता) तो उक्त भूमि-विभाजन की व्यवस्था स्थाई कर दी जाती है।

आज-कल खेतों के बटवारे का मुख्य कारण हिन्दू और मुसलमानों का दाय-विभाग-क़ानून है। इस क़ानून में ऐसा परिवर्तन हो जाना चाहिए कि किसी हक़दार को खेत के उतने भाग से कम मिलना नाजा-यज़ समझा जाय जितने से उसके परिवार का पोषण हो सके।* और, जब कोई ऐसा प्रसंग आए, तो पूरा खेत सब हक़दारों में ही नीलाम कर दिया जाय। जो उसके लिए सबसे ज़्यादह रुपए देने को तैयार हो, उसी को वह खेत मिले, और दूसरे हक़दारों को उनके हिस्से के अनुसार रुपया

---

* देश के भिन्न-भिन्न भागों की भूमि की उत्पादकता पृथक्-पृथक् होने से प्रत्येक किसान के लिए समान भूमि निर्धारित करना उचित नहीं हो सकता। एक जगह तीन-चार एकड़ की भूमि की उपज इतनी हो सकती है जितनी अन्य स्थान की दस-बारह या इससे भी अधिक एकड़ भूमि की।

दिखा दिया जाय। हम सारी ज़मीन बड़े लड़के को दिए जाने के पक्ष में नहीं हैं, ऐसा करना हिंदू और मुसलमान, दोनों के धर्म-शास्त्रों के सिद्धांत के विरुद्ध होगा। उपर्युक्त थोड़े-से परिवर्तन से ही अभीष्ट-सिद्धि हो सकती है।

बंजर-भूमि—ब्रिटिश भारत में फ़ी-सैकड़े लगभग १८ भूमि ऐसी है जो कृषि-योग्य, किंतु बंजर है। यह आसाम मध्य-प्रांत, पंजाब, मदरास, संयुक्त प्रांत आदि विविध-प्रांतों में है। विज्ञान की सहायता से इस भूमि की समस्या बहुत-कुछ हल हो सकती है। मिट्टी का परीक्षण और विश्लेषण करके यह मालूम किया जाता है कि इस में कौन-कौन-से तत्व किस परिमाण में विद्यमान हैं; कृषि की दृष्टि से उसका कौन-सा तत्व अधिक है, और कौन-सा कम। पश्चात् उस में ऐसा कृत्रिम तथा रासायनिक खाद दिया जाता है, जिससे विविध तत्वों का अनुपात ऐसी मात्रा में हो जाय कि उस मिट्टी में कोई उपयोगी फसल भली-भाँति पैदा हो सके। जर्मनी आदि देशों में, यह कार्य बहुत सफलता-पूर्वक किया गया है। भारतवर्ष में भी इस के प्रयोग की बहुत आवश्यता है। यहाँ कुछ स्थानों में यह अनुभव किया गया है, कि जिस भूमि में खार अधिक हो, उसमें गुड़ के शीरे का खाद देने से वह काफ़ी उपजाऊ हो सकती है।

परती भूमि का उपयोग—यहाँ प्रति-वर्ष लगभग १० फ़ी सैकड़े भूमि ऐसी होती है, जिस पर एक फ़सल बोकर बाद में उसे परती छोड़ दिया जाता है। जिसमें वह आराम कर ले और उसके जो-जो तत्व फ़सल बोने से चले गए हैं, वे वायु-मंडल द्वारा उसमें आ जायँ। विचार-पूर्वक फ़सलों को हेर-फेर से बोने का सिद्धांत काम में लाने से परती भूमि पर फिर खेती की जा सकती है। इसका अभिप्राय यह है कि भूमि में एक फ़सल के बाद दूसरी ऐसी फ़सल बोई जाय,

जो उन तत्वों को लेने-वाली हो, जो पहली फ़सल के तैयार होने के बाद शेष हों। इस बीच में वायु-मंडल द्वारा अन्य तत्वों की पूर्ति हो जायगी। उदाहरणार्थ मकई, नील या सन के बाद गेहूँ, ज्वार के बाद जौ या मसूर, मटर या अलसी, कपास के बाद मकई, जूट के बाद चावल, और ज्वार-बाजरे या गेहूँ के साथ-साथ दालें या तेलहन बोए जा सकते हैं। इस प्रकार भूमि सारे वर्ष जोती जा सकती है, और निरर्थक परती छोड़नी नहीं पड़ती।

सिंचाई—इस खंड के पहले परिच्छेद में बताया जा चुका है कि भारतवर्ष के कुछ भाग ऐसे है, जिनमें वर्षा बहुत कम होती है, तथा कुछ भागों में बर्षा काफ़ी होने पर भी अनिश्चित रहती है। फिर, चावल और गन्ने आदि की कुछ फसलें ऐसी हैं, जिन्हें जल काफी और नियमित रूप में मिलना चाहिए; वर्षा से बहुत कम स्थानों में ऐसा होता है। इसके अतिरिक्त, जन-संख्या की वृद्धि के कारण साल में दूसरी फ़सल की आवश्यकता होती है; और, अधिकांश जन-संख्या की आजीविका का मुख्य आधार कृषि ही है। इन सब कारणों से यहाँ सिंचाई की आवश्यकता स्पष्ट है।

सिंचाई के लिए यहाँ कुए और तालाब तो प्राचीन काल से हैं, परंतु नहरों का उल्लेख विशेषतया मुसलमानों के समय से ही मिलता है। संयुक्त-प्रांत, पंजाब, मदरास, बंबई और बिहार में कुओं से सिंचाई होती है; पंजाब, संयुक्त-प्रांत और मदरास में नहरों से भी बहुत काम लिया जाता है। मैसूर, हैदराबाद, पूर्वी मदरास, राजपूताना, और गुजरात में तालाब सिंचाई के काम आते हैं; मदरास के पूर्वी भाग में कुछ तालाबों का घेरा कई-कई मील है। कुए प्रायः कृषकों के स्वयं बनवाए हुए हैं, कहीं-कहीं धनी-मानी या परोपकारी सज्जनों ने बनवा दिए हैं; सरकार ने भी कुछ दशाओं में उनके लिए सहायता दी है। तालाब

जनता तथा सरकार दोनों के ही द्वारा बनवाए गए हैं। नहरों का बनवाना साधारण आदमियों के वश की बात नहीं, इन्हें तो राजा-महाराजा अथवा सरकार ही बनवा सकती है।

भारतवर्ष में सरकारी नहरों के दो भेद हैं:—(१) उत्पादक, जिनसे इतनी आय हो जाय कि उनके चलाने का खर्च तथा उनमें लगी हुई पूँजी का सूद आदि निकल सके और कुछ लाभ भी हो जाय, (२) रक्षात्मक, जिनसे ऐसी आय नहीं होती कि आवश्यक खर्च निकालने के बाद उनमें लगी हुई पूँजी का सूद निकल सके। ये कार्य दुर्भिक्ष-निवारण के लिए किए जाते हैं। भारतवर्ष में नहरों के निर्माण में विशेष ध्यान इसी शताब्दी में दिया गया है। सन् १९०३ ई० के आबपाशी-कमीशन की रिपोर्ट के बाद सरकार ने कई नहरें बनवाई हैं। पंजाब में नहरें निकलने से कई जगह अच्छी सुन्दर नहरी बस्तियाँ या उपनिवेश (कालोनी) हो गए हैं। इनकी पैदावार तथा आबादी पहले से कई गुना बढ़ गई है। संयुक्त-प्रांत में शारदा नहर निकाली गई है, इससे कई लाख एकड़ भूमि में आबपाशी होगी। सिंध में सक्खर बाँध बनाया गया है, जिससे सिंध की लाखों एकड़ बंजर भूमि हरी-भरी और खूब उपजाऊ होने की आशा है।

सन् १९३२-३ ई० में वर्मा-रहित ब्रिटिश भारत में कुल नहरों और उनकी शाखाओं की लंबाई २०,६७६ मील, तथा उनसे निकलने वाले बंबों और नालों की लंबाई ४९,३८१ मील थी। उक्त वर्ष में सरकारी और निजी नहरों, तालाबों, कुओं तथा अन्य साधनों से कुल मिलाकर ४८४ लाख एकड़ भूमि सींची गई थी, जब कि जोती हुई संपूर्ण भूमि का क्षेत्रफल २,०८९ लाख एकड़ था। इससे स्पष्ट है कि १,६०५ लाख एकड़ अर्थात् ७५ प्रति-सैकड़े जोती हुई भूमि का अवलंब केवल वर्षा पर था। यह ठीक नहीं। नहरों की वृद्धि की यहाँ बहुत आवश्यकता है,

विशेषतया दक्षिण, मालवा, गुजरात, मध्य-प्रांत, सिंध और राजपूताने के अनिश्चित वर्षावाले इलाकों में।※

समुद्र के निकटवर्ती तथा अन्य जिन प्रांतों में हवा निरंतर चलती है, वहां हवा से चलनेवाले रहँट द्वारा कुओं से जल निकालने की विधि बहुत लाभकारी हो सकती है। संयुक्त-प्रांत आदि कुछ प्रांतों में 'ट्यूब वेल' नामक कुओं का प्रचार बढ़ता जा रहा है; इन्हें 'पाताल-फोड़' कुए कहते है। इनकी गहराई बहुत अधिक होती है, जहाँ से पानी का अनंत श्रोत मिलता है। इन कुओं में, सिंचाई आदि के लिए जल की कमी नहीं होती। जल निकालने का काम विद्युत शक्ति से लिया जाता है, जिसके विषय में अन्यत्र लिखा गया है। श्री० डा० बालकृष्ण जी ने लिखा है कि आजकल कई उन्नत देशों में बिना सिंचाई की खेती 'ड्राई फार्मिंग' का कार्य बढ़ रहा है। अमरीका में जल की कमी से फ़सलें नहीं मर सकतीं, क्योंकि किसान लोग वर्षा-ऋतु में ही अपने खेतों को ऐसा तैयार कर लेते हैं कि उनके नीचे काफ़ी जल रहता है, और जिस भूमि पर बारह इंच की वर्षा होती हो, वह लहलहाते खेतों में परिवर्तित की जा सकती है। भारतवर्ष में भी इस रीति के प्रचार का विचार होना चाहिए। यहाँ राजपूताना सिंध आदि बहुत खुश्क प्रदेश हैं।

खेती के पशुओं आदि का सुधार—भारतवर्ष में खेती पशुओं, और विशेषतया बैलों द्वारा होती है। यहाँ इनकी दशा कैसी है, यह पहले बताया जा चुका है। इनकी नस्ल सुधारने, इनके लिए चरा-गाहों का प्रबंध होने और स्वयं किसानों की आर्थिक दशा ऐसी होने की

※ नहरी ज़मीन में नमी और ऋतु-ज्वर की अधिकता होती है; इसका राज्य की ओर से उपाय किया जाना चाहिए।

आवश्यकता है कि वे इन्हें भली-भाँति पुष्टिकर भोजन दे सकें, स्वास्थ्य-प्रद वातावरण में रख सकें और आवश्यकता होने पर उनकी चिकित्सा आदि की समुचित व्यवस्था कर सकें।

वर्तमान अवस्था में बहुत कम किसान अच्छे बढ़िया बीज, खाद और औज़ारों का उपयोग करते हैं। सहकारी समितियों, तथा सरकारी कृषि-विभाग से इस विषय में यथेष्ट सहायता मिलनी चाहिए।

बढ़िया तथा नई किस्म की चीज़ों की उत्पत्ति—हमारे किसान जैसे-तैसे पैदावार का परिमाण बढ़ाने की तो फ़िक्र करते हैं, परंतु उसे बढ़िया प्रकार का करने की ओर प्रयत्न-शील नहीं होते। अन्य अनेक देशों में कई खाद्य पदार्थ तथा अन्य कृषि-जन्य पदार्थों का रूप-रंग और आकार आदि बदल कर उनकी उपयोगिता बहुत बढ़ा दी गई है, और दूसरे पदार्थों के संबंध में ऐसा प्रयत्न किया जा रहा है। भारत-वर्ष में ऐसा सफल प्रयत्न विशेषतया रूई में हुआ है। अब यहाँ मिश्र की तरह की रुई पैदा की जाने लगी है, जिसका सूत बहुत महीन होता है। सरकारी फार्मों में कुछ अन्य पदार्थों के प्रयोग हुए हैं, पर अभी जनता में उनका यथेष्ट प्रचार नहीं हुआ।

भारतीय कृषक अपने रोजमर्रा के काम और चिन्ताओं में ही व्यस्त रहते हैं, वे यह नहीं सोचते-विचारते कि उनके खेत में कोई ऐसी नई वस्तु भी पैदा हो सकती है, जो उन की आय को बढ़ाने के साथ जनता के लिए भी बहुत उपयोगी हो। कुछ समय से ग्राम-उद्योग संघ, जिस के संबंध में अगले परिच्छेद में लिखा जायगा, ऐसे प्रयोग कर रहा है। पिछले दिनों उसने 'सोयाबीन' के गुणों की परीक्षा की, और किसानों को उसकी खेती के लिए प्रोत्साहित किया। इस दिशा में कार्य करने के वास्ते बहुत क्षेत्र पड़ा है। उत्साही व्यक्तियों को पारस्परिक-सहयोग-पूर्वक उद्योग करना चाहिए।

कृषि और सरकार—भारतवर्ष में यह बात अति प्राचीन काल से मानी जाती है कि राज्य को कृषि की उन्नति और कृषकों के उत्थान में यथेष्ट भाग लेना चाहिए। हिन्दू राजा तो इस ओर अपना महान् कर्तव्य पालन करते ही थे, मुसलमानों शासकों ने भी देश की आर्थिक उन्नति के लिए इस दिशा में समुचित प्रयत्न किया। अंगरेज़ी शासन में एक विशेष सरकारी विभाग द्वारा कृषि की उन्नति करने का विचार सर्व-प्रथम सन् १८६६ ई० में, उड़ीसा में अकाल पड़ने के अवसर पर हुआ। सन् १८८० के दुर्भिक्ष-कमीशन ने भी इस विषय की सिफ़ारिश की।❀ फल-स्वरूप विविध प्रांतों में कृषि-विभाग स्थापित किए गए, परंतु बहुत समय तक इनसे विशेष कार्य न हुआ। सन् १९०५ ई० में इन विभागों के संगठन तथा आर्थिक स्थिति में सुधार किया गया, और एक केंद्रीय कृषि-विभाग (बोर्ड) स्थापित किया गया। इस विभाग के प्रयत्नों से, विशेषतया भिन्न-भिन्न प्रकार की ज़मीनों में उचित खादों का उपयोग, अच्छे बीज, पौदों के रोग और उनके निवारण, नई तरह के औज़ारों के उपयोग, पशु-चिकित्सा और नए तरीक़ों से खेती करने के संबंध में कई उत्तम बातों का ज्ञान प्राप्त हुआ है, परंतु जनता में उनका यथेष्ट प्रचार नहीं हो पाया है। बात यह है कि इस विभाग के कार्यक्रम का ढङ्ग बहुत ही खर्चीला और आडंबर-पूर्ण है, और वह यहाँ की कृषक-जनता के लिए यथेष्ट उपयोगी नहीं। यदि वह जनता के प्रति उत्तर-दायी होकर अपना उचित कर्तव्य पालन करे, तो उसकी उपयोगिता बढ़ सकती है।

❀ लंकाशायर के वस्त्र-व्यवसायवाले भी बहुत चाहते थे कि भारत-वर्ष में लम्बे रेशे वाले रुई पैदा की जाय, उन्होंने इस उद्देश्य से सरकार का ध्यान कृषि-संबंधी उन्नति की ओर दिलाया।

सन् १९२६ ई० में यहाँ एक शाही कृषि कमीशन नियत हुआ था। उसने अपनी रिपोर्ट में कृषि-संबंधी उन्नति, अनुसंधानों, भूमि-विभाजन, कृषि-प्रदर्शनियों (नुमायशों), पशु-चिकित्सा, आबपाशी, देहाती जीवन, कृषि-शिक्षा, सहकारी-साख-सभाओं और कृषि-संबंधी नौकरियों पर अपने विचार प्रकट किए थे। इस रिपोर्ट के आधार पर एक कृषि-कौंसिल बनाई गई है, जिसका कर्तव्य कृषि की उन्नति का विचार करना है। सन् १९३५ ई० से भारत सरकार ग्रामोन्नति के लिए कुछ कार्य करने लगी है, उसका उल्लेख अन्यत्र किया जायगा, उससे किसानों को अंशतः लाभ होगा।

विशेष वक्तव्य—आवश्यकता है कि सरकार कृषि की उन्नति के लिए एक निर्धारित योजना रखे, और उसके अनुसार ज्यादह-से ज्यादह दस वर्ष में तो किसानों की दशा में यथेष्ट सुधार हो जाय, इस ध्येय पर लक्ष्य रखकर काम किया जाय। अन्य देशों में सरकारें किसानों की उन्नति के लिए भारी उद्योग कर रही हैं, रूस में तो उनकी विविध असुविधाओं को दूर करने के अतिरिक्त राज्य द्वारा खेती ही हो रही है, जिससे अब खेतों के छोटे-छोटे तथा दूर-दूर होने, किसानों को बहुत अधिक व्याज पर रुपया उधार लेने, भारी लगान या आबपाशी का महसूल देने, और भूखा-नंगा रहने आदि का सवाल ही नहीं रहता। सरकार स्वयं खेती की सिंचाई आदि का समुचित प्रबंध करती है। उपयुक्त खाद और बढ़िया औज़ारों तथा वैज्ञानिक पद्धति के प्रयोग का प्रबंध करती है, वहाँ कोई भी किसान निर्धारित श्रम करने के बाद अपनी साधारण आवश्यकताओं की पूर्ति से वंचित नहीं रहता। हम भारतवर्ष की वर्तमान अवस्था में राज्य द्वारा कृषि किए जाने का प्रस्ताव नहीं करते, तथापि यह तो आवश्यक ही है कि ऐसा प्रयत्न किया जाय कि भारतीय अन्नदाता किसान इस प्रकार मरता-खपता न रहे, वह

मनुष्यता का जीवन बिता सके, और उसके जीवन में कुछ रस हो। किसान भारतवर्ष का प्राण है, उसके उद्धार के लिए जो भी प्रयत्न किया जाय, थोड़ा है।

सातवाँ परिच्छेद

उद्योग-धंधे

प्राक्कथन—पिछले परिच्छेद में खेती का विचार किया गया। किंतु, केवल कृषि-जन्य वस्तुओं से ही हमारा काम नहीं चल जाता; हमें अनेक प्रकार की तैयार माल की भी जरूरत होती है, इसलिए उसकी उत्पत्ति की जाती है। दस्तकारियों और उद्योग-धंधों का, खेती से घनिष्ट संबंध है, कारण कि इनके लिए जो कच्चा माल आवश्यक होता है, वह खेती से ही मिलता है। कृषि-संबंधी विचार कर चुकने पर अब हम उद्योग-धंधों पर विचार करते हैं।

औद्योगिक विभाजन—भारतवर्ष की भूमि उद्योग-धंधों, उत्पन्न द्रव्यों और उनके व्यापार के नाते चार भागों में बाँटी जा सकती है।*

(१) आसाम, बंगाल, बिहार और उड़ीसा। यहाँ रबर, तेलहन, तेल, लाख, नील, जूट, काग़ज़, चमड़ा, रेशम, अफ़ीम, तंबाकू, चाय, चीनी, चावल, कोयला, लोहा, शोरा, अबरख इत्यादि द्रव्य उपजते या

---

* 'भारत की सांपत्तिक अवस्था' से।

पाए जाते हैं। दस्तकारी में हाथी-दाँत का काम, छाता बनाना, सीप, शंख का काम, ढाके की मलमल, ज़रदोज़ी या बेल-बूटों का काम और चटाई बुनने का काम मशहूर है।

(२) उत्तर-भारत, जिसमें संयुक्त-प्रांत, मध्य-प्रदेश, राजपूताना, मध्य-भारत, पंजाब, सीमा-प्रांत और काश्मीर शामिल हैं। यहाँ राल, धूप, लाख, तेलहन, इत्र, साबुन, मोमबत्ती, कत्था, हर्रा, बहेड़ा, रुई, रेशम, ऊन, तैयार चमड़ा, दरी, गेहूँ, बिस्कुट, अफ़ीम, चाय, चीनी, शराब, शीशम; देवदारु की लकड़ियाँ, जस्ता, ताँबा, नमक, शोरा, सोहागा, खारी मिट्टी इत्यादि द्रव्य पाए जाते या उपजते हैं। दस्तकारी में टीन के सामान, लाख से रँगे धातु के सामान, इनामिल, सोने, चाँदी, ताँबे, पीतल और फ़ौलाद के सामान, पत्थर खोदने और काटने का तथा मिट्टी का काम, लकड़ी, हाथीदाँत तथा चमड़े का काम, रँगने-छापने का काम, रुई, रेशम तथा ऊन के कपड़े, शाल-दुशाला, दरी, जाजम, ग़लीचे इत्यादि के काम मशहूर हैं।

(३) पश्चिम-भारत (बंबई-अहाता, बरार और बिलोचिस्तान)। यहाँ गोंद, तेलहन, रुई, ऊन, चमड़ा, जड़ी-बूटी, नमक और गेहूँ, पैदा होता है। सोने-चाँदी के सामान, लकड़ी, सींग, चमड़े, रुई, ऊन, तथा ज़रदोज़ी से संबंध रखनेवाली दस्तकारियाँ मशहूर हैं।

(४) दक्षिण-भारत (मदरास-अहाता, हैदराबाद, मैसूर और कुर्ग)। यहाँ तेलहन, घी, चर्बी, नील, रुई, नारियल के छिलके के सामान, हाथी-दाँत, चमड़ा, चाय, काफ़ी, सिगार, मिर्च, दालचीनी, चीनी, शराब, चावल, चंदन की लकड़ी, मोती, सोना, मैंगनीज़, सीसा, सीमेंट इत्यादि द्रव्य पाए जाते हैं। दस्तकारी में सोने, चाँदी, ताँबे, पीतल का सामान, पत्थर, लकड़ी, हाथी-दाँत का काम, कपड़ा रँगना-छापना, रेशमी कपड़ा बुनना और चिकन का काम मशहूर है।

इस प्रकार बंगाल और बिहार में कृषि-जात द्रव्यों की प्रचुरता है, पर दस्तकारी की कमी। पश्चिमी-भारत में द्रव्यों तथा कारीगरियों दोनों की कमी है। दक्षिण-भारत में इनकी प्रचुरता है। उत्तर-भारत में कारीगरियों की कमी नहीं है।

भारतवर्ष में छोटी दस्तकारियों की विशेषता—भारतवासी अधिकांश तैयार पदार्थ अब विदेशों से मंगाते हैं। वह ज़माना गया, जब यहां की बनी चीज़ें दूर-दूर तक आदर, आश्चर्य और ईर्षा की दृष्टि से देखी जाती थीं। किस प्रकार कंपनी के समय में हमारे उद्योग-धंधों का ह्रास हुआ, और हमारी जगत्-विख्यात कारीगरियाँ नष्ट की गईं, उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में यहाँ की औद्योगिक जागृति को किस प्रकार कंटकाकीर्ण किया गया, ये बातें हम अपनी 'भारतीय जागृति' पुस्तक में बता चुके हैं। अस्तु, धीरे-धीरे अनेक बाधाओं का सामना करते हुए यहाँ कुछ बड़े-बड़े कल-कारख़ाने खुले हैं, परंतु अधिकांश देश में छोटी दस्तकारियों की ही विपुलता है। इसके कुछ विशेष कारण ये हैं—

(१) जाति-प्रथा के कारण जुलाहे, कुम्हार आदि अपने पूर्वजों के ही काम करते हैं। स्थान-परिवर्तन या आजीविका के नए साधन प्राप्त करने में उन्हें बहुधा सामाजिक पार्थक्य सहन करना पड़ता है।

(२) बहुधा मनुष्यों को स्वेच्छानुसार काम करने की आदत पड़ी हुई है; वे कारख़ानों में निश्चित घंटे काम करना अथवा अन्य कायदे-क़ानून का बंधन पसंद नहीं करते।

(३) कारख़ानों में मिलनेवाली मज़दूरी इतनी अधिक नहीं हुई कि गाँव से लोग सहसा नगर में रहने को असुविधाएँ और ख़र्च सहन करने लगें। वे भूख से विशेष पीड़ित तथा ऋण-ग्रस्त होने पर ही, लाचार होकर, घर या कुटुंब का मोह छोड़ते हैं।

(४) परदे की प्रथा के कारण अनेक औरतें बाहर जाकर काम नहीं कर सकतीं ; उनके लिए घरू धंधे ही मोक्ष-कारी हैं ।

(५) कृषकों को साल में प्रायः चार महीने से छः महीने तक बेकार रहना पड़ता है, और अन्य महीनों में उनकी आय से जैसे-तैसे काम ही चलता है, बेकारी के समय के लिए वे कुछ बचा कर नहीं रख सकते । अतः उन्हें किसी उद्योग-धंधे के कार्य की अत्यंत आवश्यकता होती है । इसका अभिप्राय यह है कि देश की दो-तिहाई जनता के लिए घरू उद्योग-धंधों का बड़ा महत्व है ।

कृषकों के लिए उपयोगी सहायक धंधे—हमने ऊपर कहा है कि वर्तमान अवस्था में एक-मात्र खेती के आश्रित रहने से किसानों का बारहों महीने काम नहीं चल सकता । अपने निर्वाह के लिए उन्हें उसके साथ अन्य कार्य भी करने चाहिए । अब यह विचार करना है कि किस प्रकार के उद्योग-धंधे उनके अनुकूल हो सकते हैं । अवश्य ही ये उद्योग-धंधे ऐसे होने चाहिए कि इनसे खेती के कार्य में कोई बाधा न हो, वरन् ये यथा-संभव उसमें सहायक ही हों । इस दृष्टि से किसानों के लिए एक मुख्य उद्योग पशु-पालन का है । दूध देनेवाले पशु के रखने से किसान को दूध या घी की बिक्री से आय हो सकती है, और उसके बच्चों को यदि दूध नहीं, तो मठा तो मिल ही सकता है । गाय के बछड़ों का अच्छी तरह पालन-पोषण होने पर वे अच्छे बैल बन सकते है, जो खेती के बहुत काम आते हैं । गोबर से खाद का बड़ा लाभ है ।

खेती के साथ एक छोटा-सा बगीचा अल्प व्यय में, सहज ही लगाया जा सकता है, जिसमें स्थानीय परिस्थिति तथा आवश्यकता के अनुसार भाँति-भाँति के फल, सब्जी (तरकारी), या फल लगाए जायँ । इसमें

यह विचार रखा जाय कि प्रत्येक ऋतु में उसके अनुकूल पदार्थ उत्पन्न किए जायँ, जिससे बारहों महीने कुछ-न-कुछ आमदनी होती रहे। अगर किसान स्वयं फल आदि के बेचने की व्यवस्था न कर सके तो बगीचा ठेके पर उठाया जा सकता है। जो ज़मीन खेती के योग्य न हो, उस पर पेड़ लगा देने से, लकड़ी का लाभ हो सकता है। बढ़िया लकड़ी बेचने के, और मामूली लकड़ी जलाने के, काम में आ सकती है। किसान रस्सी बटने, टोकरी बनाने, रंगने, छापने आदि का काम भी बखूबी कर सकते हैं। उनके लिए सबसे महत्त्व-पूर्ण धंधा हाथ की कताई-बुनाई का है; कारण, भोजन को छोड़कर अन्य वस्तुओं में, कपड़े की आवश्यकता सबको होती है।

हाथ की कताई-बुनाई—राष्ट्रीय जागृति में इस धंधे के पुनरुत्थान की ओर नेताओं का ध्यान जाना स्वाभाविक था। किंतु इसका विशेष संगठित प्रयत्न सन् १९२५ ई० से हुआ, जब कि महात्मा गांधी की प्रेरणा से यहाँ अखिल भारतवर्षीय चर्खा-संघ की स्थापना हुई। स्थान-स्थान पर इसके सैकड़ों खादी केंद्र है। इस धंधे के बारे में कुछ मुख्य-मुख्य बातें आगे दी जाती हैं*—इस धंधे से कम-से-कम बीस लाख जुलाहों और कई लाख कत्तिनों (कातनेवालों) को भोजन-वस्त्र मिलता है, जबकि हिंदुस्थानी मिलें केवल ३ लाख ७० हज़ार ही मज़दूरों को काम देती हैं। सारे हिंदुस्थान में कुल पांच सौ करोड़ गज़ कपड़े की ख़पत है, जिसमें लगभग २५ फ़ी सदी कपड़ा हाथ की खड्डियाँ तैयार करती हैं, ४० फ़ी सदी हिंदुस्थानी मिलें और ३५ फ़ी सदी कपड़ा विदेश से आता है। यह ३५ फ़ी सदी कपड़ा हाथ की खड्डियाँ और हिंदुस्थानी मिलें बड़ी आसानी से हाथ में ले सकती हैं। हाथ की खड्डियाँ हर साल १४० करोड़ गज़ कपड़ा तैयार करती हैं, जो बग़ैर

* 'हरिजन सेवक' के आधार पर।

किसी सरकारी अथवा जनता की सहायता के बिक जाता है। यह कपड़ा मिल के सूत और हाथ के सूत दोनों का होता है। कुछ कपड़ा तो केवल मिल के ही सूत का होता है, कुछ मिलावटी सूत का, और कुछ बिल्कुल हाथ के ही कते सूत का होता है। अगर इस धंधे को अपनी खोई हुई बपौती फिर से प्राप्त करनी है, तो इसे मशीनों के सूत पर निर्भर नहीं रहना चाहिए। मिल का सूत यद्यपि पूरा इकसार होता है, तो भी हाथ के सूत के मुक़ाबिले में मज़बूत नहीं होता। पिछले सालों में चर्खा-संघ ने सूत में बहुत-कुछ सुधार किया है। संघ हर साल लगभग ३५ लाख की खादी तैयार करता है। ढाई लाख कत्तिनों और दस हज़ार बुनकरों को काम देकर संघ छः लाख रुपया कताई में और ५॥ लाख रुपया बुनाई में प्रतिवर्ष देता है।*

अगर हाथ की खड्डियाँ मिल के सूत की जगह केवल हाथ का कता सूत काम में लावें तो दरिद्र किसानों की दरिद्रता बहुत हद तक कम हो सकती है। यह किसान-परिवारों का बहुत बड़ा सहायक धंधा है। आठ घंटा चर्खा चलाने से एक अच्छी कत्तिन ३-३॥ आने रोज़ कमा लेती है, घर का काम-काज करने के साथ साथ कुछ समय कात लेने से ही अपने तमाम घरवालों के लिए ओढ़ने-पहनने के कपड़े हरेक बहिन कातकर बना सकती है। ग़रीब किसानों के लिए अपनी आमदनी में थोड़ी-सी भी वृद्धि बहुत बड़े महत्व की चीज़ है, क्योंकि वह उन्हें भूखों मरने से बचाती है। किसानों के वास्ते यह धंधा ख़ास महत्व का इसलिए है कि चार-छः महीने उन्हें बेकार बैठे रहना पड़ता है।

अन्य उद्योग-धंधे; ग्राम-उद्योग-संघ—निस्संदेह हाथ की कताई-बुनाई एक महान् उद्योग है। परंतु, जैसा कि ग्राम-उद्योग-संघ के कार्य विवरण में बताया गया है, देश में ऐसे अनेक उद्योग-धंधे हैं, जो यहाँ के लाखों करोड़ों आदमियों के लिए जीवन-स्वरूप हैं और जिनके संगठन की प्रबल आवश्यकता है। इस संगठन के वास्ते सर्व-

प्रथम ज़रूरत इस बात की होती है कि प्रत्येक उद्योग-धंधे के बारे में यथेष्ट जानकारी हासिल की जाय, और इस जानकारी को अन्य ऐसे आदमियों के पास पहुंचाया जाय जो वैसे ही उद्योग-धंधों में लगे हुए हों। यही कारण है कि यद्यपि राष्ट्रीय महासभा (कांग्रेस) का उसके आरंभ से ही यह उद्देश्य रहा कि वह दिन-दिन जनता के अधिक संपर्क में आती जाय, और ग्रामों का संगठन और पुनरुद्धार काँग्रेस के रचनात्मक कार्य का एक अंग है, काँग्रेस ने अखिल-भारत-चर्खा-संघ की स्थापना के लगभग एक दशाब्दी बाद, अक्तूबर सन् १६३४ ई० में औद्योगिक उन्नति के कार्य को आगे बढ़ाने का निश्चय किया।

उक्त वर्ष के अंत में, वर्धा (मध्यप्रांत) में 'अखिल भारत ग्राम-उद्योग-संघ' की स्थापना, एक स्वतंत्र, संस्था के रूप में हुई। इसका उद्देश है—ग्रामों का पुनः संगठन, ग्रामोद्योगों को प्रोत्साहित करना तथा, उनमें आवश्यक सुधार करना; और ग्राम-निवासी जनता की नैतिक और शारीरिक उन्नति करने की चेष्टा करना। संघ का संचालन एक प्रबंधकारी मंडल के अधीन है, जो समय समय पर ग्राम-सुधार अथवा ग्राम-रचना संबंधी अपना कार्य-क्रम निर्धारित करेगा; भिन्न भिन्न केंद्रों में जिन पद्धतियों अथवा नीति से काम लिया जायगा उनका समन्वय और सुधार करेगा; ग्रामवासियों की आर्थिक, नैतिक और शारीरिक अवस्था संबंधी एवं ग्रामों के मरणोन्मुख तथा विकास-शील उद्योग-धंधों की वास्तविक स्थिति संबंधी ख़बरें कार्यकर्ताओं और प्रतिनिधियों से प्राप्त कर, उनका वर्गीकरण कर, उन्हें सर्वत्र फैलाएगा; विशेषज्ञों की सहायता से खोज-बीन का काम करेगा तथा स्थानीय ग्रामवासियों की ज़रूरतों को पूरी करने के बाद बचे हुए तैयार माल के लिए बाज़ार ढूँढ़ेगा या पैदा करेगा। इस संघ की संरक्षकता में निम्नलिखित ग्रामोद्योग या उनके प्रयोग चल रहे हैं:—

१—धान से चावल निकालना, २—आटा पीसना, ३—गुड़

बनाना, ४—तेल निकालना, ५—मूँगफली छीलना, ६—शहद की मक्खियाँ पालना, ७—मछली पालना, ८—दूध-शाला, ९—नमक बनाना, १०—कपास लुढ़ाई, ११—कंबल बनाना, १२—रेशम और टसर का माल बनाना, १३—सन की कताई और बुनाई, १४—कालीन बनाना, १५—कागज़ बनाना, १६—चटाई बनाना, १७—कंघियाँ बनाना, १८—चाकू कैंची आदि बनाना, १९—साबुन बनाना, २०—पत्थर की कारीगरी, २१—मरे हुए जानवरों की लाशों का उपयोग करना और चमड़ा तैयार करके, उसकी विविध वस्तुएँ बनाना।

संघ अपना प्रारंभिक कार्य कर चुका है, और उसने भावी कार्य की दिशाएँ निश्चित कर ली हैं। आशा है वह भविष्य में यथेष्ट उद्योग करेगा। कार्य करने के लिए क्षेत्र विशाल है। आवश्यकता इस बात की है कि सब देश-प्रेमी सज्जन अपनी शक्ति भर इसको सहयोग प्रदान करें।*

घरू उद्योग-धंधों की वृद्धि के उपाय—घरू उद्योग-धंधों को जीवित रखने तथा उनकी उत्तरोत्तर वृद्धि करने के लिए कई बातों की आवश्यकता है। प्रथम तो लोगों के मन में से यह अंध-धारणा निकल जानी चाहिए कि हाथ का काम कोई निम्न श्रेणी का काम है। नागरिकों को बाल्यावस्था से ही शारीरिक श्रम की महत्ता हृदयंगत कराई जानी चाहिए। इसके लिए औद्योगिक शिक्षा की व्यापक व्यवस्था की जानी चाहिए, जिसके संबंध में पहले लिखा जा चुका है। समस्त, और विशेषतया गाँवों की, प्रारंभिक पाठशालाओं में, छोटी-छोटी

---

* इस विषय में विशेष जानने के लिए पाठक ग्राम-उद्योग-संघ, वर्धा, का विवरण तथा संघ द्वारा प्रकाशित साहित्य अवलोकन करें।

कारीगरी के योग्य, अच्छे औज़ार काम में लाने आदि की शिक्षा और भिन्न-भिन्न रोजगार-संबंधी विविध जानकारी मिलने का यथेष्ट प्रबंध होना चाहिए। सहकारी-समितियों को भी बहुत बढ़ाने और संगठित करने की बड़ी ज़रूरत है, जिससे आवश्यक कच्चा माल ख़रीदने और तैयार माल बेचने में अधिक लाभ और सुभीता हो। इन समितियों के संबंध में विशेष आगे लिखा जायगा।

इसके अतिरिक्त स्थान-स्थान पर हाथ की बनी स्वदेशी वस्तुओं की प्रदर्शनियों तथा विज्ञापन की व्यवस्था होनी चाहिए, जिस से सर्व-साधारण यह जान सकें कि कैसी-कैसी वस्तुएँ कहाँ-कहाँ बनती हैं, और उत्साही सज्जनों को वैसी चीज़ें बनाने तथा उनमें सुधार करने की प्रेरणा हो।❋ साथ ही प्रत्येक केंद्रीय ग्राम या क़स्बे में स्थानीय आवश्यकता की वस्तुओं का एक स्वदेशी-भंडार रहना चाहिए, जहाँ आदमी अपने लिए ज़रूरी वस्तुएँ ख़रीद सकें। लोगों में देश-प्रेम का भाव बढ़ाने और बनाए रखने की भी ज़रूरत है, जिससे वे यथा-संभव अपने गाँव या उसके आस-पास की ही वस्तुओं से काम चलावें, और इस प्रकार अपने कारीगर भाइयों की सहायता करें। देश-प्रेम संबंधी यह एक आवश्यक कर्त्तव्य है, जिसकी किसी व्यक्ति को अवहेलना न करनी चाहिए।

सरकार द्वारा भी उद्योग-धंधों की वृद्धि में बहुत सहायता मिल सकती है। ऊपर औद्योगिक शिक्षा के प्रचार तथा सहकारी समितियों की स्थापना की बात कही गई है, यह कार्य विशेषतया सरकारी सहायता से ही करने का है। सरकार द्वारा उद्योग-धंधों को आर्थिक सहायता भी दी जा सकती है। भारतवर्ष में, ब्रिटिश-भारत के प्रत्येक

❋ कॉंग्रेस के अधिवेशन पर तथा कुछ सार्वजनिक उत्सवों के अवसर पर प्रदर्शनियाँ की जाती हैं; वे बहुत शिक्षाप्रद होती हैं।

प्रांत में एक औद्योगिक विभाग है, वह उद्योग-धंधों के विषय में विचार करता है। उसके द्वारा विविध प्रकार का कार्य होता है, परंतु उसकी गति बहुत मंद है। पुनः उसे बहुधा अर्थाभाव की शिकायत बनी रहती है और, प्रायः अधिकारी कार्य-कर्ता जनता के संपर्क में नहीं आते। इसलिए जैसा चाहिए, वैसा काम नहीं होता। यदि सरकार का समुचित सहयोग प्राप्त हो तो उद्योग-धंधों की उन्नति विलक्षण रूप से हो सकती है। अन्यान्य बातों में सरकार अपने विविध विभागों के लिए यहाँ हाथ से तैयार किया हुआ माल खरीद कर इस दिशा में बहुत सहायक हो सकती है। उदाहरणवत् यदि सरकार पुलिस आदि की वर्दी खद्दर की बनवाया करें तो खद्दर के धंधे में कितनी प्रगति हो। क्या अधिकारी इस ओर ध्यान देंगे?

बड़े बड़े कारखाने—छोटे-छोटे उद्योग-धंधों का विचार करके अब हम बड़े-बड़े उद्योग-धंधों का विषय लेते हैं। सन् १९३२-३३ ई० में, ब्रिटिश भारत में (जिसमें बर्मा सम्मिलित नहीं है) कुल मिला कर ७,२१० कारखाने थे, जिनमें से ३,६८० निरंतर साल-भर चलनेवाले थे, और शेष मौसमी, अर्थात् किसी ऋतु विशेष में चलनेवाले। कुल कारखानों में प्रतिदिन औसतन तेरह लाख आदमी काम करते थे, जिनमें से साढ़े दस लाख व्यक्ति निरंतर साल-भर चलनेवाले कारखानों में काम करते थे, और शेष व्यक्ति मौसमी कारखानों में। प्रांतों की दृष्टि से सबसे अधिक कारखाने क्रमशः बंबई, बंगाल और मदरास में थे; इनमें से प्रत्येक प्रांत के कारखानों की संख्या डेढ़-डेढ़ हज़ार से अधिक, और तीनों को मिला कर ४३४१ थी। इस प्रकार देश भर के कुल कारखानों के आधे से अधिक इन्हीं तीन प्रांतों में थे। इन तीनों प्रान्तों के श्रमजीवियों की संख्या साढ़े नौ लाख (कुल श्रमजीवियों की संख्या की लगभग ६८ फी-सैकड़े) थी। संयुक्त-प्रांत में कारखानों और उनमें

कार्य करने वाले श्रमियों की संख्या क्रमशः ४७६ और १, १२, ६६३ थी।

ब्रिटिश भारत के उपर्युक्त कुल कारखानों में से ३४३ सरकारी तथा स्थानीय-स्वराज्य-संस्थाओं के थे, (३३७ निरंतर काम करने वाले, और ६ मौसमी)। कारखाने विशेषतया, खाद्य पदार्थों, रूई (कातने बुनने), जूट, कागज, एंजिनयरिंग, खनिज द्रव्यों, रासायनिक द्रव्यों और रंगों, जीन प्रेस, चमड़े, शीशे, लकड़ी और पत्थर के थे। देशी रियासतों में सन् १९३२ ई० में कुल १,६४६ कारखाने थे, जिनमें से ६६ तो राज्यों के थे, और शेष, जनता के। इनमें कुल मिला कर प्रति दिन औसतन लगभग दो लाख व्यक्ति काम करते थे। इस प्रकार ब्रिटिश-भारत और देशी रियासतों में, कुल कारखानों में काम करनेवाले व्यक्तियों की संख्या पंद्रह लाख है। इससे स्पष्ट है, कि समस्त जन-संख्या का विचार करते हुए इनका अनुपात बहुत साधारण ही है।

खनिज पदार्थों का व्यवसाय*—भारतवर्ष में खानों से जो पदार्थ निकाले जाते हैं, उन्हें या तो मामूली तौर से साफ़ करके यहीं काम में ले आते हैं, जैसे कोयला, पेट्रोलियम, नमक आदि; अथवा उन्हें विदेश भेज देते हैं, जैसे अबरक या मैंगनीज़। वहाँ वाले उनके भिन्न-भिन्न मिश्रित पदार्थों को पृथक्-पृथक् करके काम में लाते हैं, या अगर ज़रूरत से ज़्यादा समझा, तो वह शुद्ध किया हुआ माल भारतवर्ष को अधिक दामों पर भेज देते हैं। भारतवासियों का ध्यान वैसे मिश्रित खनिज द्रव्यों की ओर नहीं गया है, जिनसे निकले हुए द्रव्यों का व्यवहार रासायनिक पदार्थों के बनाने या अन्य किसी खनिज द्रव्य के शुद्ध करने में होता है। इससे बहुत हानि होती है। उदाहरण के लिए

* 'भारत की सांपत्तिक अवस्था' के आधार पर।

खानों में ताँबा प्रायः गंधक के साथ मिला हुआ रहता है। यदि देश में सिर्फ़ ताँबे की माँग हो, तो कच्ची धातु से ताँबा तो साफ़ करके निकाल लिया जायगा, और गंधक यों ही पड़ा रहेगा। यह ताँबा महँगा पड़ेगा। यदि साथ में गंधक निकालने और काम में लाने का भी प्रबंध हो, तो ताँबा और गंधक दोनों सस्ते पड़ें। पर गंधक की माँग तभी हो सकती है, जब कि देश में गंधक के तेज़ाब के, और उससे संबंध रखनेवाले खनिज तेल, सज्जी, साबुन, काँच, रंग आदि विविध प्रकार के रासायनिक व्यवसायों के कारख़ाने स्थापित हों। जब तक देश में व्यावहारिक रसायन-शास्त्र का प्रचार न होगा, तब तक ताँबे की तरह मिश्रित रूप में मिलनेवाली धातु की खानें काम में नहीं लाई जा सकतीं। यहाँ के लोगों को या तो घटी सहकर अपनी चीज़ें खान से निकालकर विदेश भेजनी पड़ेंगी, या उन्हें यों ही छोड़ना पड़ेगा, तथा रासायनिक प्रयोग से बननेवाली दूसरी चीज़ें विदेश से मगानी पड़ेंगी।

भारतवर्ष में ऐसी खानें, जिन पर खानों का क़ानून लगता था, सन् १९३३ ई० में १,४२४ थी। इनका ब्यौरा इस प्रकार है, कोयला ६०१, अबरक ३७७, मैंगनीज़ १७, टिन और 'वुलफ्रम' १९९, अन्य धातुएं २३०। कुल ख़ानों में दो लाख सात हज़ार आदमी काम करते थे।

संचालन-शक्ति—आधुनिक उद्योग-धंधों और कल-कारख़ानों की जान कोयला है। भारतवर्ष में संचालन-शक्ति के लिए इसका ही उपयोग बहुत किया जाता है, और यह यहाँ खासी मात्रा में है भी; तथापि यह चिंता तो है ही कि इसका भंडार क्रमशः घटता जा रहा है। अतः अन्य साधनों से काम लिया जाना चाहिए। भारतवर्ष में तेलों का भी बहुत उपयोग हो सकता है। परंतु उसकी एक सीमा है। भविष्य में हाइड्रो-इलेक्ट्रिक अर्थात् जल-विद्युत वाली योजनाओं के अधिकाधिक प्रयोग होने की संभावना है। यह बिजली सस्ती और

अच्छी होती है। इसमें कष्ट-प्रद धुआँ भी नहीं होता। भारतवर्ष में सबसे पहले मैसूर-दरबार ने इस शक्ति से काम लेना शुरू किया था। आज-कल इससे, कोलार की सोने की खानों का काम चलता है। काश्मीर-नरेश ने रामपुर में एक जल-प्रपात से बिजली निकाली है। उससे रोशनी के अतिरिक्त रेल चलाने का भी प्रबंध हो रहा है। दक्षिण में कावेरी-वर्क्स और टाटा-वर्क्स में इसी प्रकार बिजली निकाली जा रही है।

गत दस वर्षों में, संयुक्त-प्रांत में बिजली की खासी उन्नति हुई है। इस प्रांत के पश्चिमी भाग में, बिजली केवल बड़े-बड़े नगरों में ही नहीं, कुछ छोटे नगरों में भी पहुँच गई है। विद्युत शक्ति की खपत जितनी अधिक होती है, उतनी ही वह सस्ती पड़ती है। उपर्युक्त स्थानों में उसकी दर सस्ती होने का कारण यही है कि वहाँ सिंचाई के लिए नदियों और 'ट्यूब वेल्स' से काफी पानी निकालने के लिए बिजली का ख़र्च बहुत है। अब पूर्वीय ज़िलों में विद्युत योजना को सफल करने का प्रयत्न होरहा है। भारतवर्ष के अन्य प्रांतों में भी नदी और प्रपात बहुत हैं। इस देश में समुद्र की भी काफी सुविधा है। इनसे यथेष्ट बिजली तैयार करके, देश की आर्थिक उन्नति आश्चर्यजनक रूप में की जा सकती है। सरकार, इस दिशा में विशेष अग्रसर न होने का कारण अपनी आर्थिक कठिनाई बताती रही है; आवश्यकता है इस कार्य को अच्छी तरह हाथ में लिया जाय।

जल-विद्युत् की संभावनाओं के अतिरिक्त सूर्य के तेज के उपयोग का विचार हो रहा है। अभी इसका प्रयोग महँगा है। क्रमशः विज्ञान द्वारा उसके सस्ता हो जाने की आशा है। कुछ आश्चर्य नहीं, यदि किसी समय संसार के कल-कारख़ानों का संचालन सूर्य की शक्ति से ही होने लगे। फिर, भारत-जैसे गर्म देशों की तो ख़ूब ही बन आवगी।

औद्योगिक उन्नति की आवश्यकता—कुछ वर्षों से भारत-वर्ष की औद्योगिक उन्नति हो रही है, परंतु सरकारी तथा ग़ैर-सरकारी, सब विचारशील सज्जन यह स्वीकार करते हैं कि यह उन्नति, इस देश की जन-संख्या और क्षेत्रफल को देखते हुए जैसी होनी चाहिए थी, नहीं हुई है, तथा यहाँ इसकी बहुत आवश्यकता है; इससे कई लाभ होंगे:—

(१) कृषि पर निर्वाह करने वालों की संख्या घटेगी, और फ़सल ख़राब होने की दशा में आर्थिक संकट विशेष न होगा। (२) राष्ट्रीय आय की वृद्धि होगी, और लोगों का रहन-सहन का दर्जा ऊँचा होगा। इससे उनकी कार्य-क्षमता और उत्पादन-शक्ति बढ़ेगी, जिसके परिणाम-स्वरूप पुनः जनता की आय बढ़ेगी। इस प्रकार पारस्परिक लाभदायक क्रिया-प्रतिक्रिया होती रहेगी। (३) सरकार तथा म्युनिसिपैलिटियों आदि स्थानीय संस्थाओं की आय बढ़ेगी और वे सार्वजनिक उपयोगिता के अधिकाधिक कार्य कर सकेंगी। (४) अनेक आदमियों को रोज़गार मिलेगा, और उनकी बेकारी दूर होने में सहायता मिलेगी। (५) देश स्वावलम्बी होगा। आवश्यक वस्तुएँ यहाँ ही बनाई जा सकेंगी, उनके लिए विदेशों को रुपया भेजना, तथा उनके आश्रित रहना न होगा। (६) लोगों की, धन गाड़ कर रखने, या उसे ज़ेवर आदि अनुत्पादक कार्यों में लगाने की प्रवृत्ति में सुधार होगा। मिश्रित पूँजी की व्यवस्था में लोगों की बचत की छोटी-छोटी रक़मों का भी उपयोग हो सकता है, जो अन्यथा बेकार पड़ी रहती हैं। (७) लोगों के विचारों की संकीर्णता दूर होगी, उनका दृष्टि-कोण उदार होगा। वे परम्परा के अंध-भक्त न रहेंगे, हानिकर रूढ़ियों को तोड़ते हुए समाज-सुधार में अधिक अग्रसर होंगे। (८) कृषि को भी लाभ होगा। देश में धन अधिक होने से, कृषि की उन्नति के लिए आवश्यक पूँजी मिलना सुगम होगा। उद्योग-धंधों में कुछ अधिक श्रमियों के लग-

जाने से कृषि-श्रमियों की वेतन में वृद्धि होगी, और उनका रहन-सहन तथा कार्य-क्षमता बढ़ेगी।

एक समस्या और उसका हल—भारतवर्ष पर चिरकाल से विदेशियों के दाँत लगे हुए हैं। अब वे अपने चमक-दमक के सस्ते पदार्थों से हमारा धन लूट रहे हैं। आत्म-रक्षा मनुष्य और देश-मात्र का परम धर्म है। आर्थिक-संग्राम में अपने-आपको सुदृढ़ बनाए रखने के लिए हमें स्वदेशी सामान की उत्पत्ति में यथेष्ट वृद्धि करनी चाहिए परंतु धन-वृद्धि में पाश्चात्य देशों से मुक़ाबला करने के लिए उनके ढंग (मशीनों का प्रयोग) इख़्तियार करना हमारे वास्ते कहाँ तक हितकर होगा, यह विचारणीय है। ऐसी धन-वृद्धि भी किस काम की, जो जनता का ही ह्रास करने लगे! इसपर हमारे सामने यह सवाल आता है कि यदि हम मशीनों का उपयोग न करेंगे, तो विदेशी माल हमारे बाज़ारों में आकर सस्ता पड़ता रहेगा, स्वदेशी माल की खपत कम होगी, हमारे उद्योग-धंधों का और भी ह्रास होगा, और हम कृषि पर अधिकाधिक आश्रित रहेंगे। इसका उपाय क्या है, यह एक बड़ी विकट समस्या है। इसे हल किस प्रकार किया जाय?

प्रथम तो मिलों और मशीनों का इस्तेमाल विशेषतया उन कार्यों के लिए किया जाय, जो उनके बिना हो नहीं सकते, और जिनके बिना देश का काम नहीं चल सकता; और मिलों से जो हानियाँ वर्तमान समय में नज़र आती हैं, उन्हें रोकने का भी भरसक उपाय किया जाय। मिलों के मालिक केवल धन पैदा करने की ओर ही लक्ष्य न रखकर इस बात की ओर भी ध्यान दें कि हज़ारों-लाखों आदमियों का जीवन केवल रोटी के लालच में ही भ्रष्ट न हो। श्रमजीवियों की शिक्षा, स्वास्थ्य, मनोरंजन और विकास के लिए समुचित साधनों की व्यवस्था होनी चाहिए; इस विषय की कुछ बातें पहले व्यवस्था के प्रसंग में कही

जा चुकी हैं। दूसरा उपाय यह है कि बिजली आदि की संचालन-शक्ति की यथेष्ट व्यवस्था की जाय, जिससे वह काफ़ी सस्ती हो, और उसका उपयोग करते हुए श्रमी अपने घर में, अपने परिवार के आदमियों के साथ रहते हुए स्वतंत्रता-पूर्वक उद्योग-धंधे का काम कर सकें; मिलों और कारख़ानों की बुराइयों से बचे रहें। संचालन-शक्ति संबंधी विशेष बातों पर, भारतीय परिस्थिति के अनुसार, पहले विचार कर चुके हैं। तीसरा उपाय यह है कि ऐसा प्रयत्न किया जाय कि विदेशों का सस्ता माल यहाँ न खप सके, और हमारे स्वतंत्र व्यवसायों का मूलोच्छेद न हो। यह कैसे? सरकारी सहायता तथा संरक्षण करों से।

उद्योग-धंधों के लिए सरकारी सहायता—छोटे उद्योग धंधों संबंधी सरकारी सहायता के विषय में कुछ बातें पहले लिखी जा चुकी हैं, उनमें से कुछ बड़े उद्योग-धंधों की उन्नति के वास्ते भी उपयोगी होती हैं। बड़े उद्योग-धंधे में एक मुख्य प्रश्न पूँजी का रहता है। कभी-कभी सरकार उसके लिए बाज़ार दर से कम ब्याज पर रुपया उधार देती है, या कुछ ऐसा रुपया प्रदान करती है जिसे वापिस नहीं लेती, या उसके बदले, एक खास परिमाण में, उत्पन्न वस्तु लेती है। संयुक्त-प्रांत में उद्योग-धंधों की सहायता करने के उद्देश्य से, पचास लाख रुपए की पूँजी से एक कंपनी बनाने का निश्चय किया गया है, इसे यदि निर्धारित प्रतिशत से कम मुनाफ़ा होगा, तो प्रांतीय सरकार उसकी पूर्ति करेगी। सरकारी सहायता का एक रूप यह भी हो सकता है कि सरकार कुछ मशीनें उत्पादकों को किराए पर दे; एक निर्धारित अवधि तक किराया दे चुकने पर मशीनें उत्पादकों की ही हो जायँ।

सरकार किसी व्यक्ति या संस्था को किसी वस्तु की उत्पत्ति का एकाधिकार देकर भी उद्योग-धंधे की सहायता कर सकती है। उदाहरणावत् बिजली

आदि का ठेका किसी विशेष कंपनी को दिया जाता है, इससे वह कंपनी नगर-भर के लिए बिजली का प्रबंध करती है, और उसकी दर काफी सस्ती रखती है। अगर दो या अधिक कंपनियाँ अलग-अलग इस काम को करें, तो ग्राहकों के बट जाने से प्रत्येक कंपनी को उत्पत्ति का परिमाण कम करना पड़े; फल-स्वरूप बिजली की दर ऊँची रहे, और उस धंधे को वैसी उन्नति न हो।

उद्योग-धंधों का संरक्षण—सरकारी सहायता का एक व्यापक रूप उद्योग-धंधों का संरक्षण है। सरकार जिस नए उद्योग-धंधे का संरक्षण करना चाहती है, उसकी विदेशी आयात पर काफी भारी कर लगाकर उसे मंहगा कर देती है। इससे देश में स्वदेशी वस्तु की बिक्री को सहायता मिलती है। कुछ समय के बाद यह वस्तु वहाँ काफी सस्ती पड़ने लगती है, और विदेशी वस्तु की प्रतियोगिता में ठहरने में समर्थ हो जाती है। भारतवर्ष में सरकार ने महायुद्ध से पूर्व उद्योग-धंधों का संरक्षण नहीं किया। महायुद्ध के समय, तथा उसके बाद उसकी नीति में कुछ परिवर्तन हुआ। सन् १९१६ ई० में यहाँ की औद्योगिक परिस्थिति की जाँच करने के लिए कमीशन बैठाया गया। पश्चात सन् १९२१ ई० में एक आर्थिक जाँच-समिति नियुक्त हुई। इसने सिफ़ारिश की कि भारतीय उद्योग-धंधों की रक्षा के लिए बाहर से आनेवाले माल पर विशेष कर लगाना चाहिए। तदनंतर यहाँ 'टैरिफ-बोर्ड' की स्थापना हुई, और उसकी सिफ़ारिश के अनुसार विदेशी लोहे, फौलाद के सामान, कागज़, कपड़े और चीनी की आयात पर क्रमशः ऐसा कर लगाया गया कि वे यहाँ की बनी उन चीज़ों से कुछ मंहगी हो गई हैं। इससे इन वस्तुओं के स्वदेशी उद्योग-धंधों को प्रोत्साहन मिल रहा है। भारतीय नेताओं की माँग है कि सरकार संरक्षण-नीति का यथेष्ट उपयोग करे, परंतु सरकार की गति इस दिशा में बहुत मंद

तथा शिथिल है। उसमें सुधार होने की अत्यंत आवश्यकता है। अस्तु, संरक्षण-नीति से स्वदेशी उद्योग-धंधों की उन्नति होती है; परंतु यह कोई स्थाई या एक-मात्र उपाय नहीं है। अतः इससे पूर्व जो बातें कही गई हैं, उनका भी समुचित ध्यान रखा जाना चाहिए; तभी औद्योगिक उन्नति यथेष्ट रूप में होने की आशा हो सकती है।

आठवां परिच्छेद

उत्पत्ति की वृद्धि और आदर्श

पिछले परिच्छेदों में भारतवर्ष में होने वाली उत्पत्ति के संबंध में विविध बातों का विचार किया जा चुका है। अब हमें यह सोचना है कि क्या यहाँ उत्पत्ति बढ़ाने की आवश्यकता है, तथा उत्पत्ति के विषय में हमारा आदर्श क्या रहना चाहिए; आदर्श-हीन तो कोई कार्य उचित नहीं है।

उत्पत्ति की वृद्धि; स्वावलंबन की आवश्यकता—हम पहले बता चुके हैं कि भारतवर्ष में यहाँ की जन-संख्या को देखते हुए उत्पत्ति का परिमाण बहुत कम है, और इसलिए लोगों की आर्थिक अवस्था अच्छी नहीं है। उपज की मात्रा कम होने के कारणों पर प्रसंगानुसार विचार किया जा चुका है। एक मुख्य कारण यह है कि अनेक आदमी यहाँ उत्पादन में भाग नहीं लेते। जब कि प्रत्येक व्यक्ति भोजन-वस्त्र आदि की विविध वस्तुओं का उपभोग करता है, अथवा

अपने बाल-बच्चों को खिलाता-पहनाता है तो उसके लिए आवश्यक है, कि वह अपनी सामर्थ्य और सुविधानुसार उन चीज़ों की वृद्धि करे। किसी व्यक्ति का निठल्ला या निरुद्यमी रहना अनुचित है; यह एक अपराध है, पाप है। इस दृष्टि से वे सब आदमी दोषी हैं, जो समर्थ होते हुए भी संयुक्त कुटुंब में दूसरों की कमाई खाते हैं, या बड़े सेठ-साहूकार, पूँजीपति, ज़मींदार आदि होकर कुछ काम नहीं करते और ऐश्वर्य का जीवन व्यतीत करते हैं। फिर, उन आदमियों को दोषी ठहराए जाने में तो कोई बात ही नहीं है, जो समाज के लिए कुछ भी सेवा या उपकार न करते हुए भिक्षा, या दान-वृत्ति आदि से अपनी गुज़र करते हैं। जनता की श्रद्धा या धार्मिक भावनाओं का इस प्रकार लाभ उठाया जाना निन्द्य है। हाँ, जो व्यक्ति अपने किसी शारीरिक या मानसिक विकार के कारण कुछ उत्पादन-कार्य नहीं कर सकते, उनका दूसरों के आश्रित रहना क्षम्य है। बच्चों, लंगड़े-लूले अपाहिजों या रोगियों के निर्वाह की समुचित व्यवस्था करना उनके परिवारवालों तथा समाज का कर्तव्य है। अस्तु, यदि उपर्युक्त बातों का ध्यान रखा जाय, और श्रम करने योग्य प्रत्येक व्यक्ति स्वावलंबी हो तो देश में उत्पत्ति की यथेष्ट वृद्धि हो जाय, कुछ कमी न रहे, यह स्पष्ट ही है।

कैसी चीज़ों की उत्पत्ति की जानी चाहिए?—अच्छा, उत्पत्ति कैसी चीज़ों की की-जानी चाहिए? क्या ऐसी कोई भी चीज़ बना ली जाया करें, जो विनिमय-साध्य हो? क्या इसमें अन्य किसी बात का विचार न किया जाय? हम पहले बता चुके हैं कि कई प्रकार की वस्तुएँ ऐसी हैं, जिन के बनाने का श्रम व्यक्तिगत दृष्टि से उत्पादक माना जाने पर भी सामाजिक दृष्टि से उत्पादक नहीं होता। उदाहरणार्थ एक आदमी ऐसी मादक वस्तुएँ बनाता है, या उन्हें ऐसे परिमाण में बनाता है कि उनका औषधियों में उपयोग

न होकर नशे के वास्ते सेवन किया जाता है। अथवा, कोई आदमी आतिशबाज़ी या विलासिता की चीज़ें बनाता है। निस्संदेह समाज की जैसी व्यवस्था है, उसमें उक्त व्यक्ति को उन चीज़ों का मूल्य मिल जाता है, और वह अपने आपको उत्पादक कह सकता है। परंतु उसके समय या शक्ति से समाज का कुछ हित न हुआ, वरन् हानि ही हुई। यदि यह व्यक्ति अन्न-वस्त्र आदि बनाता, कृषि के लिए उपयोगी औज़ार बनाता, दूध देने वाले पशुओं के भरण-पोषण का काम करता अथवा किसी उद्योग-धंधे में लगता तो स्वयं उसको लाभ होने के अतिरिक्त, उससे समाज का भी बहुत हित-साधन होता। इसलिए हमें ऐसी ही चीज़ों की उत्पत्ति करनी चाहिए जो केवल हमारे लिए कुछ आमदनी का साधन न हो, वरन् उनसे समाज का भी हित हो।

यही नहीं, समाज की सुरक्षा और विकास के लिए यह भी आवश्यक है कि कुछ व्यक्ति अपने निजी स्वार्थ को त्याग कर भी अपने श्रम का लाभ जाति और देश को पहुँचाएँ, वे ऐसी चीज़ें बनाएँ, ऐसे आविष्कार या अनुसंधान करें, जिनसे समाज की तत्कालीन समस्याओं का हल हो। वे ऐसी सेवाएं करें, जिनसे उन्हें विशेष आय-प्राप्ति न हो, परंतु समाज का असंदिग्ध हित-साधन हो। भारतवर्ष में बहुत से साधु-संत, महात्मा, कथा-वाचक, लेखक, कवि, चिकित्सक आदि समय-समय पर अपना जीवन मनुष्य समाज के हितार्थ अर्पण करते रहे हैं। इस समय भी त्याग-शील साधु-स्वभाव नेताओं और कार्य-कर्ताओं का अभाव नहीं है। हाँ, राष्ट्र की वर्तमान अवस्था में ऐसे व्यक्ति अवश्य ही काफ़ी अधिक संख्या में होने की आवश्यकता है, जो उत्पादन कार्य में उपर्युक्त सिद्धांत का पालन करें।

उत्पत्ति का आदर्श; पूँजीवाद?—आज-कल पूँजीवाद के भावों का प्रचार बहुत है। अनेक आदमी उसी वस्तु की उत्पत्ति करते हैं, जिस

से उन्हें नफ़ा हो। वे किसी वस्तु की उत्पत्ति उस सीमा तक करते हैं, जहाँ तक करने से उन्हें अधिक से अधिक लाभ होता हो। उनका मुख्य लक्ष्य अपने मुनाफ़े का रहता है।* उनके कार्य से समाज का हित होता है, या नहीं, अथवा उनकी उत्पादन-विधि में श्रम-जीवियों के कुशल-क्षेम की रक्षा और वृद्धि होती है या नहीं, यह बात पूँजीपतियों के लिए गौण रहती है, वे इसपर उतना ही ध्यान देते हैं, जिस से वे क़ानून की पकड़ में न आवें। आधुनिक उत्पादन में पूँजी और मज़दूरी के झगड़े नित्य बने रहते हैं, द्वारावरोध और हड़तालों की आशंका रहती है। यद्यपि इनके निवारण के लिए क़ानून की व्यवस्था की जाती है, परंतु वह पर्याप्त नहीं होती। प्रायः पूँजीपतियों और सरकार का बहुत-कुछ सहयोग होता है और, निर्धन श्रमजीवियों का उद्धार नहीं होता। अधिकांश पूँजीपति जन-हितकारी व्यवस्था में वहाँ तक ही भाग लेते हैं, जहाँ तक उनके स्वार्थ पर विशेष आँच नहीं आती। वे शासन-पद्धति को व्यापक अर्थ में प्रजातंत्र-मूलक होने देने में यथा-संभव बाधक ही रहते हैं, वे एक प्रकार से साम्राज्यवाद के आधार-स्तंभ होते हैं, और पराधीन देश की स्वतंत्रता में, कुछ अप्रकट रूप से ही सही, रोड़े अटकाया करते हैं। फिर, असंख्य श्रमजीवियों के निर्धन, अशिक्षित तथा रोगी होने, और उनके निवास-स्थान और रहन-सहन बहुत निकृष्ट होने का परिणाम पूँजीपतियों के लिए भी हानिकर होता है। दूषित वातावरण में किसी को सुख शांति नहीं मिल सकती।

---

* यही कारण है कि अमरीका आदि के पूँजीपति जब यह देखते हैं कि उत्पत्ति का परिमाण इतना अधिक हो गया है कि वस्तु की दर गिरने, और उन्हें लाभ कम होने की संभावना है तो हज़ारों-लाखों आदमियों के वस्तु के लिए तरसते हुए भी पूँजीपति उस वस्तु को समुद्र या अग्नि की भेंट करने में संकोच नहीं करते।

इस प्रकार, पराधीन देश का विविध प्रकार से अनिष्ट होता है।

स्वाधीन देश का पूँजीवादी, जिस देश में उसका माल खपने की संभावना हो, उसी पर 'आर्थिक आक्रमण' करने को तैयार रहता है; अपने इस कार्य में उसे अपने देश की सरकार की सहानुभूति और सहयोग मिल जाता है। निर्बल और असंगठित देशों पर, इन पूँजीपतियों की गृद्ध-दृष्टि लगी रहती है। इस प्रकार संसार में महायुद्ध की आशंका हर-दम बनी रहती है।

परमार्थवाद और मध्यम मार्ग—उपर्युक्त कथन से यह स्पष्ट है कि पूँजीवाद या स्वार्थवाद, उत्पत्ति के आदर्श की दृष्टि से, सर्वथा त्याज्य है। इसमें वह सुख और शांति कहाँ, जो परमार्थवाद में है! भारतीय इतिहास ऐसे अनेक उज्वल चरित्रों से भरा पड़ा है, जिन्होंने अपने श्रम का बहु-मूल्य प्रतिफल देश और जाति की सेवा में अर्पण करके, विलक्षण सुख और संतोष का अनुभव किया। परंतु यद्यपि अनेक विचारवान् सज्जन ऐसा आदर्श रखने के अभिलाषी होते हैं, कुछ थोड़े-सों को ही यह सौभाग्य प्राप्त होता है। अतः सर्व-साधारण के लिए उत्पत्ति का व्यवहारिक आदर्श यह है कि उत्पत्ति से उत्पादक को लाभ हो, पर कष्ट या हानि किसी की न हो। हमारे कार्य से दूसरों का, समाज का, भी यथा-संभव हित-साधन हो।

विशेष वक्तव्य—कुछ आदमी बहुत कुछ कल्पना-जगत में रहते हुए यह उपदेश दिया करते हैं कि धन बहुत बुरी चीज़ है, इसकी उत्पत्ति या वृद्धि नहीं करनी चाहिए। यह उपदेश कहाँ तक समाज-हितकर है, यह सहज ही अनुमान किया जा सकता है। इस उपदेश के अनुसार व्यवहार करने से मनुष्यों का जीवन-धारण तथा विकास ही किस प्रकार

हो सकता है ? इसलिए दूर-दर्शी आचार्यों ने यही आदेश किया है कि धन की उत्पत्ति करो, चाहे जितना धन उत्पन्न करो, पर इस बात का ध्यान रखो कि यह कार्य धर्म-पूर्वक हो, किसी को कष्ट या हानि पहुँचा कर नहीं। दूसरों के स्वार्थ का भी ऐसा ही ध्यान रखो, जैसा स्वयं अपने स्वार्थ का। धर्म-पूर्वक उपार्जित धन से ही व्यक्ति का, देश का, और मानव समाज का वास्तविक हित-साधन होता है।

तृतीय खंड

उपभोग

नवाँ परिच्छेद

उपभोग और आवश्यकताएँ

प्राक्कथन—किसी पदार्थ की उत्पत्ति, उसके उपभोग किए जाने के लिए ही की जाती है। इस विचार से हम यह कह सकते हैं कि उपभोग और उत्पत्ति का कारण और कार्य का संबंध है। मनुष्यों को विविध प्रकार के पदार्थों की आवश्यकता होती है। वे उन्हें उपभोग करना चाहते हैं। इसीलिए संसार में तरह-तरह के काम-धंधे दिखलाई पड़ते हैं। यदि हमारी आवश्यकताएँ कुछ भी न रहें, तो संभवतः बहुत-से कार्य बंद कर दिए जायँ। साथ ही जो पुरुष यथेष्ट पदार्थ खाए-पिएगा ही नहीं, उसकी उत्पादन-शक्ति का ह्रास हो जायगा। इस प्रकार उपभोग का उत्पत्ति से घनिष्ठ संबंध है। अतः पिछले खंड में उत्पत्ति का विचार हो चुकने पर अब उपभोग का विषय लिया जाता है।

उपभोग में विचार की आवश्यकता—धन की उत्पत्ति बहुधा बहुत कठिन समझी जाती है, और उसे बढ़ाने के नए-नए ढंग

निकालने के लिए बड़े-बड़े दिमाग़ काम करते हैं। परंतु उपभोग की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया जाता। जैसा कि श्रीमान् एफ़० ए० वाकर ने अपने अर्थ-शास्त्र में लिखा है, लोग बिना पढ़े-लिखे ही अपने को इस विषय का पूर्ण ज्ञाता समझते हैं, परंतु अर्थ-शास्त्र के सिद्धांतों पर ध्यान देने से ज्ञात होता है कि वास्तव में प्रति सैकड़ा ९९ मनुष्यों के सिर अपव्ययी होने का दोष मढ़ा जा सकता है। इस कथन की सत्यता का जाँच के लिए आप भिन्न-भिन्न आदमियों द्वारा किए हुए एक महीने के ख़र्च पर सूक्ष्म विचार करें। आपको ज्ञात होजाएगा कि प्रायः प्रत्येक व्यक्ति ने कुछ-न-कुछ ख़र्च ऐसा अवश्य किया है जो उसे न करना चाहिए था, अथवा उसने जिस वस्तु को ख़रीदने में ख़र्च किया है, यदि उसमें न कर किसी अन्य वस्तु में करता तो वह उसके लिए अन्ततः अधिक उपयोगी होता। इसका कारण यह है कि कोई मनुष्य यह अच्छी तरह नहीं जानता कि किसी वस्तु के उपभोग में वास्तविक उपयोगिता कितनी होगी। कभी-कभी हमें बाज़ार से चीजें लाने पर ऐसा मालूम होता है कि उन चीज़ों में एक-दो ऐसी हैं, जो वास्तव में उतनी उपयोगी नहीं हैं, जितनी हम उन्हें समझते थे; इसके विपरीत कोई अन्य वस्तु, जिसे हम नहीं लाए हैं, हमारे लिए अधिक उपयोगी थी। ऐसी बातों से उपयोग के विवेचन की आवश्यकता स्पष्ट है।

उपभोग का महत्व केवल उपभोक्ता की ही दृष्टि से नहीं है। उत्पादकों को भी इसके विचार की अत्यंत आवश्यकता है। यदि हम ऐसी वस्तुएँ बनाते हैं, जिनका दूसरे आदमी उपभोग नहीं करते, और जिनके उपभोग करने की हमें भी आवश्यकता नहीं है, तो उक्त वस्तुओं को बनाने का कार्य अर्थ-शास्त्र की दृष्टि से 'उत्पत्ति' नहीं कहा जायगा। हमें इस बात का ध्यान रखना होगा कि जिन वस्तुओं को हम उत्पन्न करें, वे ऐसी हों, जिनका उपभोग होता है। इसका यह आशय नहीं

कि हम अपनी आय के वास्ते ऐसी वस्तुओं का भी उत्पादन करें जो सामाजिक दृष्टि से हानिकर हों; इस संबंध में पहले लिखा जा चुका है। अस्तु, उपभोग में विचार करने की आवश्यकता उपभोक्ताओं तथा उत्पादकों, सब को ही बहुत है।

अविवेकता से हानि—यदि कोई व्यक्ति उपभोग-संबंधी विचार की अवहेलना अधिक करता है तो उसका जीवन कितना कष्ट-मय हो जाता है, इसका सहज ही अनुमान हो सकता है। भोजन के ही विषय को लें; हमारा मन चाहता है कि जो चीज़ें स्वाद हों, खट्टी मीठी या चटपटी हों, उनका उपभोग करें, चाहे वे स्वास्थ्य की दृष्टिसे अनावश्यक और हानिकर हो। प्रायः हम उनका उपभोग करते भी है। इसका परिणाम यह होता है कि हमारा पैसा व्यर्थ जाता है, उसकी हानि तो होती ही है; स्वास्थ्य की भी हानि होती है। पुनः किसी व्यक्ति या परिवार की आय की एक सीमा होती है। यदि वह किसी के बहकाए या विज्ञापनवालों के धोखे में आकर, बहुत-सा पैसा कम उपयोगी वस्तुओं को खरीदने में खर्च कर डालता है, तो उसे अपने जीवन-निर्वाह में कठिनाई उपस्थित होगी। यह कोई कल्पित बात नहीं है। हम नित्य देखते हैं, बहुत से मज़दूर अपनी वेतन का खासा भाग मादक वस्तुओं के उपभोग में खर्च कर डालते हैं, और कितने ही युवक 'टाकी', चल-चित्र या नाटक आदि में बहुत-सा पैसा उड़ा देते हैं। वे उनका उपभोग करके क्षणिक आनंद लेते है, पर पीछे उन्हें कष्ट भी बहुत उठाना पड़ता है। अपनी अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उनके पास द्रव्याभाव हो जाता है, वे आजीवन ऋण-ग्रस्त रहते हैं। जब कि किन्हीं दो घरों की आमदनी बराबर हो, और दोनों के आदमी भी संख्या में समान हों, एवं उनकी आवश्यकताएँ भी बहुत-कुछ एक-सी ही हों, तब यदि एक अपना जीवन-निर्वाह अच्छी तरह कर रहा हो, और दूसरा बड़े कष्ट में हो तो समझना

किया जाता। यह शास्त्र उन्हीं आवश्यकताओं का विवेचन करता है, जो भौतिक पदार्थों से पूरी हो सकती हैं।

आवश्यकताओं के लक्षण—मानवी आवश्यकताओं के मुख्य लक्षण ये हैं—

(१) उनकी संख्या अपरिमित है। साधारणतया मनुष्य को भाँति-भाँति के भोजन, तरह-तरह के वस्त्र, नई-नई पुस्तकें और अन्य सामग्री की इच्छा बनी रहती है। सभ्यता के साथ-साथ ये आवश्यकताएँ अधिकाधिक बढ़ती जाती हैं, तथा मानसिक शक्ति की वृद्धि से नई-नई इच्छाएँ उत्पन्न होती हैं।

(२) यथेष्ट साधन होने पर मनुष्य की प्रत्येक आर्थिक आवश्यकता की पृथक्-पृथक् पूर्ति हो सकती है; परंतु ज्यों ही एक आवश्यकता पूरी होती है, त्यों ही दूसरी आ खड़ी होती है। इस प्रकार नई-नई आवश्यकताएँ पैदा होते रहने से साधारण मनुष्य की सब-की-सब आवश्यकताओं की पूर्ति होना कठिन है। पुनः प्राकृतिक या प्रारंभिक आवश्यकताओं की पूर्ति अधिक सरल और संभव है, परंतु कृत्रिम आवश्यकताओं के संबंध में यह निश्चय करना प्रायः बहुत कठिन होता है। उदाहरणार्थ यह अनुमान जल्द किया जा सकता है कि एक आदमी कितना भोजन करेगा, परंतु यह सहसा नहीं कहा जा सकता कि कितने द्रव्य, सामग्री या आभूषणों से कोई पुरुष या स्त्री संतुष्ट होगी।

(३) एक ही प्रकार की आवश्यकताओं में बहुधा प्रतियोगिता रहती है। एक आवश्यकता उसी प्रकार की दूसरी आवश्यकता को हटाकर उसका स्थानापन्न होने का प्रयत्न करती है। दूध पीनेवाले बहुत-से आदमियों को, उसकी महँगी की दशा में, चाय या कहवे का अभ्यास हो जाता है। सवारी के लिए भारतवर्ष में रथ या बैल-गाड़ी की आवश्यकता

का स्थान अब इक्के-बग्घी की आवश्यकता ने ग्रहण कर लिया है; अधिक समर्थ आदमी तो मोटर की अभिलाषा रखते हैं। गेहूँ खानेवाले अकाल के समय ज्वार, बेझर या मकई आदि से, और इनके भी अभाव में शाक-भाजी या वृक्षों की पत्तियों से निर्वाह करते हैं।

(४) आवश्यकताएँ पारस्परिक पूरक होती हैं, बहुधा एक वस्तु की पृथक् आवश्यकता कम होती है; उदाहरणार्थ शाक-भाजी के साथ मसाले, ईंधन और बर्तनों की आवश्यकता होती है। हाँ, उसका इक्के के साथ कोई संबंध नहीं है, परंतु इक्के के साथ घोड़े और साज आदि की आवश्यकता होगी। इस प्रकार मानवी आवश्यकताओं के कई समूह हैं। एक समूह की एक वस्तु का, उसी समूह की अन्य वस्तुओं से, परस्पर संबंध होता है।

(५) आवश्यकताओं की प्रवृत्ति आदत बनने की रहती है। जब एक चीज़ किसी देश में बराबर एक-दो पीढ़ी तक बरती जाती है, तब वहाँ वालों को उसकी आदत पड़ जाती है। इस प्रकार कृत्रिम आवश्यकताएँ प्राकृतिक आवश्यकता का स्वरूप धारण कर लेती हैं। योरप के देशों में नेकटाई या कालर वस्त्र का एक प्रधान अंग माना जाता है। अनेक मज़दूरों के लिए शराब एक आवश्यक वस्तु है। इस प्रकार आवश्यकताओं के बदलने या घटने-बढ़ने से समय-समय पर रहन-सहन का दर्ज़ा बदलता रहता है। भारतीयों के रहन-सहन के दर्जे का कुछ ब्यौरेवार विचार आगे, ग्यारहवें परिच्छेद में किया जायगा।

(६) आवश्यकताएँ मर्यादित की जा सकती है—उनका नियंत्रण हो सकता है। प्रायः इस बात को आदमी भूल जाते हैं; अर्थ-शास्त्र के ग्रन्थों में, इसका बहुत कम विचार किया जाता है। इसपर कुछ विशेष प्रकाश डालना आवश्यक है।

आवश्यकताओं का नियंत्रण—प्रायः लोगों की यह धारणा है कि यदि मनुष्य को इस संसार में कुछ उन्नति करनी हो, तो उसे अपनी आवश्यकताओं को सीमा-बद्ध नहीं करना चाहिए, और अपनी तत्कालीन परिस्थिति से संतुष्ट न होकर बराबर आगे बढ़ने का प्रयत्न करते रहना चाहिए। परंतु ऐसा करने से मनुष्य की कुछ-न-कुछ आवश्यकताएँ सदैव बनी रहेंगी, और उनकी पूर्ति न होने से वह सदैव दुःखी रहेगा। क्या इसका कोई उपाय नहीं? विचार करने पर विदित होगा कि मनुष्य इस विषय में सर्वथा निरुपाय नहीं है। हमारे मन में तरह-तरह के पदार्थों के उपभोग की इच्छा होती है, परंतु हम अपने मन का निग्रह करके, उसपर क़ाबू रखकर, उसे इधर-उधर भटकने से रोक सकते हैं। इसका यह आशय नहीं कि हम अपनी वर्तमान स्थिति से संतुष्ट होकर, उन्नति करने से ही विमुख रहें। नहीं, ऐसा करने से तो सभ्यता की वृद्धि और समाज का विकास ही रुक जायगा। अस्तु, नियंत्रण उन आवश्यकताओं का होना चाहिए, जिनकी पूर्ति हमारी वर्तमान स्थिति में संभव नहीं है, अथवा स्वयं हमारे, या देश के हित की दृष्टि से उचित नहीं है। यह विषय बहुत महत्व का है; इसके सुविचार पर देश तथा समाज की सुख शांति निर्भर है। भारतवर्ष की दृष्टि से इसका विचार इस खंड के अंतिम परिच्छेद में किया जायगा।

दसवाँ परिच्छेद

उपभोग के पदार्थ

उपभोग के पदार्थों का वर्गीकरण—मनुष्य विविध प्रकार के जिन अनेक पदार्थों का उपभोग करते हैं, उनके साधारणतया पाँच भेद किए जा सकते हैं—

(१) जीवन-रक्षक पदार्थ—जो प्राण-धारण करने के लिए आवश्यक हैं; जैसे, साधारण अन्न, साधारण वस्त्र, साधारण मकान आदि। इन पदार्थों की माँग कम लोचदार होती है,❀ और जैसे-जैसे इनकी क़ीमत बढ़ती जाती है, वैसे-वैसे इन पदार्थों पर होनेवाला कुल ख़र्च बढ़ता जाता है।

(२) निपुणता-दायक पदार्थ—ये जीवन-रक्षक पदार्थों के अतिरिक्त वे पदार्थ हैं, जिनके उपभोग से मनुष्यों की कार्य-कुशलता बढ़ती है, और उत्पादन में जो वृद्धि होती है उसका मूल्य इन पदार्थों के मूल्य से अधिक होता है उदाहरणार्थ, पुष्टिकारक भोजन, स्वच्छ वस्त्र, अच्छे हवादार मकान आदि। इनकी माँग भी कम लोचदार होती है, और जैसे-जैसे इनकी क़ीमत बढ़ती जाती है, वैसे-वैसे इनपर होनेवाला कुल ख़र्च भी बढ़ता जाता है।

❀ मूल्य के अल्प परिवर्तन से किसी वस्तु की माँग के बढ़ने या घटने के गुण को 'माँग की लोच' कहते हैं। जब किसी चीज़ की माँग, मूल्य में थोड़ा-सा परिवर्तन होने से ही बहुत घट-बढ़ जाती है, तो कहा जाता है कि उसकी माँग लोचदार है।

(३) कृत्रिम आवश्यकताओं के पदार्थ—जो वास्तव में आवश्यक नहीं होते, परंतु रीति-रस्म, आचार व्यवहार और आदतों के कारण आवश्यक समझे जाने लगते हैं। बहुधा इन के लिए बहुत-से आदमी अपनी जीवन-रक्षक या निपुणता-दायक पदार्थों में भी कुछ कमी कर देते हैं। उदाहरणार्थ, शराब, गाँजा, भाँग, तंबाकू, अफ़ीम, विवाह-शादियों में या जन्म-मरण के समय उपभोग किए जाने-वाले कई अनावश्यक पदार्थ। इनकी माँग भी कम लोचदार होती है, और जैसे-जैसे इनकी क़ीमत बढ़ती जाती है, इनपर होनेवाला कुल ख़र्च भी बढ़ता जाता है।

(४) आराम के पदार्थ—जिनके उपभोग से मनुष्य की कार्य-कुशलता बढ़ती है, परंतु उत्पादन में जो वृद्धि होती है उसका मूल्य उपभोग के पदार्थों के मूल्य की अपेक्षा कम रहता है। उदाहरणार्थ, मामूली मज़दूर के लिए साइकिल, बढ़िया कपड़े, क़ीमती मकान आदि। इनकी माँग साधारणतः लोचदार होती है, और जैसे-जैसे इनकी क़ीमत बढ़ती या घटती है, माँग भी प्रायः उसी अनुपात में घटती-बढ़ती है, जिससे उनपर किया जाने वाला कुल खर्च प्रायः एक-सा रहता है।

(५) विलासिता के पदार्थ—जिनके उपभोग से कार्य-कुशलता बहुत ही कम बढ़ती है, या नहीं भी बढ़ती, और, कुछ दशाओं में तो उसके घटने की संभावना रहती है। जैसे, एक मामूली मज़दूर के लिए बहुत ही बढ़िया कपड़े, चश्मा, मोटर आदि। इनकी माँग बहुत लोचदार होती है, और जैसे-जैसे इनकी क़ीमत बढ़ती जाती है, इन पर होनेवाला ख़र्च कम होता जाता है।

स्मरण रहे कि जो पदार्थ एक मनुष्य के लिए आराम या विलासिता का पदार्थ है, वही दूसरे के लिए निपुणता-दायक भी हो सकता है।

एक ही व्यक्ति के लिए भी, पदार्थ की क़ीमत बढ़ जाने पर, अथवा उस व्यक्ति के निर्धन हो जाने पर, निपुणता-दायक पदार्थ आराम या विलासिता का पदार्थ हो सकता है।

अधिकतम संतुष्टि-प्राप्ति—विविध पदार्थों का उपभोग इसलिए किया जाता है कि संतुष्टि की प्राप्ति हो। अब प्रश्न यह है कि किसी आदमी को अपनी आय किस प्रकार ख़र्च करनी चाहिए कि उसे अधिक-से-अधिक संतुष्टि मिले। इसके वास्ते उसे चाहिए कि वह विलासिता के पदार्थों का उपभोग छोड़ दे, और आराम के पदार्थों का उपभोग यथा-शक्ति कम करे। कृत्रिम आवश्यकताओं का ख़र्च मनुष्यों की आदतों और रीति-रस्मों पर निर्भर रहता है, और ये सहसा नहीं बदलतीं। इसलिए इन पर किया जाने वाला ख़र्च एकदम घटाया नहीं जा सकता; परंतु धीरे-धीरे प्रयत्न करने से, कुछ समय में, थोड़ी-बहुत सफलता मिल सकती है। इस प्रकार इन मदों से अपने ख़र्च की बचत करके मनुष्य को उसे निपुणता-दायक पदार्थों के उपभोग में लगाना चाहिए। इससे अंततः उसे अधिक संतुष्टि मिलेगी। यह बात पहले-पहल ठीक न जँचेगी। बहुधा आदमी अपनी निकटवर्ती संतुष्टि की ओर ध्यान देकर, उसकी प्राप्ति के लिए, अपनी आय ख़र्च करना अच्छा समझते हैं। परंतु यदि वे दूरदर्शिता से काम लें, और अपने उपभोग में उपर्युक्त परिवर्तन करें, तो निस्संदेह उन्हें अपनी भावी आवश्यकताओं के लिए चिंता करने का अवसर ही न मिले। ऐसा करने से उनकी कार्य-कुशलता, उत्पादन-शक्ति एवं आय बढ़ेगी, और फिर इस बढ़ी हुई आय का भी उसी प्रकार उपभोग करने पर वे अधिक लाभ एवं भावी संतुष्टि की वृद्धि का प्रबंध कर सकेंगे।

कुछ पदार्थों के उपभोग का विचार; (१) अन्न—अब कुछ पदार्थों के उपभोग का विचार करें। पहले अन्न का विषय लेते हैं।

समय-समय पर कुछ लेखकों ने यह हिसाब लगाया है कि यहाँ भिन्न-भिन्न प्रकार के अन्न की, कई वर्ष की औसतन पैदावार कुल मिला कर कितनी हुई, उसमें से कितना अन्न विदेश गया, और शेष कितना यहाँ रहा। (यदि हिसाब के वर्षों में कुछ अन्न विदेश से आया है, तो वह जोड़ लिया गया।) इस अन्न का परिमाण प्रति व्यक्ति कितना रहा, यह मालूम किया गया है। इस हिसाब से यह सिद्ध हुआ है कि हमारे बहुत-से आदमी गेहूँ चावल आदि बढ़िया अन्न को खरीदने की शक्ति न रखने के कारण, इनका यथेष्ट उपभोग नहीं कर सकते। बहुत-से आदमी घटिया अन्नों का उपभोग करते हैं। ज्वार, बाजरा, मकई, चना आदि घटिया अन्नों की जितनी पैदावार होती है, उसमें से कुछ पशुओं—गाय, बैल, भैंस, घोड़े, बकरी आदि के लिए खर्च होता ही है। यदि उसका हिसाब न लगाया जाय, तो भी प्रति मनुष्य अन्न के दैनिक उपभोग का औसत योरप अमरीका आदि के निवासियों की अपेक्षा कम बैठता है। इसके साथ यह बात भी विचारणीय है कि योरप अमरीका के आदमी मांस-भोजी हैं, उनके भोजन में औसतन मांस का काफ़ी परिमाण होता है, उसके विपरीत भारतवासी प्रायः शाक-भोजी हैं, यहाँ प्रति मनुष्य के भोजन में औसतन मांस का परिमाण बहुत कम होता है। इससे सिद्ध है कि यहाँ घटिया अन्न मिला कर भी लोगों को काफ़ी परिमाण में भोजन नहीं मिलता। अनेक आदमी सदैव अध-भूखे रहते हैं; वे 'वर्ष के आरंभ से अंत तक यह नहीं जानते कि भर-पेट भोजन क्या होता है।' नई फ़सल तैयार होने से पहले, अथवा दुर्भिक्ष के समय का तो यह साधारण अनुभव है कि असंख्य व्यक्ति पेड़ों की छाल, और बेर, महुआ, इमली, गूलर आदि फलों को सुखाकर तथा पीसकर आटे में मिलाकर खाते हैं, या गाजर, शलजम प्याज, ककड़ी आदि से अथवा मुलतानी मिट्टी आदि के मिश्रण तक से ही अपनी जठराग्नि शांत करने की चेष्टा करते हैं।

(२) नमक—यह एक जीवन-रक्षक पदार्थ है; और भारतवर्ष में यह उत्पन्न भी काफ़ी होता है, तथा इसकी उत्पत्ति सहज ही बहुत बढ़ाई जा सकती है। तथापि जनता को इसकी क़ीमत बहुत देनी पड़ती है। इसका कारण इस पदार्थ पर लगने वाला सरकारी कर है जो यहाँ समय-समय पर फ़ी-मन एक रुपए से, ढाई रुपए मन तक रहा है। यह कर लोगों को बहुत अखरता है, और इसका देश-नेताओं ने सदैव विरोध किया है। यहाँ आदमी बहुत ग़रीब हैं। अतः इस पदार्थ के जीवन-रक्षक होने पर भी, क़ीमत बढ़ते ही इसके उपभोग के कम हो जाने की संभावना हो जाती है। अन्य देशों में नमक के उपभोग का प्रति मनुष्य वार्षिक औसत भारत से बहुत अधिक है। इसकी आवश्यकता आदमियों के लिए ही नहीं, पशुओं के लिए भी होती है। परंतु महँगी के समय भारत के पशुओं की कौन कहे, आदमियों को भी नमक यथेष्ट मात्रा में नहीं मिलता।

(३) घी-दूध—जबकि जीवन-रक्षक पदार्थों—अन्न और नमक के उपभोग की यह दशा है तो घी-दूध आदि पौष्टिक पदार्थों के उपभोग का सहज ही अनुमान किया जा सकता है। भारतवर्ष में गाय भैंसों की संख्या, जन-संख्या के अनुपात से बहुत कम है। फिर, अधिकतर गाय-भैंस रखनेवाले किसान लोग हैं, जिनकी दरिद्रता सर्व-विदित ही है। इनकी गाय भैंसें जो दूध देती हैं, वह या तो पास के नगरों में बिकने चला जाता है, या उसका घी निकाल कर बेचा जाता है। किसानों तथा इनके बच्चों को मट्ठा या छाछ मिल जाय तो बहुत है; घी-दूध की चीज़ें तो किसी त्यौहार या सामाजिक भोज के अवसर पर नसीब होती हैं। भारतवर्ष में एक समय था, जब दूध-दही के बाहुल्य के कारण यह कहा जाता था कि यहाँ दूध-दही की नदियाँ बहती हैं। उस समय घर-घर गाय-भैंस, विशेषतया गाय होने से

किसी को दूध आदि ख़रीदने की आवश्यकता नहीं होती थी। जिस किसी को कभी दूध की ज़रूरत होती, वह विना मूल्य ही अपने निकट-वर्ती परिवारों से उसे प्राप्त कर सकता था। उन दिनों दूध बेचने की प्रथा नहीं थी। दूध और पूत (पुत्र) बेचना पाप माना जाता था। आज-दिन वह समय है कि दाम देकर भी ये चीज़ें, विशेषतया शहरों में, नितांत शुद्ध रूप में मिलना कठिन होता है। फिर, दाम देकर ख़रीदने की सामर्थ्य ही यहाँ प्रतिशत या प्रति सहस्र कितने व्यक्तियों को है ? बच्चों के भरण-पोषण के लिए, रोगियों को अधिकांश औषधियों के सेवन के लिए, और बूढ़ों की संजीवनी शक्ति की रक्षा के लिए गाय का दूध अमृत है। पर सर्व-साधारण के लिए दूध है कहाँ ! इसका परिणाम यह है कि भारतवासियों की शक्ति का ह्रास होरहा है और उनकी कार्य-कुशलता बहुत कम होती है। यही नहीं, वे निर्बल और रोगी होने के साथ, संसार के अनेक देशों के आदमियों की अपेक्षा अल्पायु होते हैं—जल्दी मर जाते हैं।

(४) खाँड़ और गुड़—अधिकांश हिंदुओं-जैसे निरामिष-भोजी ग़रीब मनुष्यों के लिए भोज्य पदार्थों में खाँड़ ही एक विलास-सामग्री है। यह मिठाइयों में बहुत ख़र्च होती है, जिन्हें हिंदू, मुसल-मान, ईसाई और योरपियन भी जन्मोत्सव, ब्याह-शादी, मृतक-संस्कार अथवा अन्य त्यौहारों या दावतों में बहुत खाते हैं। नगरों में बहुत-से विद्यार्थी तथा अन्य पेशेवाले बहुधा मिठाई का नाश्ता करते हैं। सन् १९३२ ई० से पूर्व यहाँ विदेशी खाँड़ की खपत बहुत होती थी। उक्त वर्ष में सरकार ने विदेशी खाँड़ पर काफ़ी कर लगा कर स्वदेशी खाँड़ के व्यवसाय को संरक्षण दिया, तब से यहाँ स्वदेशी खाँड़ अधिक तैयार होने लगी। अब यह पहले की अपेक्षा काफ़ी अधिक खपती है। तथापि बहुत से आदमी ऐसे हैं जिन्हें यह वर्तमान क़ीमत में भी मँहगी मालूम होती है, इसलिए वे इसका उपभोग नहीं कर

सकते। यदि इसके तैयार करने की लागत में कमी हो जाय और इसकी क़ीमत कम हो जाय तो यहाँ इसकी खपत और भी बढ़ सकती है।

अस्तु, अभी यहाँ जन-साधारण में गुड़ का ही उपभोग अधिक है। परंतु खाँड़ सस्ती हो जाने के साथ-साथ यह आशंका है कि आदमी गुड़ का उपभोग क्रमशः घटाते जायँगे और खाँड़ के उपभोग की मात्रा बढ़ाते जायँगे। ऐसा होना ठीक नहीं है। जैसा कि अखिल भारत ग्राम-उद्योग संघ द्वारा प्रकाशित पत्रक में कहा गया है, स्वास्थ्य की दृष्टि से खाँड़ की अपेक्षा गुड़ कहीं ज्यादा फ़ायदेमंद है, गुड़ में शरीर के लिए बहुत ज़रूरी कुछ ऐसे पोषक द्रव्य और जीवन-तत्व रहते हैं, जो खाँड़ में बिलकुल नहीं रह जाते। खाँड को पचाने के लिए पेट को, गुड़ पचाने की अपेक्षा ज़्यादा मेहनत करनी पड़ती है। इसके अतिरिक्त गुड़ खाँड़ से सस्ता होता है। उसमें मिठास अधिक रहती है। गुड़ अकेला खाकर भी पेट का आधार हो सकता है, पर खाँड़ अकेली नहीं खाई जाती। इस प्रकार गुड़ खाँड़ से कई गुना बचत करा देता है। कुछ लोगों का यह ख़्याल है कि गुड़ दूध या दही के साथ खाने से नुक़सान होता है, पर उनका यह भय निष्कारण है। खाँड़ सदा मोल ही लेनी पड़ती है। परंतु गुड़ तो गाँव में अपने घर पर ही बना लेने से बिना ख़र्च खाने को मिल जाता है। साथ ही ईख का छिलका और छूछ (खोई) ग़रीब देहातियों के ईंधन का काम देते हैं।

गुड़ का उद्योग बना रहने से उसका पैसा गाँवों में ही रहेगा और शहरों में भी गुड़ का प्रचार होने से खाँड़ पर ख़र्च होने वाला बहुत-सा पैसा भूखे, ग़रीब गाँववालों को मिलेगा जिससे उन्हें अमूल्य सहायता मिलेगी। जो लोग खाँड़ खाना न छोड़ सकें उन्हें हाथ की बनी शक्कर को इस्तेमाल करके ग़रीबों को पैसा देना चाहिए। सरकारी

कृषि-रसायन-विशेषज्ञ रावबहादुर डी. एल. सहस्रबुद्धे के मतानुसार हिन्दुस्थान में हर साल लगभग तीस लाख टन गुड़ बनता है; यदि इसकी खाँड़ बनाई जाय तो सिर्फ़ साढ़े इक्कीस लाख टन ही होगी। कोई कारण नहीं है कि साढ़े आठ लाख टन स्वास्थ्यप्रद बढ़िया खाद्य पदार्थ का इस तरह नुक़सान किया जाय।※

(५) **कपड़ा**—भारतवर्ष में विशेषतया चार प्रकार का कपड़ा इस्तेमाल होता है—(क) विदेशी, (ख) भारतीय मिलों के सूत का, मिलों में ही बुना हुआ (ग) भारतीय मिलों के सूत का, जुलाहों द्वारा हाथ से बुना हुआ, और (घ) हाथ से कते सूत का, हाथ से बुना हुआ। गत वर्षों में राष्ट्रीय आन्दोलन की प्रगति के कारण विदेशी कपड़े की ओर अनेक भारतवासियों की अरुचि हो गई है, और स्वदेशी वस्त्र का व्यवहार बढ़ रहा है तथापि अभी विदेशी कपड़े का यहाँ काफ़ी ख़र्च है। विशेषतया जापान के नक़ली रेशम आदि के वस्त्र का उपभोग बहुत बढ़ रहा है, यह क़ीमत में सस्ता अवश्य होता है, परंतु टिकाऊ कम होने के कारण वास्तव में बहुत मँहगा पड़ता है।

ऊपर यहाँ उपभोग किए जानेवाले चार प्रकार के वस्त्र का उल्लेख किया गया है, वह सब मिला कर भी यहाँ के बहुत-से आदमियों को

※ आज-कल बाज़ार में साफ़ और शुद्ध गुड़ बहुत ही कम दिखाई देता है। साधारणतः लोग गुड़ बनाते समय गन्ने के ऊपर का मैल और रस का मैल सब पका डालते हैं। उन्हें मक्खी या अन्य कीड़े-मकोड़ों की भी परवा नहीं रहती। शुद्ध साफ़ गुड़ परख कर ख़रीदना चाहिए। इसके लिए थोड़ा सा गुड़ कुछ पानी में घोल कर उसे कुछ देर पड़ा रहने दें, और फिर धीरे से कपड़े में छान डालें। गुड़ में यदि मैल होगा तो वह बरतन में नीचे जमा हुआ, और कुछ कपड़े में रह जायगा।

आवश्यकतानुसार कपड़ा नहीं मिल पाता। इस बात का जीता-जागता प्रमाण हर घड़ी हमारे सामने रहता है। यह ठीक है कि विवाह-शादी अथवा मेले-तमाशों में कुछ आदमी तरह-तरह के चटकीले-भड़कीले और कुछ बढ़िया वस्त्र पहनकर निकलते हैं, एवं सरकारी नौकर अथवा उच्च श्रेणी के कुछ आदमी कपड़ों में फ़ैशन का बहुत ध्यान रखते हैं, परंतु इससे वास्तविक दशा को अच्छा समझना भ्रम-मूलक है। उसे जानने के वास्ते तो हमें साधारण आदमियों को साधारण परिस्थिति में देखना चाहिए। भारतीय जनता का वास्तविक प्रतिनिधि यदि कोई हो सकता है, तो वह किसान है। और, वह क्या पहनता है? गर्मियों के दिनों में वह प्रायः 'अर्द्ध-नग्न' रहता है। एक छोटी-सी घुटनों से भी ऊपर तक रहनेवाली धोती, और सिर पर एक मामूली पगड़ी होती है। इनके बच्चे बहुधा नंगे फिरा करते हैं। बड़ी-बड़ी लड़कियाँ भी बहुधा लंगोटी लगा-कर अपनी लज्जा निवारण करती हैं। जाड़े के दिनों में अनेक किसानों या कृषि-श्रमजीवियों के बदन पर केवल एक सूती मिर्ज़ई या अंगरखा होता है, जिसके बदलने का अवसर प्रायः उसके फटजाने पर ही आता है। ऊनी वस्त्रों का तो अभाव ही रहता है। रात्रि में ओढ़ने के लिए एक मामूली रजाई और बिछाने को पयाल (धान का फूस) मिल जाय तो गनीमत है। बहुत-से आदमियों को खेतों पर पहरा देते समय एक फटी-पुरानी चादर में रात काटनी पड़ती है।

हमारे अनेक आदमियों का, वस्त्र का यह अल्प उपभोग हमारी आर्थिक हीनता का चलता-फिरता प्रमाण है। यदि किसान और कृषि-श्रमजीवी अपने अवकाश के समय (जो बहुत काफी होता है) कपास ओट लें, और रुई का सूत कातकर कपड़ा बुनवालें तो वह इन्हें मुफ़्त-सरीखा पड़ सकता है। इसमें स्त्रियों के श्रम का भी बहुत अच्छा उप-योग हो सकता है। किसानों के अतिरिक्त, गाँवों तथा नगरों के अन्य

आदमियों को भी चाहिए कि यथा-संभव खद्दर का ही इस्तेमाल करें, जिससे कपास पैदा करनेवाले, ओटनेवाले, सूत कातनेवाले और कपड़ा बुननेवाले-इन सब ग़रीब भाई-बहिनों को सहायता मिले। अस्तु, यदि सर्व-साधारण के लिए कपड़े की समस्या का कुछ हल हो सकता है तो विशेष आशा खद्दर के धंधे के पुनरुज्जीवन से ही है, इसके संबंध में आवश्यक बातें पहले लिखी जा चुकी हैं।

(६) चाय—इस पदार्थ का उपभोग उत्तरोत्तर बढ़ता जा रहा है, गत वर्षों में इसमें विलक्षण वृद्धि हुई है। इसका शौक पहले उच्च दर्जे के रहन-सहन वाले व्यक्ति ही करते थे। क्रमशः युवकों और विद्यार्थियों ने इसे अपनाया। अब तो साधारण श्रमजीवियों तक में इसका प्रचार ख़ूब जोर से हो रहा है। इसका कारण बहुत-कुछ चाय की कंपनियों की व्यापार-कुशलता और विज्ञापन-चातुर्य है। जगह-जगह इनके एजंट घूमते हैं, और ग्रामोफोन के गीत सुनाकर, सिनेमा आदि के चित्र दिखा-कर, जहाँ-तहाँ दीवारों पर, स्टेशनों और चौराहों पर सुंदर बढ़िया रंगीन चित्रवाले विज्ञापन चिपकाकर एवं भिन्न-भिन्न भाषा के पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित कराकर, सर्व-साधारण के मन में यह बात बैठाई जाती है कि चाय एक स्वादिष्ट और स्वास्थ्य-वर्द्धक पेय है; यह गर्मी में ठंढक पहुँचाती है, और सर्दी में बदन को गर्म रखती है। इस प्रकार यह प्रत्येक व्यक्ति के लिए प्रत्येक ऋतु में उपयोगी सिद्ध की जाती है। निर्धन भारत-वासियों को अब गाय का दूध दुर्लभ होता जा रहा है, और वे इस नए हानिकर पदार्थ का शौक करके संतोष प्राप्त करते हैं। अनेक स्थानों में अब यह स्वागत-सत्कार की चीज़ बन गई है। कितने आदमी तो प्रति दिन कई-कई प्याले उड़ा जाते हैं, और भोजन की ओर से प्रायः निश्चिंत रहते हैं। कई डाक्टरों की सम्मति के आधार पर यह कहा जा सकता है, कि यह एक हल्का उत्तेजक पदार्थ है, जो मनुष्य की शक्ति

को उसी प्रकार बढ़ाता है, जैसे दुर्बल घोड़े की शक्ति को चाबुक या हंटर बढ़ाता है। पाठकों को चाहिए कि वे मिथ्या या अत्युक्ति-पूर्ण विज्ञापनों के धोखे में न आवें। यदि उन्हें अपनी शक्ति वास्तव में बढ़ानी है, तो दूध घी, फल मेवा आदि पौष्टिक पदार्थों का सेवन करें न कि चाय जैसे उत्तेजक पदार्थों का।

(७) **तंबाकू**—बहुत-से लोगों के लिए तंबाकू एक आवश्यक पदार्थ हो गया है। नवयुवकों अथवा शौक़ीनों को हुक्क़ा अच्छा नहीं लगता; वे सिगरेट या बीड़ी पीते हैं, यद्यपि उसका धुआँ हुक्के के धुएँ से अधिक हानिकर है। तंबाकू का सेवन बहुत बढ़ गया है; और अब तो सिगरेट या बीड़ी का पीना, फ़ैशन में दाख़िल होजाने के कारण, बढ़ता ही जाता है। मिलों में काम करने वाले साधारण, निम्न-श्रेणी के, मज़दूर अपने वेतन से चाहे जीवन-रक्षक पदार्थ यथेष्ठ मात्रा में न पा सकें, परंतु इस शौक़ के लिए तो पैसे निकाल ही लेते हैं। गाँव में रहने वालों के लिए हुक्का बिरादरी में शामिल रहने का चिह्न, तथा कार्य करके थक जाने पर विश्राम पाने का साधन, बन गया है। बहुतेरे आदमी तंबाकू पाते नहीं, तो सूँघते या खाते ही हैं। निदान बहुत कम आदमी ऐसे मिलेंगे, जो इसका बिलकुल व्यवहार नहीं करते। यों तो, जो आदमी इसका सेवन करते हैं, वे इसके अनेक गुण बताकर कोई-न-कोई बहाना ऐसा कर ही सकते हैं, जिससे उनका इसमें किया जानेवाला खर्च सदुपभोग ठहरे। परंतु वास्तव में बड़े-बड़े वैद्यों और डाक्टरों का यह मत है कि तंबाकू खाने, पीने या सूँघने से इन विकारों के होने का भय रहता है—मंद-दृष्टि, मूर्च्छा, मुँह में बदबू, कलेजे में जलन, छाती में कफ बढ़ना, दाँतों की कमज़ोरी, पित्त की वृद्धि, शरीर की निर्बलता आदि। संभव है, कुछ आदमी तंबाकू का सेवन किन्हीं विशेष अवस्थाओं में, कोई ख़ास बीमारी दूर करने के लिए औषधि-

रूप में, करते हों, परंतु इनकी संख्या मुश्किल से एक फ़ी-सदी होगी। अधिकांश आदमी देखा-देखी, शौक़ के लिए, इसका ख़ुद इस्तेमाल, और यार-दोस्तों में प्रचार करते हैं।

देश के जो आदमी इसका सेवन करते हैं, उनके प्रति दिन के इस उपभोग का औसत यदि एक पैसा माना जाय, तो पाठक हिसाब लगा सकते हैं कि देश का कुल कितने करोड़ रुपया प्रति वर्ष इस मद में ख़र्च हो जाता है। एक लेखक ने तो हिसाब लगाकर दिखाया है कि इससे प्रति वर्ष कम-से-कम दो अरब रुपए व्यर्थ जाते हैं।* स्वास्थ्य-हानि रही अलग।

(८) मादक द्रव्य—निम्न श्रेणी के बहुत-से आदमी भाँग, गाँजा, चरस और अफ़ीम आदि का सेवन करते हैं। आधुनिक समाज-सुधार के उद्योग में इन पदार्थों के उपभोग को कम करने का प्रयत्न किया जा रहा है; परंतु अभी इस दिशा में बहुत कार्य करने की आवश्यकता है।

पाश्चात्य सभ्यता के संसर्ग से मद्य-पान का घातक प्रचार बढ़ता ही जा रहा है। यद्यपि भारतवर्ष के दोनों प्रधान धर्म—हिंदू और इसलाम मज़हब इसके सेवन की निंदा करते हैं, तथापि निम्न श्रेणी के लोग नशा अधिकाधिक बढ़ाते जा रहे हैं। मज़दूर और किसान अपनी बहुत-सी गाढ़ी कमाई इसमें व्यय करके अपना और अपने परिवारों का जीवन दुःखमय बनाते हैं। उच्च श्रेणी के वे मनुष्य, जो विलायती ढङ्ग से रहने लगे हैं, मद्य-पान से परहेज़ नहीं करते। कुछ आदमी, अपनी बिरादरी से छिपाकर, इसका सेवन करते हैं। कुछ सज्जन मादक वस्तु-प्रचार-निरोध 'टेंप्रेंस' सभाएँ क़ायम करके उसके विरुद्ध लोक-मत तैयार कर रहे हैं; परंतु कई स्थानों में, अधिकारियों की टेढ़ी निगाह और

---

* सिगरेट-बीड़ी पीनेवालों ने देश में दियासलाई का भी ख़र्च बे-हद बढ़ा दिया है।

अन्य सरकारी बाधाओं के कारण, उन्हें यथेष्ट सफलता नहीं मिलती। खेद की बात है कि सरकार मादक द्रव्यों की आय की वृद्धि को बुरा नहीं समझती। अनेक स्थानों में मादक पदार्थ खुले-आम बाज़ार के बीच बेचे जाते हैं, कोई तीर्थ-स्थान भी इन से बचा नहीं। मज़दूरों के लिए बहुधा कारखानों और खानों के पास ही शराब की दुकानों की व्यवस्था रहती है। इससे वे अभागे अनेकशः अपनी साप्ताहिक वेतन लेकर, घर पहुंचने से भी पूर्व अपनी गाढ़ी कमाई के पैसे मदिरा देवी की ही भेंट करते हैं। दरिद्र भारत अपना असंख्य रुपया नशे में उड़ावे, यह दुःख का विषय है। देश-हितैषी इस विषय पर ध्यान दें।

भोजन-वस्त्रादि के उपभोग की विधि—उपभोग की वस्तुओं के अतिरिक्त, उपभोग की विधि की ओर भी ध्यान देना आवश्यक है। बहुत-से आदमी बढ़िया अन्न तो खाते हैं, पर उनके उपभोग की विधि ऐसी अ-वैज्ञानिक है कि उससे अन्न के कई आवश्यक तत्व नष्ट हो जाते हैं, शरीर को उनका आवश्यक लाभ नहीं पहुंचता। उदाहरणवत् आज-कल शहरों में ही नहीं, अनेक क़स्बों में और कहीं-कहीं तो गाँवों तक में आटा पीसने के लिए मिलें लग गई हैं। और, साधारण श्रेणी के आदमी भी अपने उपभोग के लिए आटा स्वयं न पीस कर, वहाँ पिसवा लाते हैं। मशीन की चक्की की गरमी से आटे के जीवन-तत्व कम हो जाते हैं, और आटा महीन हो जाने से पचने में भारी तथा स्वास्थ्य के लिए हानिकर हो जाता है। अतः आटा हाथ की चक्की का ही पिसा हुआ इस्तेमाल करना चाहिए,※ तथा उसे छानस या चोकर

※ जो आदमी आटा स्वयं पीसेंगे, उनके पिसाई के पैसे बचेंगे, तथा व्यायाम का लाभ होगा, विशेषतः स्त्रियों के लिए यह व्यायाम बहुत उपयोगी; है और, जो व्यक्ति आटा दूसरों से पिसवाएँगे, वे सहज ही उनकी आर्थिक सहायता कर सकेंगे।

सहित खाना चाहिए, जिससे वह जल्दी हज़्म हो सके और शरीर को उसके सब पोषक तत्वों का लाभ मिले। बेसन या मैदा बहुत हानिकर वस्तु है।

चावल भी 'पूरा' खाया जाना चाहिए, जो धान का केवल छिलका निकाल देने के बाद शेष रहता है। परंतु प्रायः इस चावल को घिस कर इसके ऊपर का कुछ हिस्सा घटा दिया जाया जाता है, जिससे चावल बहुत सफ़ेद हो जाय और उसमें चमक आ जाय। प्रायः मध्य तथा उच्च श्रेणी के व्यक्ति एवं शौकीन लोग इस 'घटाए हुए' चावल का उपभोग करते हैं; इसमें से बहुत-सा पोषक तत्व निकल जाता है, और यह शरीर के लिए अस्वास्थ्य-कर होता है। यही बात दालों के विषय में है। आज-कल धोई हुई दाल का प्रचार अधिक हो गया है। छिलकेवाली दाल को, जिसे 'काली दाल' कहते हैं, आदमी कम पसंद करते हैं। स्वास्थ्य की दृष्टि से छिलके सहित दाल का सेवन करना अधिक उपयोगी है।

तिल या सरसों का तेल ऐसा इस्तेमाल किया जाना चाहिए जो कोल्हू या घानी में निकाला गया हो। मिल से निकले हुए तेल में मूंगफली आदि का अन्य सस्ता तेल मिला रहता है, तथा, वह अधिक समय तक पड़ा रहने से खराब न हो जाय, इस आशंका से उसमें कुछ रासायनिक द्रव्य डाले जाते हैं, जो स्वास्थ्य के लिए हानिकर हैं। घानी या कोल्हू से निकाला हुआ तेल बारीकी से न छाने जाने के कारण उतना साफ़ नहीं होता, पर उसमें जो चीज रहती है, वह उन दानों का ही अंश होता है, जिनसे तेल निकला है, अतः स्वास्थ्य के वास्ते हानिकर नहीं है।*

---

* मिल की बनी खली निस्सत्व होती है, किसी काम नहीं आती, पर घानी या कोल्हू की खली पशुओं के लिए बहुत अच्छा पौष्टिक भोजन है। इस प्रकार इस तेल में यह भी लाभ है; इसके धंधे से गरीब आदमियों को रोजी तो मिलती ही है।

तली हुई चीज़ें, अथवा जिनमें खटाई मिर्च मसाले बहुत हों, शरीर के लिए हानिकर होती हैं। इनका परित्याग किया जाना चाहिए। शौक़ीनी या जिव्हा के स्वाद के वास्ते स्वास्थ्य को बलिदान न करना चाहिए। वस्त्र के विषय में भी इस प्रकार का विचार रखना आवश्यक है। हम खद्दर पहनने के आर्थिक लाभ बता चुके हैं। उसके अतिरिक्त इस बात का भी ध्यान रखा जाना चाहिए कि हमारे कपड़ों के रंग बहुत चटकीले-भड़कीले न होने चाहिए; ये आँखों के लिए हानिकारक हैं। वास्तव में हमारे भोजन-वस्त्र आदि का मन पर बहुत प्रभाव पड़ता है, और सात्विक रहन-सहन का मानसिक उन्नति से ऐसा घनिष्ट संबंध है कि 'सादा जीवन और उच्च विचार' एक कहावत ही हो गई है।

उपभोग के पदार्थों के शुद्ध होने की आवश्यकता— आज-कल हम बहुत सी ऐसी वस्तुओं का उपभोग करते हैं, जो बाज़ार से मोल लाई जाती हैं; घर पर नहीं बनाई जातीं। शहरों में पूरी-कचौरी और मिठाई आदि का ही कितना खर्च हो जाता है! हमारे उपभोग की कितनी ही वस्तुएँ तो दूर-दूर के नगरों से ही नहीं, अन्य देशों से आती हैं। और, अनेक आदमी अपने लाभ के लिए बहुत पुरानी, घटिया या मिलावट वाली चीज़ों को अच्छी, ताजी और बढ़िया कह कर बेचते हैं। मिलावटवाले तेल, और चमकाए हुए चावल का उल्लेख अन्यत्र किया गया है। अनेक स्थानों में हल्दी, सोंठ, इलायची और दाल आदि को खास तरह से रंग कर बेचा जाता है। कई मिठाइयों में भी रंग डाला जाता है। बाज़ारों में शुद्ध घी दूध मिलना तो कठिन ही होता है। गेहूँ के आटे में अन्य घटिया आटा मिला होना साधारण बात है। कहाँ तक गिनावें, प्रायः प्रत्येक वस्तु में मिलावट की आशंका होने लगी है। इसका परिणाम यह होता है कि मनुष्यों को, किसी वस्तु के उपभोग से जितना लाभ या सुख मिलना चाहिए, नहीं मिल पाता। बहुत

आवश्यकता है कि उपभोक्ता प्रत्येक वस्तु को खूब जाँच करने के पश्चात लें: बाज़ार की चीज़ों का इस्तेमाल ही कम हो, और क़ानून से, तथा नागारिकता की शिक्षा द्वारा उपभोक्ताओं के हित की समुचित व्यवस्था की जाय।

भारतवासियों के मकान—खाने-पहिनने आदि की मुख्य-मुख्य वस्तुओं के उपभोग का विचार हो चुका। अब तनिक मकानों का विचार कीजिए। पिछली मनुष्य-गणना के अनुसार यहाँ बर्मा सहित समस्त भारतवर्ष में 'घरों' की कुल संख्या ७ करोड़ ११ लाख थी। इस प्रकार औसतन प्रति पाँच मनुष्यों पीछे एक घर था। क़स्बों तथा देहातों में, एवं ब्रिटिश भारत या देशी रियासतों में यह औसत लगभग समान ही है।

यह ठीक है कि बंबई, कलकत्ता और देहली आदि में कितने ही मकान शाही महलों की भाँति भव्य और विशाल हैं, कुछ देशी राज्यों की राजधानियों में भी स्वयं राजाओं तथा उनके उच्च कर्मचारियों या कृपा-पात्रों के मकान साधारण दर्शक को चकित करने वाले हैं। परंतु ये सब मिलाकर, भारतवर्ष के कुल मकानों में प्रति सहस्र या प्रति लाख कितने हैं! नगरों में कुछ थोड़े-से सौभाग्यशाली व्यक्तियों को छोड़ कर, सर्वसाधारण को मकान की कितनी असुविधाएँ हैं, यह सर्व-विदित है। मकानों को संख्या कम, उनका किराया बहुत अधिक, और अधिकतर आदमियों की आय बहुत मामूली! इसका परिणाम यह होता है कि बहुत-से आदमी बहुत तंग, और अंधकार-पूर्ण गलियों के छोटे-छोटे मकानों में रहते हैं। बहुधा एक कमरे में कई-कई आदमियों को रहना पड़ता है; अथवा एक ही कमरे में एक से अधिक परिवारों को गुज़र करनी पड़ती है। बड़े-बड़े शहरों में मिलों और कारखानों ने श्रमियों के लिए मकानों की अलग ही समस्या उपस्थित कर

रक्खी है। इसमें कुछ सुधार होरहा है, पर अभी तो वह, दाल में नमक के समान भी नहीं।

अब तनिक देहातों के मकानों की बात लें—भारतवर्ष अधिकाँश में देहातों का ही देश है। देहातों में कुछ ज़मींदारों या महाजनों के घर कुछ बड़े, दुमंजिले और पक्के हैं, वहाँ के मध्य श्रेणी के आदमी भी क्रमशः पक्के मकान बनवा रहे हैं। यह होते हुए भी सर्व-साधारण के मकानों की क्या दशा है? अधिकांश के मकान कच्चे हैं, जिनकी प्रति वर्ष, बरसात से पहले मरम्मत करने की ज़रूरत होती है, अन्यथा वे टपकते हैं, और दो-तीन साल बाद तो गिरने ही लगते हैं। अधिकांश घरों में रसोई के लिए अलग कोठरी नहीं होती; पशु भी वहाँ ही रहते हैं। इससे होने वाली असुविधा एवं स्वास्थ्य-हानि स्पष्ट है। हमारे अनेक बंधु तो फूस की झोपड़ियों में ही जैसे-तैसे गुज़र करते हैं, जहाँ धूप और वर्षा सभी सहनी पड़ती है। इन झोपड़ियों के भीतर जाते समय तथा इनसे निकलते हुए आदमियों को सिर नवाना और कमर झुकानी पड़ती है; दुर्भाग्य से इनमें रहने वालों का सिर समाज में सदैव ही नीचा रहता है; फिर, शहरों और गाँवों में अनेक आदमी सर्वथा गृह-हीन भी तो हैं, उनके विषय में क्या लिखें!

घरों का सामान—हमने घरों की स्थिति देख ली, अब यह भी जान लें कि घरों में सामान कैसा रहता है। कुछ राजा-महाराजाओं, या पूँजीपतियों, सेठ-साहूकारों या ज़मींदारों, ताल्लुकेदारों, वकीलों या उच्च सरकारी नौकरों के घरों के सामान की सूची अवश्य कुछ लम्बी होती है, परंतु जैसा कि पहले कहा गया है इनकी संख्या कुल भारतीय जनता के अनुपात में अत्यंत क्षुद्र है। कुछ मध्य श्रेणी के व्यक्तियों को भी घरों में 'फरनिचर' बढ़ाने की फिक्र होती है। बहुत-से आधुनिक शिक्षा-प्राप्त युवकों के यहाँ मेज़, कुर्सी और बेंच साधारण

बात है। रसोई के साधारण बर्तनों के अतिरिक्त 'कुकर', 'स्टोव' (जिसमें मिट्टी के तेल की आँच से खाना पकाया जाता है), 'टिफन-केरियर,' (भोजन रखने का बर्तन) भी होते हैं। कपड़े रखने के लिए संदूकों की जगह बड़े-बड़े ट्रंक, अलमारी, 'हैंड-बेग' तथा सोने के वास्ते साधारण चारपाइयों की जगह लोहे के स्प्रिंगदार बढ़िया 'कोच' (पलंग) होते हैं। रोशनी के लिए लालटैन या तरह-तरह के लैंपों का प्रचार हो ररहा है, और अब तो बिजली की व्यवस्था हो जाने से, उसके 'बल्ब' रखे जाते हैं। मनोरंजन के लिए बड़े-बड़े रंगीन चित्र, तथा ग्रामोफोन या हारमोनियम आदि का उपयोग होता है। फुटकर सामान—आइने, हज़ामत का सामान, चायदानी, तश्तरी, प्लेट, 'कप', कुछ पुस्तकें, पूजा का सामान आदि भी क्रमशः अधिक परिमाण में रहने लगा है। परंतु, अधिकतर आदमियों के साधन परिमित होते हैं, और उनका बहुत-सा सामान ज़्यादहतर दिखावट के लिए होता है।

भारतीय जनता का अधिकांश भाग गाँवों में रहनेवाला कृषक-समुदाय है, अब तनिक इनके घरों या झोपड़ों के सामान का विचार करें। इनके यहाँ खेती के औज़ारों के अतिरिक्त, साधारण क़ीमत की कुछ इनी-गिनी वस्तुएँ—चक्की, चर्खा, सूप, चारपाई, या चटाई, और कुछ मिट्टी के घड़े होते हैं, जिनमें अनाज या आटा दाल आदि होता है। भोजन पकाने और खाने के लिए ये कुछ मिट्टी के वर्तन, अथवा कुछ दशाओं में पीतल आदि के मामूली वर्तन रखते हैं। पानी के वास्ते एक लोहे या टीन का डोल या बाल्टी, कुछ मिट्टी के घड़े, और कहीं-कहीं एकाध पीतल की टोकनी या हंडा होता है। यद्यपि आज-कल कुछ आदमी लैंप या लालटेन का इस्तेमाल करते जा रहे हैं, अधिकांश भारतीयों के घर में मिट्टी का दीपक ही प्रकाश करता है, जो आले में या लकड़ी की दीवट पर रखा जाता है; उच्च घरानों में उसके रखने के लिए पीतल का पतीलसोत काम में लाया जाता है। अन्यथा, अनेक

घरों में रोशनी करने का साधन ही नहीं होता। अनेक आदमियों में इतनी सामर्थ्य नहीं कि महीने में कुछ पैसों का तेल जला सकें। फिर, देश में इनसे भी तो अधिक निर्धन-बंधु रहते हैं। इन पंक्तियों के लेखक ने धनी और संपन्न गिने जानेवाले बंबई, कलकत्ता, देहली और इंदौर आदि में भव्य-विशाल भवनों के बरांडों में या छज्जों के नीचे प्रातः काल आश्चर्य नहीं तो दुःख-पूर्वक अनेक ऐसे घर-हीन दरिद्र व्यक्तियों को देखा है, जिनका कुल सामान एक फटे-पुराने कपड़े की छोटी-सी पोटली में लिपटा होता है। इस सामान के परिमाण या प्रकार का पाठक स्वयं अनुमान करलें।

सामुहिक उपभोग के पदार्थ—ऊपर व्यक्तिगत रूप से उपभोग किए जाने वाले पदार्थों के विषय में लिखा गया है; अब सामुहिक उपभोग का विचार करें। कुछ इने-गिने बड़े-बड़े शहरों को छोड़ कर, जिनकी कुल जन-संख्या बहुत कम है, हमारे कितने क़स्बों या ग्रामों में सरकारी या ग़ैर-सरकारी वाचनालय और पुस्तकालय हैं? यह ठीक है कि देश में शिक्षा-प्रचार कम है, पर उसके दूर करने का भी तो एक उपाय यही है कि स्थान-स्थान पर इन संस्थाओं की स्थापना हो। अच्छा, उसकी बात रहने दें। उद्यान (पार्क), व्यायामशाला, क्रीड़ा-शालाएँ आदि कितने स्थानों में हैं! शहरों में चल-चित्र और वाक्-पट ('टाकी') बढ़ रहे हैं पर उनका लक्ष्य विशेषतया जनता का द्रव्य खैंचना है। और लीजिए; हमारे सात लाख गांवों और क़स्बों आदि में कितनों में चिकित्सालय और औषधालय हैं? अधिकतर आदमी बीमार पड़ते हैं तो अपने भाग्य का दोष समझ कर रह जाते हैं; फिर, वे औषधि की चिंता क्या करें, जबकि बेचारों का रोटी-कपड़े की चिंता से ही छुटकारा नहीं। यात्रियों को समुचित आश्रय मिलने की व्यवस्था कितने स्थानों में है? यह ठीक है कि विशेषतया तीर्थ-स्थानों में कुछ धर्मशालाएँ बनी हुई हैं; पर इन स्थानों में भी उत्सवों या पर्वों के

समय सहस्त्रों आदमी खुले मैदान में डेरा डाले हुए देखे जाते हैं। अस्तु, इस संबंध में और भी बहुत सी बातों का विचार हो सकता है, परंतु विस्तार-भय से, इस संक्षिप्त उल्लेख से ही संतोष किया जाता है। इससे ही वस्तु-स्थिति का परिचय मिल जाता है, इस बात का ज्ञान प्राप्त हो जाता है कि हम कैसे पदार्थों का और कहाँ तक व्यक्तिगत अथवा सामुहिक रूप से उपभोग करते हैं।

ग्यारहवाँ परिच्छेद

रहन-सहन और पारिवारिक आय-व्यय

पिछले परिच्छेद में उपभोग के पदार्थों का विचार हो चुकने पर अब यहाँ के रहन-सहन का अनुमान अच्छी तरह हो सकता है। स्मरण रहे कि लोगों के रहन-सहन पर कई बातों का प्रभाव पड़ता है।

रहन-सहन पर प्रभाव डालनेवाली बातें—किसी व्यक्ति के रहन-सहन का अनुमान करने, और उसकी दूसरे आदमी के रहन-सहन से तुलना करने के वास्ते यह विचार करना होता है कि उनमें से प्रत्येक ने अपने उपभोग के पदार्थों में कितना द्रव्य व्यय किया। परंतु इस संबंध में द्रव्य की क्रय-शक्ति का भी ख्याल रखना आवश्यक है, कारण कि भिन्न-भिन्न समय और स्थान में, इसमें अंतर होता है; एक समय या एक जगह वस्तुएँ, दूसरे समय या स्थान की अपेक्षा महंगी या सस्ती होती हैं। अस्तु, इसके अतिरिक्त कुछ और भी बातों का रहन-सहन पर असर पड़ता है।❀ किसी आदमी के लखपति अथवा

❀ 'संपत्ति का उपभोग' से।

करोड़पति होने पर भी संभव है कि उसका रहन-सहन निपुणता-दायक तथा सुख देनेवाला न हो। उसके शरीर की अवस्था, स्वास्थ्य और पाचन-क्रिया इतनी खराब हो कि वह उपभोग की वस्तुओं से कुछ भी आनंद न प्राप्त कर सके। इसके विपरीत, एक स्वस्थ, हृष्ट-पुष्ट परंतु गरीब मनुष्य उपभोग के साधारण पदार्थों से ही बहुत आनंद प्राप्त कर लेता है। वस्तुतः आनंद उपभोग के पदार्थों में नहीं, परंतु स्वयं उपभोक्ता में होता है। अगर कोई धनी उपभोक्ता खूब बढ़िया वस्तुओं से वह आनंद न प्राप्त कर सका जो एक साधारण मनुष्य साधारण वस्तुओं से प्राप्त कर सका है तो हम यह नहीं कह सकते कि धनी मनुष्य साधारण मनुष्य से, भौतिक दृष्टि से, अधिक सुखी है। कई-एक मनुष्यों में ऐसी खराबियाँ और रोग हो जाते हैं जिनसे उनके रहन-सहन पर बहुत असर पड़ता है। आँख, कान, त्वचा, आंत इत्यादि में खराबी होने अथवा और बुरे रोगों से पीड़ित रहने से मनुष्य उपभोग की वस्तुओं से पर्याप्त तृप्ति और आनंद नहीं प्राप्त कर सकते।

इसके अतिरिक्त कितने ही आदमी जो पहले मन और शरीर से बहुत स्वस्थ होते हैं, लापरवाही के कारण अनाप-शनाप वस्तुओं के सेवन करने से अपने को बरबाद कर देते हैं। यह बरबादी बुरे स्थानों में रहने, शराब इत्यादि हानिकारक पदार्थों के सेवन करने, बुरी संगति तथा कुविचारों का फल है। ऐसे लोग उपभोग की वस्तुओं से उतना आनंद नहीं प्राप्त कर सकते, जितना वे अपनी स्वस्थ दशा में कर सकते थे।

प्रायः यह देखा जाता है कि कई-एक मनुष्य थोड़ी आमदनी से भी बराबर अथवा उससे अधिक आमदनी वाले लोगों की अपेक्षा अच्छी तरह रहते हैं। ५०) रु० मासिक आय वाले एक क्लर्क का रहन-सहन ७०) रु० या इससे भी अधिक आय वाले क्लर्क से ऊँचा हो सकता

है। इसका कारण यह है कि सब लोगों में उपभोग की वस्तुओं पर द्रव्य खर्च करने की, तथा उन वस्तुओं के उपभोग की योग्यता एक-सी नहीं होती।

भारतवासियों का रहन-सहन—प्रत्येक समाज में निर्धन, साधारण और धनवान्, सब प्रकार के आदमी पाए जाते हैं। अभी तक अच्छी तरह से जाँचकर, यह जानने का प्रयत्न बहुत कम लोगों ने किया है कि भारतवर्ष में फ़ी सैकड़ा कितने-कितने आदमियों का रहन-सहन कैसा-कैसा है। हाँ, कहीं-कहीं पारिवारिक आय-व्यय के संबंध में कुछ जाँच अवश्य हुई है। किंतु उससे संपूर्ण देश के संबंध में कुछ ख़ास ब्यौरेवार परिणाम नहीं निकाले जा सकते। इस विषय का विवेचन आगे किया जायगा। अस्तु, वर्तमान परिस्थिति में हमें अप्रत्यक्ष आधारों पर ही निर्भर रहना पड़ता है। निम्न-लिखित कारणों से मालूम होता है कि यहाँ बहुत नीचे दर्जे के रहन-सहन वालों की संख्या बहुत अधिक है। संभवतः वह तीन- चौथाई से भी अधिक होगी—

(१) आमदनी का बहुत कम होना। यह पहले कहा जा चुका है कि यहाँ के निवासियों की दैनिक औसत आय भिन्न-भिन्न लेखकों के अनुसार छः पैसे से तेरह पैसे तक है। यह औसत आय है, अर्थात् इसमें राजा-महाराजा, सेठ साहूकारों, पूँजीपतियों तथा उच्च-वेतन-भोगी सरकारी या ग़ैर-सरकारी पदाधिकारियों की आय भी सम्मिलित है; इसका आशय यह है कि अनेक व्यक्तियों की आय उपर्युक्त औसत आय से भी बहुत कम है। जो पुरुष ऐसी निर्धनता का जीवन व्यतीत करते हैं, उनका रहन-सहन नीचे दर्जे का होना स्वाभाविक ही है।

(२) हम पहले बता आए हैं कि यहाँ अन्न-वस्त्रादि आवश्यक पदार्थों के उपभोग की मात्रा बहुत कम रहती है। इससे भी यह सिद्ध

होता है कि यहाँ अधिकांश भारवासियों का रहन-सहन नीचे दर्जे का है।

(३) यहाँ मृत्यु-संख्या का औसत फ़ी-हज़ार २९ है, और औसत आयु केवल २३·२ वर्ष। इससे भी अधिकांश जनता का रहन-सहन नीचे दर्जे का साबित होता है।

रहन-सहन के संबंध में, सरकारी मत—ग़ैर-सरकारी विद्वानों से मत-भेद रखते हुए सरकारी अधिकारी यह प्रमाणित करने की चेष्टा करते हैं कि यहाँ के निवासियों के रहन-सहन का दर्जा ऊँचा होता जारहा है। वे यहाँ के, आराम और विलासिता के सामान की आयात के तुलनात्मक अंक उपस्थित करते हैं, और कहते हैं कि सूती, रेशमी और ऊनी वस्त्र, भाँति-भाँति के खिलौने आदि बिसातखाने का सामान, साबुन, और औषधियों आदि की आयात की क्रमशः वृद्धि होने से यह स्पष्ट है कि यहाँ इनका उपभोग अधिक होरहा है। इसके अतिरिक्त अब बहुत-से देहातवाले कच्चे और छप्पर के मकानों को छोड़कर पक्के मकान बनवा रहे हैं। किसानों के लड़के अँगरेज़ी ढङ्ग की कमीज़, कोट तथा जूते पहनने और छतरी लगाने लगे हैं। कितने ही मामूली नौकर या श्रमजीवी भी विशेष अवसरों पर सोडा-वाटर या बर्फ़ का पानी पीते हैं। चाय और सिगरेट का प्रचार बढ़ता जा रहा है। ऐसी ही बातों से वे रहन-सहन के दर्जे का ऊँचा होना सिद्ध करते हैं।

प्रजा-मत—इस के विपरीत, इस देश के निवासी भुक्त-भोगी सज्जनों का मत कुछ और ही है। ये सरकारी मत का खंडन करते हुए कहते हैं कि उपर्युक्त आधार पर भी, यह कहना तर्क-संगत नहीं है कि इस समय यहाँ की जनता के सुख की वृद्धि हो रही है। सुविधा, ऐशो-आराम तथा भोग-विलास के पदार्थों के सेवन की ओर झुकना

मनुष्य-मात्र की प्रकृति है। इसलिए हमारे दरिद्र बंधु भी कभी-कभी उनमें पैसा लगा देते हैं। यदि ये पदार्थ न होते, तो संभव था कि यह पैसा उन भाइयों के भरण-पोषण में व्यय होता। हम बहुधा देखते हैं कि मज़दूरों या भिखारियों के लड़के बाज़ारों में, मुँह में सिगरेट दबाए या बालों में तेल लगाए, घूमते हैं। इससे यह अनुमान करना सरासर भूल है कि उनके रहन-सहन का दर्जा ऊँचा होता जा रहा है। इसी प्रकार, यदि कुछ मनचले रईसों, नवाबों या राजकुमारों की आवश्यकता के लिए विदेशी जहाज़, कुछ टीम-टाम या शान-शौक़त का सामान लाकर, यहाँ के आयात को बढ़ाते हैं, तो इससे भी जन-साधारण को अधिक सुखी होने का सर्टीफ़िकेट नहीं दिया जा सकता।

सभ्यता की वृद्धि से मनुष्यों की आवश्यकताओं की संख्या धीरे-धीरे बढ़ा करती है। इस बात का अनुभव सभी देशों में—भारत में भी—हो रहा है। बहुधा शक्ति-संपन्न या फ़ैशन-पसंद आदमी अपने बच्चों के लिए विलायती ढंग के कपड़े सिलवाते, उन्हें बूट जूते पहनाते और विदेशी खिलौने लाकर देते हैं। यहाँ तक कि यदि हो सकता है, तो वे उनके लिए 'ट्राइसिकल' अथवा हाथ से चलनेवाली छोटी बग्घी ख़रीद देते हैं। इन बच्चों में से बहुत-से, बड़े होकर, फ़ैशन में कुछ और आगे क़दम बढ़ाते हैं। इस प्रकार प्रत्येक अगली पीढ़ी में रहन-सहन का दर्जा ऊँचा होता जाता है, या यों कहिए कि दिखावटी सुख बढ़ता जाता है।

इसमें संदेह नहीं कि देश की आंतरिक शांति और पाश्चात्य सभ्यता के संसर्ग से यहाँ कुछ लोगों के धन में कुछ वृद्धि अवश्य हुई है, तथा अन्य धनी देशों के रहन-सहन का ज्ञान हो जाने के कारण जनता के हृदय में नवीन विचारों का समावेश हो रहा है। लूट-मार का भय हट जाने से अमीर लोगों को अब अपनी अमीरी प्रकट करने का अवसर

मिल गया है। इससे भी देश में सुख कुछ बढ़ता नज़र आ रहा है। तथापि, वास्तविक बात यह है कि यहाँ की जनता को न तो पहले के समान भर-पेट और पुष्टिकर भोजन मिलता है, और न काफ़ी कपड़े ही। अतएव उनका रहन-सहन गिर रहा है, यह स्पष्ट है।

रहन-सहन के दर्जे के ऊँचे होने की आवश्यकता— अब हम इस बात पर विचार करेंगे कि भारत में लोगों के रहन-सहन के दर्जे के ऊँचे होने की कहाँ तक आवश्यकता है। पहले यह समझ लेना चाहिए कि हमारे इस कथन का अभिप्राय क्या है। रहन-सहन के दर्जे के ऊँचे होने से आशय यह नहीं है कि देश के आदमियों में विलास-वस्तुओं के उपभोग की वृद्धि हो, और यह भी नहीं है कि आराम देनेवाले अथवा कृत्रिम आवश्यकताओं के पदार्थों का उपभोग बहुत अधिक बढ़ जाय। उपर्युक्त कथन से हमारा अभिप्राय यही है कि पहले जीवन-रक्षक आवश्यकताओं की पूर्ति हो, फिर निपुणता-दायक पदार्थों का अधिक उपभोग हो। इसके पश्चात् कुछ थोड़े-से आराम के पदार्थों का उपभोग हो सकता है।

दस-बीस फ़ी-सदी आदमियों के रहन-सहन के दर्जे के ऊँचे होने से ही किसी देश के रहन-सहन का दर्जा उन्नत नहीं कहा जा सकता। देश के सब आदमियों का जीवन सुखमय होना चाहिए—ऐसे आदमी बिलकुल न रहें, जो अपने जीवन-रक्षक पदार्थों के लिए ही शोकातुर हों। तभी, यथार्थ में देश के रहन-सहन के दर्जे का ऊँचा होना, माना जा सकता है।

रहन-सहन का दर्जा ऊँचा करने के साधन— रहन-सहन ऊँचा करने के मुख्य चार साधन हैं—(१) इंद्रिय-निग्रह, (२) शिक्षा, (३) यात्रा तथा अनुकरण, और (४) स्थानांतर-गमन।

इद्रिय-निग्रह जितना अधिक होता है, उतनी ही जन-संख्या की वृद्धि भी कम होती है, और परिवार में जन-संख्या कम होने से उपभोग के लिए पदार्थ अधिक मात्रा में मिलते हैं। भारतीय जन-संख्या की समस्या के संबंध में पहले लिखा जा चुका है।

यथेष्ट शिक्षा की प्राप्ति से मनुष्य अधिक निपुण होता है, और उसकी आय बढ़ती है, इससे उसके रहन-सहन का दर्जा ऊँचा होना स्वाभाविक है।* शिक्षित आदमी दूरदर्शी अधिक होते हैं, उनमें संतान-वृद्धि कम होती है। शिक्षा-प्रचार के संबंध में पहले प्रसंगानुसार लिखा गया है।

यात्रा से मनुष्य बाहर का अनुभव प्राप्त करते हैं और अच्छी चीज़ों का उपभोग करने लगते हैं। मनुष्य में दूसरों की नक़ल करने की बहुत प्रवृत्ति होती है, हम बहुधा अपने निकट-वर्ती व्यक्तियों के रहन-सहन को देखकर उनका अनुकरण करने लगते हैं; इस से धीरे-धीरे रहन-सहन का दर्जा ऊँचा होता जाता है। भारत में यद्यपि रेलों तथा सड़कों की वृद्धि से यात्रा में पहले की अपेक्षा सुविधा हो गई है, तथापि और भी अधिक की जाने की गुंजाइश है। इस सुविधा से यथेष्ट लाभ उठाया जाना चाहिए।

स्थानांतर-गमन का रहन-सहन के दर्जे पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। यदि किसी जगह एक पेशे के आदमी अधिक हों, और उनकी आय कम हो, तो कुछ आमियों के वहाँ से बाहर, दूसरे उपयुक्त देश में,

---

* आय में वृद्धि हुए बिना भी रहन-सहन का दर्जा ऊँचा हो सकता है। शिक्षित तथा समझदार व्यक्ति उपयोगी चीज़ों का, और ऐसी विधि से उपभोग करता है, जो अधिक निपुणता-दायक तथा आराम देने वाली हो; यह पहले बताया जा चुका है।

जाकर बसने से उनकी आय बढ़ेगी, एवं उनके रहन-सहन का दर्जा भी ऊँचा हो जायगा।

पारिवारिक आय-व्यय के ज्ञान की आवश्यकता—मनुष्य अकेला नहीं रहता, समाज में रहता है, और विशेषतया भारतवर्ष में तो समाज का इकाई परिवार ही है। अतः यहाँ मनुष्यों का रहन-सहन जानने के लिए परिवारों के रहन-सहन का परिचय प्राप्त करना आवश्यक है। इसके वास्ते पारिवारिक आय-व्यय का अध्ययन किया जाना चाहिए। इससे आदमियों की ग़रीबी-अमीरी का ठीक-ठीक पता लगता है। पारिवारिक आय-व्यय में यह विचार किया जाता है कि परिवार में कितने आदमी हैं, कितने कमाने वाले, अथवा कमाने में सहायता करने वाले हैं, और कितने उनके आश्रित हैं, वे कैसे मकान में रहते हैं, प्रत्येक की उम्र, योग्यता, शिक्षा, साधन आदि कितने हैं। परिवार की कुल आय कितनी है, और विविध पदार्थों के उपभोग में कुल खर्च कितना होता है। आय-व्यय का लेखा-जोखा ज्यों-का-त्यों बराबर रहता है, या कुछ बचत होती है, अथवा कुछ ऋण लेकर काम चलाना होता है।

भारतवर्ष में पारिवारिक-आय-व्यय-साहित्य—योरप अमरिका आदि में कितने-ही विद्वानों ने अपने-अपने क्षेत्रों की दशा जाँचकर अनेक प्रमाणिक ग्रंथ लिखे हैं। भारतवर्ष में गत थोड़े से बर्षों से ही इस दिशा में कुछ प्रयत्न हुआ है। पंजाब की 'बार्ड-आफ-इकानामिक एंक्वायरी' और बंबई सरकार के मज़दूर-विभाग आदि संस्थाओं ने, तथा जहां-तहाँ कुछ सज्जनों ने थोड़ा-बहुत कार्य किया है। विविध कालिजों के विद्यार्थी भी कुछ पारिवारिक आय-व्यय के नक़शे तैयार करते हैं। परंतु देश के विशाल क्षेत्र और विविध प्रकार की आबादी की दृष्टि से

कार्य बहुत कम हुआ है। उत्साही नवयुवकों को, अधिक संख्या में, यह कार्य अपने हाथ में लेना चाहिए। इसके बिना देश-वासियों की दशा सुधारने में विशेष सफलता न होगी।

भारतवर्ष में इस साहित्य की रचना में एक विशेष बाधा यह है कि इसकी सामग्री यहाँ सहज नहीं मिलती। प्रथम तो यहाँ लिखे-पढ़े आदमी कम हैं। फिर अनेक शिक्षित व्यक्ति भी अपने आय-व्यय का हिसाब नियमित रूप से नहीं लिखते, जो बहुत आवश्यक और उपयोगी है। बहुत से आदमी अपनी आय-व्यय के ठीक अंक दूसरों को बताना नहीं चाहते। तथापि जाँच करने वाले सज्जन उद्योग करने पर कुछ सफलता प्राप्त कर ही सकते हैं।

व्यय-संबंधी कुछ अनुभव—योरप और अमरीका के बहुत से, भिन्न-भिन्न स्थिति के, गृहस्थों के व्यय-संबंधी अंक संग्रह हुए हैं, और उनका विचार-पूर्वक अध्ययन किया गया है, तो निम्न-लिखित सिद्धांत निश्चित हुए हैं—(क) जिस अनुपात से एक कुटुंब की आय बढ़ती है, पुस्तकों और भोजन का व्यय उसी अनुपात में नहीं बढ़ता। (ख) वस्त्र और मकान-भाड़े का ख़र्च उसी अनुपात में बढ़ता है। (ग) शिक्षा, स्वास्थ्य और मनोरंजन की सामग्री के व्यय का अनुपात आमदनी के अनुपात से अधिक बढ़ जाता है।

डा० एँजिल ने जर्मनी में हज़ारों परिवारों के आय-व्यय का अनुभव करके निम्न-लिखित सिद्धांत निश्चय किए हैं—

(१) आय जितनी बढ़ती है, उतना ही उसमें निर्वाह के ख़र्च का अनुपात कम हो जाता है।

(२) वस्त्र पर ख़र्च का अनुपात स्थिर रहता है।

(३) यही हाल मकान के किराए, रोशनी आदि का होता है।

(४) आय जितनी बढ़ती है, उतना ही परिवार का, सुख के साधनों में, ख़र्च बढ़ जाता है।

यदि किसी परिवार की मासिक आय ७५) हो, तो, डाक्टर एँजिल के सिद्धांतों के अनुसार, उसका व्यय इस प्रकार होगा—

भोजन	६२%	अर्थात्	४६॥)
कपड़े	१६%	"	१२)
मकान का किराया	१२%	"	९)
ईंधन और नाई-धोबी	५%	"	३॥)
सुख के साधन तथा दान आदि	५%	"	३॥)

पाठकों को स्वयं भिन्न-भिन्न परिस्थितियों के परिवारों में इस बात की जाँच करनी चाहिए कि भारतवर्ष में कहाँ तक डा० एँजिल के उपर्युक्त सिद्धांतों के अनुसार ख़र्च होता है।

जाँच के लिए नक्शे का नमूना—पारिवारिक आय-व्यय की जाँच करने के लिए हम एक नक़्शे का नमूना, पटना कालिज की चाणक्य-सोसाइटी की वार्षिक-रिपोर्ट के आधार पर, नीचे देते हैं—

पारिवारिक आय-व्यय

नाम	...	...
जाति	...	...
पेशा	...	...
गाँव	...	...
ज़िला	...	...
समय	...	...
लेखा-परीक्षक	...	...

(क) परिवार	१—आदमियों की संख्या		
	(अ) काम करनेवाले		...
	(आ) काम न करनेवाले		...
(ख) जायदाद	२-ज़मीन (बीघों में)	...	...
	३—मूल्य ...	...	...
	४—मकान का मूल्य	...	...
	५—पशुओं का मूल्य	...	...
	६—सब जायदाद का मूल्य	...	...
(ग) ऋण	७—कुल रक़म ...	...	...
(घ) भोजन*	८-दूध का उपभोग	...	...
	९-मांस या मछली का उपभोग		...
	१०—घी का उपभोग	...	...
	११-सब्ज़ी का उपभोग	...	...
	१२—तेल का उपभोग	...	...
	१३—शक्कर का उपभोग	...	...

(च) वार्षिक आय	जिंस में मिली	नक़द मिली
१४—ज़मीन और बग़ीचे से कुल आय		
१५—पशुओं से कुल आय		
१६—वेतन और दस्तूरी		
१७—अन्य आय		
१८—आय का योग		
१९—इस वर्ष ऋण लिया		
२०—समस्त आय का योग		

*भोजन के प्रत्येक पदार्थ के संबंध में यह भी लिखना आवश्यक है कि उसका उपभोग प्रति दिन होता है, या कभी-कभी, अथवा कभी नहीं।

(छ) वार्षिक व्यय	नक़द दिया	जिंस में दिया
२१—अन्न		
२२—सब्ज़ी		
२३—नमक		
२४—मसाले		
२५—दूध		
२६—खाँड़ या गुड़		
२७—घी (खाने के लिए)		
२८—तेल		
२९—मांस-मछली		
३०—पान-तंबाकू आदि		
३१—मादक द्रव्य		
३२—तेल (रोशनी का)		
३३—ईंधन		
३४—बर्तन		
३५—दान		
३६—दवाई		
३७—अतिथि-सत्कार		
३८—विवाह-श्राद्धादि		
३९—पूजा आदि		
४०—तीर्थ-यात्रा और सफ़र		
४१—शिक्षा		
४२—ऋण पर सूद		
४३—मकान का किराया		
४४—मकान की मरम्मत		
४५—कपड़ा		

४६—नाई		
४७—धोबी		
४८—पुजारी		
४९—घरू नौकर		
५०—लगान और मालगुज़ारी		
५१—बीज, औज़ार और बैल		
५२—लुहार		
५३—बढ़ई		
५४—खेती में काम करने वाले		
५५—खेती-संबंधी अन्य कार्य		
५६—चौधरी टैक्स		
५७—पशुओं के लिए रसद		
५८—विविध (भेंट आदि सहित)		
५९—योग		
६०—इस वर्ष ऋण चुकाया		
६१—समस्त ख़र्च का योग		

(ज) बचत या कमी—६२—बचत या कमी की रक़म ।

नक्शे का कुछ स्पष्टीकरण—ऐसा नक़्शा भरने के लिए कुछ बातों को अच्छी तरह समझ लेना चाहिए । आय-व्यय-पत्र के आरंभ में संक्षिप्त प्रस्तावना देनी चाहिए, जिसमें यह भी बतलाना चाहिए कि उस पत्र की सामग्री किस प्रकार एकत्र की गई है, और जिस श्रेणी के परिवार का वह आय-व्यय है, उसका नमूना होने का काम वह पत्र कहाँ तक दे सकता है । इस संबंध में आगे लिखी बातें स्मरण रखना आवश्यक है—

(क) परिवार—परिवार के हरएक सदस्य का नाम, आयु, रिश्तेदारी, विवाह, स्वास्थ्य और पेशा लिखना चाहिए। कमानेवाले सदस्यों के बारे में लिखना चाहिए कि उन्होंने कितने हफ़्ते, किस दर पर, काम किया। अंत में उसी गाँव के अन्य परिवारों से उस परिवार की तुलना होनी चाहिए। इनके सिवा जो अन्य उल्लेख-योग्य बातें हों, उन्हें भी लिखना चाहिए।

(ख) जायदाद—ज़मीन किस प्रकार ली हुई है (मौरूसी, ग़ैर-मौरूसी, या शिक्मी दर-शिक्मी) ? मकान का ब्यौरा तथा स्थिति; कमरों की संख्या और आकार। पशु, फलवाले पेड़, औज़ार, सामान, ज़ेवर, कपड़े, नक़द रुपया, अनाज का भंडार।

(ग) ऋण—कब और कैसे हुआ ? उसके चुकाए जाने की संभावना।

(घ) भोजन—किस क़िस्म के अन्न का उपभोग हुआ (रबी या ख़रीफ़) ? कितनी बार भोजन किया जाता है, और हर एक व्यक्ति लगभग कितना भोजन करता है ? नक़्शे के ८ से १२ तक के मदों की व्याख्या।

(च) आय—बजट के हर एक मद की व्याख्या (यह बताते हुए कि किस हिसाब से ये अंक आए)।

(छ) व्यय—आय की भाँति व्यय की मदों की व्याख्या (यह बताते हुए कि कोई व्यय असाधारण तो नहीं है)। परिवार के प्रत्येक व्यक्ति और नौकरों के कपड़ों की विशेष बातें।

(ज) बचत या कमी—अगर साल में कुछ बचत हुई हो, तो उसका कैसे उपयोग किया गया ? और, अगर साल में कुछ कमी हुई हो, तो किस तरह उसकी पूर्ति की गई ?

बारहवाँ परिच्छेद

उपभोग का विवेचन

यह ठीक है कि सब धन उपभोग किए जाने के लिए ही है। परंतु उसका, उचित समय में और उचित रीति से, उपभोग किया जाता है तभी वह यथेष्ट लाभ पहुँचा सकता है। उपभोग में केवल व्यक्तिगत दृष्टि न रखकर सामाजिक विचार भी करना चाहिए; कारण, प्रत्येक व्यक्ति समाज का अंग है। उपभोग के दो भेद हैं, सदुपभोग और दुरुपभोग। पहले सदुपभोग का विचार करते हैं।

सदुपभोग—सदुपभोग दो प्रकार का कहा जा सकता है:—साधारण श्रेणी का और उच्च। साधारण सदुपभोग वह है, जिसमें उपभोक्ता को भी लाभ हो, और समाज या देश को भी। उदाहरणवत् यदि हम स्वदेश का बना कपड़ा मोल लें, तो उससे हमें तो लाभ होगा ही, साथ ही उससे हमारे देश के कारीगरों को लाभ पहुँचेगा; अर्थात् ऐसे लोगों का हित होगा, जो आलसी नहीं हैं, वरन् अपनी जीविका देशी उद्योग तथा व्यापार की उन्नति के कार्य से प्राप्त करते हैं। उच्च या आदर्श सदुपभोग वह है, जिसमें उपभोक्ता अपनी हानि करते हुए भी समाज और देश का हित-साधन करे। देशोन्नति के अभि-लाषियों का कर्तव्य है कि जिस उपभोग से वे अपनी हानि की बात स्पष्ट जानते हैं, उसे भी, जब वह देश के लिए कल्याणकारी हो, यथा-संभव अवश्य करें। हमें चाहिए कि अपनी-अपनी शक्ति के अनुसार कृषकों, श्रमजीवियों और कारीगरों आदि की, योग्य शिक्षा प्राप्त करने में, सहायता करें; रात्रि-पाठशालाएँ स्थापित करें, सहकारी-समितियाँ

नालियों में टट्टी फिरते हैं, नल से पानी लेकर उसे खुला ही छोड़ देते हैं, नदी या तालाब में स्नान करते हुए पानी का कुल्ला करते हैं, रेल के डिब्बे में यात्रा करते हुए वहाँ ही थूकते रहते हैं। ये लोग अपनी तनिक-सी सुविधा के लिए सड़क, नाली, नल, नदी, तालाब या रेल के डिब्बे आदि का दुरुपभोग करते हैं, जिससे समाज को बहुत हानि पहुँचती है। कुछ व्यक्ति अपने किसी मित्र से, या प्राइवेट पुस्तकालय से कोई पुस्तक यह कहकर माँग ले जाते हैं कि जरा सा काम है, जल्दी ही लौटा देंगे। यह पुस्तक उनके विश्वास पर दे दी जाती है, इसके संबंध में कोई लिखा-पढ़ी नहीं की जाती। यह बहुत समय तक लौटाई नहीं जाती, अंततः देनेवाले को उसकी विस्मृति हो जाती है, और वह सदैव के लिए उससे वंचित हो जाता है। कई बार ऐसी भी घटनाएँ सामने आई हैं कि कोई व्यक्ति किसी पुस्तक या पत्र-पत्रिका का कोई अंश या चित्र फाड़कर अपने पास रख लेता है। इसका परिणाम यह होता है कि पुस्तकें आदि दिए जाने के नियम भविष्य में अधिक कठोर बनाए जाते हैं, और सबकी असुविधा बढ़ जाती है।

इन दोषों की निवारण करने के लिए नागरिक शिक्षा के प्रचार की अत्यंत आवश्यकता है। प्रत्येक व्यक्ति को यह हृदयंगम कराया जाना चाहिए कि उसका अन्य नागरिकों तथा समाज के प्रति क्या कर्तव्य तथा उत्तरदायित्व है, और उसे किस प्रकार उसका पालन करना चाहिए। दुरुपभोग की कुछ बातों पर आगे विशेष विचार किया जाता है; पहले मादक पदार्थों के सेवन की बात लें।

मादक पदार्थों का उपभोग—हमारे बहुत-से आदमी तंबाकू, चाय, भाँग, गांजा, शराब आदि मादक वस्तुओं को मोल लेते हैं, इससे केवल ऐसे व्यक्तियों को लाभ होता है, जो वे हानिकारक वस्तुएँ उत्पन्न करते हैं। इन चीज़ों के उपभोग से हमारे अनेक आदमियों की

कार्य-क्षमता को धक्का पहुँचता है। इस प्रकार देश की द्रव्योत्पादक शक्ति का क्रमशः ह्रास होता जाता है। अतः मादक वस्तुओं का उपभोग रोकने की बड़ी आवश्यकता है। इस संबंध में विशेष पहले लिखा जा चुका है।

विदेशी वस्तुओं का उपभोग—अनेक भारतवासी बहुत-सी विदेशी चीज़ें बरतते हैं; जैसे, राजर्स के चाक़ू, जान-फ़ेवर की पेंसिलें, जावा और मारीशश की खाँड़, रोज़ के हारमोनियम, डीट्ज़ की लालटेन, लिप्टन की चाय, शैफ़ील्ड की क़ैंची तथा चाक़ू, पीयर-सोप (साबुन), जर्मनी के रंग, जेनेवा की जेबी घड़ियाँ, जापान का सूती और रेशमी वस्त्र, खिलौने तथा अन्य चीज़ें। इन चीज़ों में ख़र्च किया गया रुपया अन्य देशों को जाता है, इससे विदेशी व्यापारियों को ही लाभ पहुँचता है, हमारे देश की उत्पादक शक्ति में कुछ वृद्धि नहीं होती। पुनः बहुत-सी विलायती चीज़ें चटकीली-भड़कीली और कमज़ोर होती हैं, जल्दी-जल्दी टूटती-फूटती हैं, और हमें उनके लिए बार-बार पैसा ख़र्च करना पड़ता है। हम में विलासिता, शौक़ीनी और फ़ैशन का रोग बढ़ता जाता है। बहुधा एक चीज़ के साथ दूसरी वस्तुओं की आवश्यकता अनिवार्य हो जाती है; उदाहरणार्थ, ग्रामोफोन के साथ-साथ रिकार्डों को बार-बार ख़रीदने का ख़र्च बढ़ जाता है।

हमारे अनेक मंदिरों में विदेशी वस्त्रों का उपभोग स्वच्छंदता-पूर्वक हो रहा है। देवी-देवताओं की प्रतिमा पर विदेशी पोशाक हो, और महंत, पंडे-पुजारी आदि 'राम-राम' या 'राधेश्याम' आदि की छाप-वाली विलायती मलमल का उपभोग करें, यह अत्यंत चिन्तनीय है। पुनः यह भी बहुत दुःख की बात है कि विदेशी वस्तुओं का भारत में इतना प्रचार हो गया है कि ऐसा कोई बिरला ही घर मिलेगा, जहाँ हमारी आर्थिक दासता के चिह्न-स्वरूप इन चीज़ों का उपभोग न

हो। और तो और, स्त्रियों का सौभाग्य-चिन्ह चूड़ियाँ और द्विजों के द्विजत्व का द्योतक यज्ञोपवीत भी अब विदेशी होने लग गया है; विदेशी सूत का यहाँ बनाया हुआ यज्ञोपवीत स्वदेशी नहीं कहा जा सकता।

विदेशी वस्तुओं के व्यवहार की भाँति विदेशी ढंग का पहनावा भी देश के लिए बहुत अहितकर है। स्वदेशी पहनावे में थोड़े-से वस्त्रों की आवश्यकता पड़ती है। एक बार में एक कुर्ता, एक धोती, एक सादी टोपी या पगड़ी, और एक जूतों की जोड़ी से काम चल जाता है, परंतु विदेशी पहनावे में पूरा सूट चाहिए; कमीज, वास्केट, कोट, फेल्ट-कैप, बनियाइन, मोज़े, पतलून तथा बूट आदि सभी चीज़ें चाहिए। पाठक स्वयं विचार कर सकते हैं कि यह फ़ैशन निर्धन भारत को अधिकाधिक दरिद्र और दुर्भिक्ष-पीड़ित करने में कितना सहायक हो रहा है! अब राष्ट्रीय जागृति से सादगी का प्रचार हो रहा है, परंतु चिरकाल के विदेशी वस्तुओं के उपभोग से हमारे शरीर बहुत सुकुमार हो गए हैं; बहुतों को खद्दर के कपड़े काँटों की तरह चुभते हैं। स्वदेश-प्रेमी बंधुओं को अपनी दशा पर गंभीर विचार करके उसका सुधार करना चाहिए।

विदेशी वस्तुओं के उपभोक्ता कह सकते हैं कि विदेशी वस्तु सस्ती हैं, उनकी जगह हम मँहगी स्वदेशी वस्तुओं को क्यों लें। इस संबंध में, विशेषतया खादी के विषय को लेकर श्री० गुलजारीलालजी नन्दा एम० ए० ने जो विचार प्रकट किए हैं, वे अन्य वस्तुओं के संबंध में भी उपयोगी होने के कारण यहाँ दिए जाते हैं। श्री० नंदाजी ने 'नव-ज्योति' में लिखा है कि खादी को आश्रय देने की इच्छा रखनेवाले ख़रीददार पूछेंगे कि हम कपड़े पर इतना अधिक पैसा क्यों ख़र्च करें? मान लीजिए जहाँ हमारा १००) में काम चल सकता है वहाँ हम दो

सौ रुपए क्यों ख़र्च करें ? इससे हम दूसरी उपयोगी चीज़ें ख़रीद सकते हैं। इसका उत्तर बिलकुल सीधा है। प्रत्येक सुसंगठित समाज को इस बात का ख़्याल रखना होगा कि वह काम देकर अथवा अन्य तरह से उन तमाम लोगों के भरण-पोषण का प्रबंध करे, जो उसके क़ानूनों तथा रीति-रिवाज़ों का पालन करते हैं। कुछ देशों में, जहाँ काफ़ी काम नहीं होता, अन्य साधनों द्वारा प्राप्त राष्ट्र की आय उन लोगों में बेकार-वृत्तियों अथवा अन्य सहायता के रूप में बाँटी जाती हैं, जिनको काम नहीं दिया जा सकता। समाज में कुछ लोगों को काम और अजीविका मिल जाना और कुछ को न मिलना यह बहुधा केवल योगायोग की बात होती है या उसकी वजह यह भी हो सकती है कि उस समाज के नियम और संस्थाओं का संचालन दोष पूर्ण हो। बेकारों की सहायता के लिए प्रायः राज्य की आय में से ही पैसा जाता है, जो सर्व-साधारण जनता की व्यक्तिगत आय से प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष करों के रूप में एकत्र किया जाता है। अप्रत्यक्ष करों से उन चीज़ों की क़ीमतें बढ़ जाती हैं जिन पर वे लगाए जाते हैं। जहाँ तक वस्तुओं और सेवा-साधनों से होने वाली आय का संबंध है, ख़रीददार की स्थिति में कोई अंतर नहीं पड़ता। पर इसमें और खादी के द्वारा हम जो अधिक क़ीमत देते हैं उसमें, एक बड़ा ही महत्त्वपूर्ण अंतर है।

कर एकत्र करने और उनको बेकारों की सहायतार्थ ख़र्च करने की व्यवस्था करने में आय का एक बहुत बड़ा हिस्सा अनुत्पादक कामों में, और बड़ी-बड़ी तनख़्वाहों में बर्बाद हो जाता है। इसके विपरीत, स्वेच्छापूर्वक खादी को अंगीकार करके ग्राहक जो त्याग करते हैं, उससे ग़रीबों और ज़रूरतमंदों को सीधी और तुरंत मदद मिल जाती है, और इस तरह राज्य के द्वारा दी गई सहायता की अपेक्षा हमारे उद्देश्य की पूर्ति अधिक अच्छी तरह होती है। जो लोग साधारण गणित जानते हैं वे तत्काल यह समझ जायँगे कि इस तरीक़े से, जिसका कि खादी एक उदाहरण

है, ग़रीबों को ख़ास हद तक और उचित परिमाण में सहायता पहुँचाने में उद्योग-प्रधान देशों के अप्रत्यक्ष तरीक़ों की अपेक्षा फ़ी-आदमी कम ही ख़र्च पड़ता है। उस हद तक राष्ट्र-हित की दृष्टि से खादी अपनाने योग्य है। दूसरा और इससे भी अधिक महत्त्व-पूर्ण भेद इन दोनों तरीक़ों में यह है कि विदेशों में बेकारों की सहायता करने के जो ढंग प्रचलित हैं, उनमें बेकारों को कोई उपयोगी काम देने की योजना नहीं है। खादी उपयोगी काम और आजीविका दोनों देती है। इसका नतीजा यह होता है कि पहले तरीक़े से बेकार हमेशा के लिए निकम्मे बन जाते हैं। उनकी साख घट जाती है, कौशल नष्ट हो जाता है और काम करने की इतनी सारी क्षमता बेकार जाती है। इसके विपरीत, खादी द्वारा कौशल तथा योग्यता दोनों की रक्षा तथा विकास होता है। यदि किसी राष्ट्र की संपत्ति का ठीक-ठीक हिसाब लगाया जाय तो उसमें लोगों की काम करने की योग्यता को सबसे अधिक महत्त्व दिया जायगा। खादी के आर्थिक महत्व को हम वास्तविक रूप से तभी समझ सकेंगे जब हम यह ख़्याल करेंगे कि राष्ट्र की संपत्ति पर खादी का कितना स्पृहणीय प्रभाव पड़ता है।

अविवेकता-मूलक दान-धर्म—हम हट्टे-कट्टे भिखारियों या बनावटी साधुओं को जो दान-पुण्य करते हैं, उससे ऐसे मनुष्यों को लाभ पहुँचता है, जो देशी व्यापार तथा उद्योग-धंधों की कुछ सहायता नहीं करते, और जिनका जीवन देश के लिए किसी प्रकार लाभकारी नहीं कहा जा सकता। यदि हम उन्हें मुफ़्त में भोजन-वस्त्र न दें, तो वे उदर-पालनार्थ कुछ उत्पादक कार्य अवश्य करें। हमारे दान आदि से वे आलसी और निरुद्यमी होते जाते हैं।

अनाथ बालकों, विधवाओं, रोगियों या अपाहिजों को यथा-शक्ति सहायता पहुँचाना मनुष्य-मात्र का कर्तव्य है। जो साधु-सन्यासी

घूम-फिरकर देश में धर्मोपदेश का प्रचार करें, वे भी गृहस्थों की उदारता के पात्र हैं। परंतु आलसी, निखट्टू आदमी, केवल गेरुए कपड़े पहन-लेने से, दान-धर्म तथा प्रतिष्ठा के अधिकारी कदापि नहीं समझे जाने चाहिए। अच्छा हो, यदि भिन्न-भिन्न समाज इस बात के लिए लोक-मत तैयार करें, और ये लाखों भिखारी, अपनी आवारा ज़िंदगी छोड़कर, देश की सुख-समृद्धि के लिए जी-जान से परिश्रम करने लगें।

देवालयों और मंदिरों में भी व्यर्थ अपव्यय न होना चाहिए। मूर्ति-पूजकों के लिए थोड़े-से व्यय से, एक साधारण स्थान में, प्रतिमा की प्रतिष्ठा हो सकती है; जहाँ प्रति दिन अनेक मनुष्यों का शुद्ध शांत हृदय से सहज सम्मेलन तथा ईश्वर-ध्यान हो। परंतु अनेक देवालयों में आवश्यकता से कई गुना अधिक रुपया लगा दिया गया है। बहुत-से नगर—विशेषतया काशी, मथुरा, वृंदावन, हरिद्वार आदि तीर्थ-स्थान—ऐसे हैं, जहाँ एक-एक दो-दो मंदिरों से काम चल सकता था; पर धनी लोगों ने अपने-अपने धर्म (?)-भाव की विज्ञप्ति करने के लिए अलग-अलग मंदिरों का निर्माण कर दिया। अब तो नए मंदिरों का बनना बंद हो जाना चाहिए। फिर, यह आवश्यक नहीं है कि शिवालयों या देव-मंदिरों के साथ कुपढ़, अनाचारी, मुफ़्तख़ोरे लोगों को आश्रय दिया जाय, और देश की गाढ़ी कमाई का जो पैसा प्रतिमा को आरती या पुजापे (चढ़ावे) में आए, उससे अनुत्पादक मनुष्यों की संख्या बढ़ाई जाय। क्या परम पिता परमात्मा इस बात से प्रसन्न होगा कि उसकी प्यारी संतति के कष्ट-निवारण में लगाई जाने-योग्य शक्ति का इस प्रकार दुरुपभोग किया जाय? आवश्यकता है कि इस संपत्ति का अनाथालय, अस्पताल, विद्यालयों आदि की उन्नति और वृद्धि के लिए उपयोग किया जाय। भिन्न-भिन्न स्थानों के मठों ('अखाड़ों') की बे-काम पड़ी हुई, और निरंतर बढ़ती हुई संपत्ति के विषय में भी यही वक्तव्य है।

रीति-रस्म और अपव्यय—यद्यपि भारतीय जनता साधारणतः बहुत सादगी-पसंद और निर्धन है, तथापि कुछ बातों में वह अपव्यय भी करती है ; उदाहरणार्थ, शादी और ग़मी का ख़र्च, तथा आभूषण। हमारे बंधु बहुत-सी बातों में अपनी गाढ़ी कमाई का धन केवल इसलिए ख़र्च कर डालते हैं कि उसका रिवाज है। वे ख़र्च की उपयोगिता अथवा अपनी स्थिति का विचार नहीं करते। आज-कल समाज-सुधार का आंदोलन प्रायः प्रत्येक जाति में हो रहा है, प'तु कुछ पुराने विचारों के आदमी सुधारकों की बातें यथा-शक्ति चलने नहीं देते। तथापि शिक्षा और सभ्यता अपना प्रभाव डाल रही है, और कुछ सुधार हो रहा है। घरों में बहुत-सा अपव्यय हमारी असावधानी से भी होता है। किसी समय दस मेहमान घर आनेवाले हुए तो उनके लिए भोजन तैयार करते समय परिमाण का ठीक ध्यान न रखा, इतना भोजन बना डाला जो पंद्रह-बीस के लिए काफी हो। कहीं-कहीं भोजन इतना परोसा जाता है कि बहुत जूठन पड़ती है। इस प्रकार भोज्य पदार्थ खराब होता है। कुछ आदमी, विशेषतया नौकर चीज़ों को इस तरह इस्तेमाल करते हैं कि जो चीज़ तीन-चार साल चलनेवाली हो, वह एक-दो साल में ही रद्दी हो जाती है। यह सब अपव्यय बंद किए जाने की अत्यंत आवश्यकता है।

धन को गाड़कर रखना एक प्रकार का अपव्यय अथवा दुरुपभोग है। अराजकता अथवा अज्ञान की दशा में ऐसा करना क्षम्य हो सकता है, परंतु शांति और सुविचार की स्थिति में तो ऐसा कदापि न किया जाना चाहिए, यह देश के लिए बहुत हानिकारक है।

मुक़द्मेबाज़ी—भारतवर्ष में कृषकों तथा ज़मींदारों को प्रायः ज़मीन के, और व्यापारी तथा व्यवसाइयों को रुपए-संबंधी, मुक़दमे बहुत ख़राब करते हैं। दत्तक या गोद के मामलों में भी बहुत मुक़दमेबाज़ी

होती है। गोद लेने में हेतु यह रहता है कि निस्संतान मरने के बाद भी खानदान का नाम चले। गोद लेनेवाले भूल जाते हैं कि राम, कृष्ण, बुद्ध, शंकर, दयानंद आदि महापुरुषों के नाम, चिरकाल के पश्चात् भी, हमारी जिह्वा पर चढ़े हुए हैं, यह उनके पुत्र-पौत्रों के कारण नहीं, वरन् स्वयं उनके शुभ कृत्यों एवं दया, धर्म, त्याग, वीरता और अन्य ऐसे ही सद्गुणों के कारण। इसलिए हमारी तो यही सम्मति है कि जिन आदमियों को निस्संतान मरने की आशंका हो, वे, अपने परिवार के निर्वाहार्थ व्यवस्था करके, अपनी शेष संपत्ति ऐसे राष्ट्रीय कार्यों में लगाने की वसीयत कर दें, जिनसे देश में शिक्षा तथा उद्योग-धंधों की उन्नति और वृद्धि हो, अनाथों की रक्षा हो, रोगियों का इलाज हो, इत्यादि। इस प्रकार ही उनकी कीर्ति अधिक स्थाई होगी, और मातृ-भूमि का भी कल्याण होगा।

अस्तु, यहाँ केवल ब्रिटिश-भारत में दीवानी मुक़दमों की औसत संख्या प्रति वर्ष २७ लाख होती है। इनमें बहुत रुपया नष्ट होता है। 'व्यय'-नामक पुस्तक में बनारस के एक लक्खी-चबूतरे का उदाहरण दिया गया है। उस चबूतरे के नामकरण का कारण यह है कि उसके लिए दो आदमियों ने मुक़दमेबाज़ी करके अदालती काम में एक-एक लाख रुपए के लगभग ख़र्च कर डाला! यह चबूतरा सिर्फ़ ५–६ गज़ लंबा और एक गज़ चौड़ा है, और किसी अच्छे मौके पर स्थित भी नहीं है। मुक़दमेबाज़ी में नष्ट होनेवाले अपार धन को राष्ट्रीय पंचायतों द्वारा बचाया जा सकता है। इनकी उन्नति और वृद्धि की बड़ी आवश्यकता है।

दुरुपभोग और आदतें—ऊपर दुरुपभोग के थोड़े से विषयों पर विचार किया गया है, अन्य बातों का विचार पाठक स्वयं करलें। देश में दुरुपभोग की मात्रा बहुत अधिक है, इससे बड़ी हानि हो रही

है। इसे रोकने की अत्यंत आवश्यकता है। बहुत से दुरुपभोग का कारण मनुष्यों की आदतें होती हैं। जब दूसरे की देखा-देखी, या भ्रम-वश आदमी दुरुपभोग करने लग जाता है, तो कुछ समय बाद उसकी वैसी आदत ही बन जाती है, फिर, ज्यों-ज्यों समय बीतता है, वह आदत दृढ़ हो जाती है, और उसका छूटना कठिन हो जाता है। प्रत्येक व्यक्ति को चाहिए कि बुरी आदतों का शिकार होने से बचे, आरंभ से ही अच्छी संगति में रहे, और सात्विक साहित्य का अवलोकन करे। इस प्रकार बुरी आदतों को जड़ पकड़ने का अवसर न मिलेगा, एवं कदाचित् उस दिशा में मन गया भी तो उसे रोकना सरल होगा।

ऋण लेने या चीज़ें उधार लेने की आदत दुरुपभोग में बहुत सहायक होती हैं। कितने-ही आदमी, ख़र्च करते समय अपनी स्थिति या हैसियत का विचार नहीं करते; तनिक कारण उपस्थित होने पर वे अपनी शक्ति से बाहर खर्च कर डालते हैं, इसके लिए उन्हें ऋण लेना होता है। और, ऋण जहाँ एक बार लिया, फिर उसे लेनेकी प्रवृत्ति बढ़ती जाती है। बात-बात में ऋण लिया जाता है, उसकी रक़म तथा ब्याज बढ़ता रहता है। ऐसे आदमी बहुत कम होते हैं, जिन पर दूसरों का ऋण-भार न हो। हमारे किसानों और मज़दूरों को अपनी आमदनी में से खासी रक़म ब्याज-ही-ब्याज में चुकादेनी होती है।

बहुत से बाबू लोग अच्छी आमदनीवाले होने पर भी ऋणी रहते हैं। वे भिन्न-भिन्न प्रकार की वस्तुओं के बेचनेवालों से उधार का हिसाब रखते हैं; जब जिस चीज़ की ज़रूरत मालूम हुई, लेलेते हैं। उन्हें यह पता नहीं रहता कि हम कुल मिलाकर विविध विक्रेताओं के कितने देनदार हैं। महीना समाप्त होने पर इधर उन्हें तनख़्वाह मिलती है, उधर उनसे रुपया लेनेवालों के बिल आते हैं। बहुधा ऐसा होता है कि अधिकांश तनख़्वाह झटपट ठिकाने लग जाती है, और बाबू साहब

पंद्रह तारीख से ही अगले महीने की तनख़्वाह की राह देखने लगते हैं। संकट-काल के लिए कुछ जमा रहने का फिर ज़िक्र ही क्या! इससे बचने का उपाय बहुत सरल है। सदुपभोग का विचार रखने वाले प्रत्येक गृहस्थ का यह नियम होना चाहिए कि यथा-संभव कोई वस्तु उधार न ली जाय; यदि पैसा पास नहीं है तो उस समय अपनी आवश्यकता को नियंत्रित किया जाय, उस वस्तु को लेने का कार्य स्थगित रक्खा जाय। इससे हमें अपनी आवश्यकता पर पुनर्विचार करने का अवसर मिलेगा; संभव है, हम उसे पूर्णतः नियंत्रित करने में सफल हो जायँ। ऐसा करने से हम बहुत से अपव्यय से बच सकते हैं।

आवश्यकताओं को नियंत्रण करने की आवश्यकता—भौतिक-सभ्यता-वादियों का विचार है कि आवश्यकताओं की वृद्धि होती रहनी चाहिए, और उनकी पूर्ति का प्रयत्न किए जाने में ही आनंद और सुख है। परंतु ऐसा करने से मनुष्य कभी संतुष्ट या सुखी नहीं रह सकता। हर दम उसे अपनी नित्य बढ़ने वाली नई-नई आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अधिकाधिक धन की ज़रूरत रहती है, उसकी असंतुष्टता बढ़ती जाती है, और वह दिन-रात धन की चिंता में रहा करता है। आज-दिन अनेक आदमी लखपति होते हुए भी दुःख-निमग्न रहते हैं। इसका उपाय यह है कि आर्थिक आवश्यकताओं का नियंत्रण किया जाय। पहले बताया जा चुका है कि उपभोग जीवन-रक्षक और निपुणता-दायक पदार्थों का, तथा कुछ अंश में आराम की चीज़ों का किया जाना चाहिए; कृत्रिम आवश्यकताओं की पूर्ति करने-वाली चीज़ों का उपभोग यथा-संभव कम करना चाहिए, और विलासिता की वस्तुओं के उपभोग का तो परित्याग ही करना उचित है।

उपभोग का आदर्श—इस प्रकार आवश्यकताओं का नियंत्रण

करने से मनुष्यों के पास अपनी आय में से कुछ बचत हो सकती है, और, उस बचत का उपभोग सेवा, परोपकार, और राष्ट्र-हित आदि में किया जा सकता है, जिसका उल्लेख पहले किया गया है। निदान, हमारी शक्ति, धन और जीवन पर-हित-साधन में लगे, और हम 'परोपकाराय सतां विभूतयः' के आदर्श को चरितार्थ करने वाले हों।

यह शंका की जा सकती है कि उपभोग का उद्देश्य तो उपभोक्ता के लिए सुख की प्राप्ति होता है। इस त्याग में, और अपनी आवश्यकताओं के नियंत्रण में तो सुख न मिलेगा, वरन् दुःख का अनुभव करना पड़ेगा। परंतु यह शंका भ्रम-मूलक है। निस्संदेह जब आदमी की कृत्रिम या विलासिता की आवश्यकताएँ पूरी करने की आदत पड़ जाती हैं, तो उनके नियंत्रण में पहले-पहल कुछ कष्ट प्रतीत होता है, परंतु जब वह इस प्रकार बचाए हुए धन से सेवा परोपकार संबंधी अपनी नई आवश्यकताओं की पूर्ति करता है, तो उसे एक अद्भुत आनंद की प्राप्ति होती है, जो आनंद और सुख विलासिता के पदार्थों के उपभोग से मिलना कदापि संभव नहीं। भोग-विलास का सुख निम्न कोटि का, तथा क्षणिक है, हमें इसके पीछे दौड़कर अपने विकास में बाधक न होना चाहिए।

इस संबंध में भारतीय आदर्श का ध्यान रखना अत्युपयोगी है। हमारे शास्त्रकारों ने जनता के लिए सर्वथा व्यावहारिक बातों का ही आदेश किया है। उन्होंने कल्पना-जगत् में विचरण करते हुए यह आदेश नहीं कर डाला कि सभी आवश्यकताओं को रोको, खाना-पीना बंद कर दो, और शरीर को सुखा डालो। न उन्होंने व्यक्तिगत सुख-वाद या स्वार्थ-वाद की ही पुष्टि की है, जिसका मूल मंत्र यह है कि खाओ, पीओ और मौज उड़ाओ, अपने सुख से प्रयोजन है, दूसरों की चिंता न की जाय। समाज-हित का ध्यान रखता हुआ, हिन्दू धर्म कहता है

कि तुम अपनी जीवन-यात्रा के लिए आवश्यक वस्तुओं का उपभोग करो, खाने-पीने की मनाई नहीं है, पर इसमें मर्यादा का ध्यान रखो, विलासिता-प्रिय न बनो, इस उपभोग में त्याग-भाव रखो, दूसरों के हित की अवहेलना न करो, किसी दूसरे के हिस्से की वस्तु का उपभोग न कर डालो; समाज में सबको सुखी बनाने का प्रयत्न करते हुए तुम भी सुखी रहो। यही संक्षेप में उपभोग का आदर्श है। आशा है, पाठक इस पर भली-भाँति विचार करने तथा इसके अनुसार व्यवहार करने का प्रयत्न करेंगे।

चतुर्थ खंड

मुद्रा और बैंक

तेरहवाँ परिच्छेद

मुद्रा; रुपया-पैसा

धन की उत्पत्ति और उपभोग का वर्णन किया जा चुका है। अब धन के विनिमय और वितरण का वर्णन करना है। परंतु पहले मुद्रा और बैंकों के संबंध में कुछ ज्ञान प्राप्त कर लेना आवश्यक है; क्योंकि आधुनिक संसार में पदार्थों का क्रय विक्रय तथा व्यापार आदि सब कार्य इन्हीं के द्वारा होते हैं।

विनिमय का माध्यम—पहले (पृष्ट १७ में) बताया जा चुका है कि मनुष्यों के लिए पदार्थों का अदल-बदल करना अनिवार्य है। प्राचीन काल में दो पदार्थों के पारस्परिक अदल-बदल के लिए कोई तीसरी वस्तु माध्यम नहीं होती थी। इससे बड़ी कठिनाई पड़ती थी। जो वस्तु हमारे पास अधिक होती थी, उसके लेनेवाले, सब समय और सब जगह, नहीं मिलते थे। फिर, जिन मनुष्यों को हमारी चीज़ की ज़रूरत होती थी, वे सभी हमें हमारी आवश्यकता की वस्तु नहीं दे सकते

थे। अतएव हमें ऐसा आदमी ढूँढ़ना पड़ता था, जिसमें एक-साथ दो बातें हों—वह हमारी बनाई हुई वस्तु ले सके, और हमारी ज़रूरत की चीज़, बदले में, दे भी सके। इस कठिनाई को दूर करने के लिए भिन्न-भिन्न देशों में भिन्न-भिन्न वस्तुएँ विनिमय का माध्यम बनाई गईं। भारतवर्ष के देहातों में, अब भी, अन्न के बदले शाक-भाजी, लकड़ी, उपले आदि वस्तुएँ मिलती हैं। एक आदमी अपनी चीज़ बेचकर बदले में अन्न लेता है, और फिर उस अन्न के बदले में, अपनी आवश्यकता की दूसरी वस्तुएँ। इस प्रकार अन्न विनिमय के माध्यम का काम देता है।

इसमें संदेह नहीं कि अन्न की आवश्यकता सबको होती है; परंतु माध्यम के लिए उपयोगी होना ही काफ़ी गुण नहीं है। अन्न से छोटी-छोटी मात्रा के विनिमय का कार्य अवश्य चल सकता है, परंतु बड़ी मात्रा के विनिमय में इससे बड़ी असुविधा होती है। मान लीजिए, यदि सौ मन रुई बेचना है, और उसके बदले में पाँच सौ मन गेहूँ मिलता है, तो इतने भारी वज़न को, एक जगह से दूसरी जगह, लेजाने में क्या कम कठिनाई पड़ेगी? फिर, अन्न ऐसा पदार्थ है, जो बहुत समय तक अच्छी दशा में नहीं रहता; उसके ख़राब हो जाने अथवा चूहे या कीड़ों द्वारा खाए जाने की आशंका रहती है। अतः ज्यों-ज्यों मानव-समाज में सभ्यता बढ़ती गई, यह विचार पैदा होता गया कि विनिमय का कोई इससे अच्छा माध्यम निश्चित किया जाय।

माध्यम का कार्य वही चीज़ भली भाँति कर सकती है, जिसमें ये गुण हों—(१) उपयोगिता, (२) चलन अर्थात् लेजाने का सुभीता, (३) अक्षय-शीलता, अर्थात् जल्दी ख़राब या नाश न होना, (४) विभाजकता या टुकड़े हो सकना; (पशु आदि के विभाग नहीं हो सकते)। (५) मूल्य में स्थायित्वहोना, अर्थात् शीघ्र परिवर्तन न होना, (६)

पहचान (इसी में उसकी चिह्न या अक्षर धारण करने की शक्ति भी सम्मिलित है)।

यथेष्ट अनुभव और प्रयोगों के पश्चात् लोगों को धातुओं से माध्यम का काम लेने की बात सूझी। यदि किसी को रुई के बदले में अन्न लेना हो, तो वह पहले रुई के बदले में धातु लेले, और फिर उस धातु के बदले में अन्न। इस रीति में विनिमय दो बार करना पड़ता है; किंतु, तो भी, यह रीति सरल है। अतः माध्यम के लिए धीरे-धीरे धातुओं का, और उनमें भी विशेषतः सोने-चाँदी का, चलन बढ़ गया। क्रमशः धातुओं के सिक्के बनने लगे। सिक्के या मुद्रा में दो गुण होते हैं ; यह विनिमय-कार्य का माध्यम होने के अतिरिक्त भिन्न-भिन्न वस्तुओं के मूल्य का मापक भी है। स्मरण रहे कि मुद्रा भी अन्य वस्तुओं के समान एक वस्तु है, और उसके अधिक या कम होने पर उसका मूल्य भी घट-बढ़ सकता है।

माध्यम का चलन या करेंसी—भिन्न-भिन्न देशों में, समय-समय पर, तरह-तरह के सिक्के रह चुके हैं। सिक्कों के चलन के संबंध में मानव-समाज को विविध प्रकार का अनुभव धीरे-धीरे, और इस प्रकार हुआ—

(क) जब विनिमय का माध्यम धातु मानी जाने लगी, और यह निश्चित हुआ कि इतनी अमुक वस्तु के लिए अमुक धातु इतनी मात्रा में दी जाय, तो मनुष्य भिन्न-भिन्न वस्तुओं के बदले में यथेष्ट धातु तोलकर देने लगे, और इस प्रकार चलन ('करेंसी') का प्रारंभिक रूप स्थिर हुआ। यह है माध्यम का चलन, तौल द्वारा।

(ख) धीरे-धीरे धातु के तुले-तुलाए टुकड़े गिनकर चलाए जाने लगे। यह है माध्यम का चलन, गिनती द्वारा।

(ग) धातु की शुद्धता तथा तौल में शंका न हो, इसलिए इन टुकड़ों पर किसी प्रसिद्ध संस्था या सरकार का चिह्न दिया जाने लगा, और मुद्रा या सिक्के ❋ का आविर्भाव हो गया। यह है माध्यम का चलन, सिक्के द्वारा।

(घ) बहु-मूल्य और अल्प-मूल्य पदार्थों के लिए भिन्न-भिन्न धातुओं के कई सिक्कों का चलन आवश्यक हो गया, और उनकी पारस्परिक परिवर्तन की दर निश्चित कर दी गई। यह है माध्यम का चलन, दो या अधिक धातुओं के सिक्कों द्वारा।

(च) बाद को एक या अधिक सिक्के अपरिमित संख्या तक, और शेष सिक्के परिमित संख्या तक क़ानूनन् ग्राह्य नियत किए गए। यह है माध्यम का सम्मिलित चलन, सिक्कों द्वारा। भारत में पौंड और रुपए तो अपरिमित क़ानूनन ग्राह्य हैं, परंतु अन्य सिक्के परिमित।

प्रामाणिक और सांकेतिक सिक्का—सिक्के, उनमें लगी हुई धातु के मूल्य के विचार से दो प्रकार के होते हैं, प्रामाणिक और सांकेतिक। 'प्रामाणिक' ('स्टैंडर्ड') सिक्का उस सिक्के को कहते हैं, जिसकी बाज़ारू क़ीमत उस सिक्के में लगी हुई धातु की क़ीमत के लगभग हो। जिस देश में इस सिक्के का चलन होता है, वहाँ के आदमी, अपनी आवश्यकता के समय धातु तथा ढलाई-खर्च आदि का साधारण शुल्क देकर नए सिक्के ढलवा सकते हैं, अथवा मोल ले सकते हैं। भारतवर्ष

❋ सबसे अच्छा सिक्का वह है, (१) जिसकी नक़ल न की जा सके, (२) जिससे यदि कुछ धातु निकाल ली जाय, तो फ़ौरन पता लग जाय, और (३) जिससे धातु, रगड़ के कारण घिस जाने पर, कम न हो जाय, और (४) जो अपने समय की कला का एक ख़ास नमूना हो।

में सन् १८९३ ई० तक ऐसी ही व्यवस्था थी। ऐसे सिक्कों को गलाने में विशेष हानि नहीं होती।

'सांकेतिक' सिक्का उस सिक्के को कहते हैं जिसकी बाज़ारू क़ीमत उस सिक्के में लगी हुई धातु की क़ीमत से बहुत अधिक होती है। उदाहरणवत् भारतवर्ष में रुपया सांकेतिक मुद्रा है; इसमें जितनी चाँदी होती है, उसकी क़ीमत बाज़ार में प्रायः सात आने से नौ आने तक रही है; किंतु सरकार ने उसकी क़ीमत सोलह आने ठहरा रक्खी है। इन सिक्कों के प्रचलित मूल्य का आधार सरकारी क़ानून तथा सरकार की साख है। विदेशों में ऐसे सिक्कों का मूल्य बहुत कम—उनमें लगी हुई धातु की क़ीमत के लगभग—होता है। जब सरकार की साख जाती रहती है, अथवा सरकार बदल जाती है, तो स्वदेश में भी इन सिक्कों की क़ीमत बहुत गिर जाती है।

सांकेतिक रुपयों के चलन से जन-साधारण की प्रवृत्ति, चाँदी के सस्ते होने की हालत में, नक़ली रुपए बनाने की ओर, और चाँदी के महँगे होने की सूरत में, रुपए गलाने की ओर, होती है। इस प्रकार सांकेतिक मुद्रा-प्रणाली, दोनों हालतों में, असुविधा-जनक है। इस असुविधा को दूर करने का यही उपाय है कि लोगों के, अपनी-अपनी धातु के सिक्के ढलवाने के लिए टकसाल खुली रहे।

भारतवर्ष में पैसा ताँबे का, तथा इकन्नी, दुअन्नी, और चवन्नी निकिल-जैसी सस्ती धातुओं की हैं। ये सिक्के मन-मानी संख्या में नहीं चल सकते; क्योंकि ये एक परिमित संख्या से अधिक क़ानूनन् ग्राह्य नहीं हैं। इन सिक्कों को भारी ऋण में लेने के लिए कोई बाध्य नहीं किया जा सकता। इन्हें कोई जोड़कर भी नहीं रखता।

सिक्के ढालने का अधिकार (१) जन-साधारण को, (२) सरकार

को, अथवा (३) सरकार द्वारा नियुक्त की गई किसी बैंक आदि संस्था को हो सकता है।

सिक्कों के चलन के ख़र्च में निम्न-लिखित व्यय सम्मिलित हैं—(क) जो पूँजी सिक्कों में लग जाती है, उस पर ब्याज; (ख) सिक्कों के घिसने का नुक़सान; और (ग) टकसाल का ख़र्च। सांकेतिक मुद्रा को चलाने में बहुत लाभ होता है। कभी-कभी इस लाभ का लालच यहाँ तक बढ़ जाता है कि उन सिक्कों की संख्या आवश्यकता से अधिक बढ़ा दी जाती है, जिससे देश को बहुत हानि पहुँचती है। आगे प्रसंगानुसार इस प्रश्न पर विचार किया जायगा।

भारतीय सिक्कों का इतिहास; प्रामाणिक सिक्कों का युग—सिक्कों के संबंध में साधारण सिद्धांत की बातें बतलाकर अब हम भारतवर्ष के सिक्कों का वर्णन करते हैं। किंतु पहले उनका संक्षिप्त इतिहास बतलाना आवश्यक है। मुसलमानों के आगमन से पूर्व, तथा कुछ समय पीछे तक, भारतवर्ष में मुख्य रूप से सोने के सिक्कों का प्रचार रहा। चाँदी, ताँबे और लोहे के सिक्के भी बनते थे; परंतु उनका प्रचार कम था। बहुत कम क़ीमत की चीज़ों के लेन-देन में कौड़ियों का व्यवहार होता था। दिल्ली के सुलतान अल्तमश ने, सन् १२३३ ई० में, १७५ ग्रेन तौल का टंक-नामक चाँदी का सिक्का जारी किया। सन् १५४२ ई० में बादशाह शेरशाह ने 'टंक' के बदले लगभग १८० ग्रेन तौल का 'रुपया' नामक सिक्का प्रचलित किया। उत्तरी भारत में चाँदी का सिक्का क्रमशः प्रामाणिक सिक्का हो गया।

सन् १७६६ ई० में ईस्ट-इंडिया-कंपनी ने दो धातुओं के सिक्कों का चलन स्थापित करने की—अर्थात् सोने और चाँदी के सिक्कों के मूल्य में क़ानूनी अनुपात निश्चित करने की—कोशिश की। उसकी सोने की मोहरों की क़ीमत पहले १४ 'सिक्के रुपए' लगाई गई, परंतु सन् १७६६

ई० में नई मोहरें १६ 'सिक्के रुपए' की ठहराई गईं। अठारहवीं शताब्दी के अंतिम भाग (सन् १७७३ ई०) में, भारत के विविध स्थानों में, १२६ तरह की सोने की मोहरें, ६१ तरह के दक्षिणी भारत के सोने के सिक्के 'हुन', ५५६ तरह के चाँदी के रुपए तथा २१४ प्रकार के विदेशी सिक्के व्यवहार में आते थे। इस गड़बड़ी को दूर करने के लिए कंपनी ने अपने अधिकार-क्षेत्र में, सन् १७७८ ई० में, उस ढले हुए 'सिक्के रुपए' को प्रामाणिक सिक्का स्वीकार किया, जिसे वह कलकत्ते में ढालती थी। सन् १८३५ ई० में चाँदी के रुपए को भारत-भर का एक-मात्र क़ानूनन् ग्राह्य सिक्का कर दिया गया। सरकार ने दो धातुओं के सिक्कों के चलन का विचार त्याग दिया। मोहरें ख़ज़ानों में ली जाती थीं, परंतु केवल बाज़ार-भाव से। इस समय से चाँदी के रुपए १८० ग्रेन के बनाए गए। इनमें बारहवाँ हिस्सा मिलावट होती है, और इनके ऊपर इँगलैंड-नरेश की आकृति रहती है।

अमरीका और दक्षिण-अफ्रीका में सोने की नई खानें मिलने से भारत-सरकार को सहसा यह शंका हुई कि शायद सोने का मूल्य घट जाय, और विनिमय में मोहर लेने से हानि हो। अतः सन् १८५३ ई० में लार्ड डलहौज़ी ने यह आज्ञा निकाली कि सरकारी ख़ज़ाने से मोहरें न भुनने पावें। इस प्रकार यहाँ से सोने के सिक्के का प्रचार उठ गया। विदेशों को उनका व्यापार का बाक़ी चुकाने, तथा इंगलैंड को प्रति वर्ष 'होम चार्जेज़' (इंगलैंड में होने वाले भारतवर्ष संबंधी विविध व्यय) की रक़म भेजने में भारतवर्ष सोने का सिक्का देने को बाध्य था। इस-लिए पीछे जब चाँदी की क़ीमत में कमी हुई, तो वहाँ उतना ही अधिक रुपया भेजना पड़ा।

सांकेतिक मुद्रा का युग—सन् १८६२ ई० में तत्कालीन असुविधाओं को दूर करने के उपाय खोजने के लिए लार्ड हरसेल की

अध्यक्षता में, एक कमेटी नियुक्त की गई। इसकी सिफ़ारिश से, सन् १८९३ ई० में, करेंसी-क़ानून पास हुआ। इससे (१) जन-साधारण को यह अधिकार न रहा कि वह अपनी चाँदी टकसाल में ले जाकर उसके रुपए ढला सके ; सिर्फ़ सरकार को ही रुपए ढालने का अधिकार रहा। (२) सावरेन का मूल्य १५) रक्खा गया।

टकसाल बंद कर देने तथा उपर्युक्त व्यवस्था करने से सांकेतिक मुद्रा-प्रणाली प्रचलित की गई। सरकार को रुपए के विदेश-संबंधी विनिमय में तो सुभीता हो गया, परंतु देश को बड़ी विपत्ति का सामना करना पड़ा। लेखनी की एक चोट से देश-भर की समस्त चाँदी की क़ीमत में लगभग ३५ फ़ी-सदी की कमी हो गई। टकसाल में पहले सौ तोले चाँदी देने से लगभग १०६ रुपए बन सकते थे, किंतु अब उसकी क़ीमत केवल ७० रु० के लगभग ही रह गई। सन् १८७७ ई० के दुष्काल में करोड़ों रुपए के आभूषण टकसाल में रुपए ढलने के लिए भेजे गए थे। परंतु अब इस नई व्यवस्था के कारण गहनों के बदले बराबर की तौल के रुपए नहीं मिल सकते थे, और कम रुपए मिलने से बाज़ार में माल भी कम मिलता था। अतएव इस व्यवस्था ने सन् १८९७-९८ ई० के भयंकर अकाल में मरते हुओं को और मारा, और देश के शिल्प, व्यवसाय और वाणिज्य को भी भारी धक्का लगाया।

मुद्रा-ढलाई-लाभ-कोष—ऊपर बताया जा चुका है, कि भारतवर्ष में जो सिक्का (रुपया) प्रचलित है, उसमें लगी हुई धातु का मूल्य सिक्के के साधारण बाज़ारू मूल्य से बहुत कम है। सरकार को उसके ढालने से बहुत लाभ रहता है। इस लाभ की रक़म जिस कोष में जमा रहती है, उसे मुद्रा-ढलाई-लाभ कोष ('गोल्ड-स्टैंडर्ड-रिज़र्व') कहते हैं। इस कोष से रुपए और पौंड (इंगलैंड की स्वर्ण मुद्रा) की

विनिमय-दर स्थिर रखने में सहायता ली जाती है। इस संबंध में विशेष आगे लिखा जायगा। गत कई वर्षों से इस कोष की रक़म चार करोड़ पौंड (अर्थात् साठ करोड़ रुपए) है। और, इसका अधिकतर भाग इंगलैंड में, ब्रिटिश सरकार की सिक्यूरिटियों (सरकारी ऋण-पत्रों) में रक्खा जाता है। यह सर्वथा अनुचित है, यह कोष भारतवर्ष में रहना चाहिए और इसका लाभ भारतवर्ष को ही मिलना चाहिए। भारत सरकार, इस कोष के होते हुए भी उसका उपयोग न कर सके, यहां की कृषि, उद्योग-धंधों आदि के लिए उसे सदैव रुपए का अभाव रहे, यह अत्यंत चिंतनीय है।

भारतवर्ष के लिए सोने का सिक्का—सन् १८९८ ई० में भारतवर्ष की मुद्रा-व्यवस्था पर विचार करने तथा सम्मति देने के लिए सर हेनरी फाउलर की अध्यक्षता में एक कमेटी बैठी। उसके प्रस्तावानुसार सन् १८९९ ई० में सावरेन भारत का प्रचलित सिक्का बना दिया गया। उसी वर्ष भारत के अर्थ-मंत्री ने यह घोषित किया था कि कुछ ही सप्ताहों में, बंबई में, सोने की टकसाल खोल दी जायगी, परंतु विलायत के कोषाधिकारियों के विरोध के कारण यह प्रस्ताव सन् १९०३ ई० में बिलकुल रद कर दिया गया।

सन् १९१० ई० में सर जेम्स मेस्टन ने साफ़-साफ़ शब्दों में कह दिया कि वर्तमान मुद्रा-प्रणाली के दोष सोने की मुद्रा चलाने पर ही दूर हो सकते हैं। सन् १९१२ ई० में सर बिट्ठलदास थेकरसी ने भारतीय व्यवस्थापक सभा में प्रस्ताव किया कि बिना टकसाली खर्च लिए जन-साधारण के सोने के सिक्के ढाले जाएँ। सब भारतीय सदस्यों ने इसका समर्थन किया। यद्यपि यह पास न हुआ, तो भी भारत-सरकार ने भारत-मंत्री से, भारत में सावरेन ढालने की एक टकसाल खोलने का अनुरोध किया। किंतु भारत-मंत्री ने दस रुपए का सोने का नया सिक्का

चलाने का प्रस्ताव किया, इसे भारत-सरकार ने भी स्वीकार कर लिया। सन् १६१२ ई० में भारत-सरकार के, मांटेग्यू-कंपनी द्वारा, गुप्त रूप से चाँदी ख़रीदने पर पार्लिमेंट में एक जोशीली बहस हुई। परिणाम-स्वरूप चेंबरलेन-कमीशन की नियुक्ति हुई। इसने फ़ाउलर-कमेटी के कुछ प्रस्तावों को रद कर दिया, और वर्तमान व्यवस्था को स्थिर रखने के लिए अनुरोध किया। युद्ध-काल में मुद्रा-संबंधी आवश्यकताओं से विवश होकर सरकार ने स्वयं उपर्युक्त सब आपत्तियों की अवहेलना की, और अगस्त सन् १६१८ ई० में, बंबई में, सोने की टकसाल खोल दी, जो लंदन की टकसाल की शाखा समझी गई। पर एप्रिल, सन् १६१६ ई० में यह बंद कर दी गई।

भारतवर्ष में इस टकसाल के पुनः खोलने तथा जारी रखने की अतीव आवश्यकता है। लोगों को अपने सोने के बदले सिक्के ढलवाने का अधिकार होना चाहिए। इससे एक लाभ तो यह होगा कि भारतवर्ष को अन्य देशों के व्यापार की बाकी चुकाने, तथा 'होम चार्जेज़' की रक़म इंगलैंड भेजने की सुविधा होगी, यहाँ विनिमय की दर स्थिर रहेगी, जिसके संबंध में विशेष आगे लिखा जायगा। दूसरे, इस टकसाल के खुलने और सोने के सिक्के जारी हो जाने पर लोगों का अपना सोना गाड़कर रखने की प्रवृत्ति कम हो जायगी। इस समय आदमी सोचते हैं कि देश में नोट ही अधिक हैं, सोना बहुत-सा बाहर चला गया है; उन्हें यह विश्वास नहीं है कि ज़रूरत के समय यहाँ काफी सोना मिल ही जायगा। टकसाल खुलजाने से लोगों का यह अविश्वास दूर हो जायगा, और उनके द्रव्य का, धनोत्पादन-कार्य में अधिक उपयोग होगा।

चौदहवाँ परिच्छेद

कागज़ी मुद्रा; नोट आदि

बड़े व्यापारों में सोने-चाँदी आदि के भारी सिक्कों को एक स्थान से दूसरे स्थान को लेजाने में बड़ी असुविधा होती है। इस असुविधा को दूर करने के लिए धातु का आधार छोड़कर लोग कागज़ी रुपयों से ही अपना काम निकाल लेना चाहते हैं। नोट या कागज़ी मुद्रा वास्तविक सिक्के नहीं, ये केवल एवज़ी सिक्के ही हैं, जो चलाने वाले के विश्वास या साख पर चलते हैं। ये अपने ही देश (या प्रांत) में भुनाए जा सकते हैं, विदेशों में इनका कोई मूल्य नहीं होता। आवश्यकता से अधिक होने पर तो ये स्वदेश के लिए भी बहुत हानिकर होते हैं।

भारतवर्ष में नोटों का प्रारंभ—यहाँ के व्यापारियों में हुँडी-पुर्जे का प्रचार चिर काल से रहा है। परंतु वर्तमान नोटों का चलन अँगरेज़ी शासन में ही हुआ। नोटों का प्रचार यहाँ पहले-पहल सन् १८३६ ई० में हुआ, जब कि बंगाल-बैंक को नोट निकालने की अनुमति मिली। सन् १८४० ई० में बंबई के, और सन् १८४३ ई० में मदरास के प्रेसिडेंसी-बैंकों को भी नोट निकालने का अधिकार मिल गया। इन नोटों का प्रचार पहले अधिकतर उक्त नगरों में ही हुआ। मदरास-बैंक को एक करोड़ और अन्य दोनों बैंकों को दो-दो करोड़ तक के नोट निकालने का अधिकार दिया गया था।

सन् १८६१ ई० से इन बैंकों का यह अधिकार छिन गया, और भारत-सरकार ने नोट निकालने का काम अपने हाथ में लेकर इसके लिए एक पृथक् विभाग खोला, और नोट जारी करने के ६ केंद्र स्थापित

किए। इन केंद्रों से ५), १०), ५०), १००), ५००), १,०००) और १०,०००) के नोट जारी किए गए। उस समय, जो नोट जिस केंद्र से जारी किए हुए होते थे, वे केवल उसी केंद्र से अधिकार-पूर्वक भुनाए जा सकते थे।

नोटों का प्रचार—सन् १९०३ ई० तक नोटों का प्रचार बहुत शीघ्रता से नहीं बढ़ा। किंतु इस वर्ष से ५ रुपए के, सभी केंद्रों से निकले नोट सभी सरकारी ख़ज़ानों में भुनाए जा सकने लगे; अर्थात् उस समय से ५) के नोट सार्वदेशिक हो गए। सन् १९११ ई० में १००) के नोट का प्रचार भी सार्वदेशिक हो गया। सन् १९१३ ई० के कमीशन ने यह सम्मति दी कि सब नोट भुनाए जाने के लिए अधिक सुविधा कर दी जाय। ऐसा हो जाने पर लोग नोटों को अधिकाधिक पसंद करने लगे, और उनके प्रचार की उत्तरोत्तर वृद्धि होने लगी।

सन् १९१७ ई० में १) और २॥) के नोट भी चला दिए गए। इनके चलाने का विशेष कारण यह था कि युद्ध-काल में, देश में, रुपयों की माँग बहुत बढ़ गई थी, किंतु चाँदी के मँहगी हो जाने के कारण, रुपए अधिक परिमाण में नहीं ढाले जा सकते थे। अस्तु, भारत-सरकार ने युद्ध के अंत तक, युद्ध से पहले की अपेक्षा, दुगने से भी अधिक मूल्य के नोट प्रचलित किए। (पीछे १) और २॥) के नोटों का चलन बंद कर दिया गया)।

नोटों की अधिकता के कारण बट्टा और मँहगी—इन नोटों को चलाने के समय सरकार ने कहा था कि किसी भी सरकारी ख़ज़ाने से इनके बदले में नक़द रुपए मिल सकेंगे, और पाँच रुपए

तक तो डाकख़ानों से भी मिल जायँगे। इससे इन नोटों का प्रचार बढ़ गया। परंतु पीछे बंबई के करेंसी-आफ़िस को छोड़कर अन्य किसी करेंसी-आफ़िस या बाज़ार में नोटों के रुपए भुनाना बहुत कठिन क्या, अनेक स्थानों में असंभव हो गया। यद्यपि नोटों पर बट्टा लेना सरकारी क़ानून से जुर्म माना जाता है, तथापि बाज़ार में इसका लेना और देना अप्रचलित नहीं था। युद्ध के समय में तो नोटवालों को बट्टे से बहुत ही हानि उठानी पड़ी। इससे सरकार की साख को कुछ समय तक बड़ा भारी आघात पहुँचा; जहाँ-तहाँ लोगों में यह बात फैल गई कि सरकार के ख़ज़ाने में सोना-चाँदी नहीं रहा, इसलिए वह काग़ज़ के टुकड़ों से काम चलाती है। इसी बीच में दुअन्नी, चवन्नी तथा अठन्नी भी चाँदी की जगह निकल-धातु की चलाई गई। इससे सरकार की आर्थिक स्थिति के संबंध में लोगों का अविश्वास और भी बढ़ गया। सरकार ने इस अविश्वास को दूर करने की चेष्टा की परंतु गई हुई साख जल्दी नहीं लौटती। यदि सरकार नोट आवश्यकता से अधिक न निकालती, और निकाले हुए नोटों के भुनाए जाने का आवश्यक प्रबंध रखती, तो न तो लोगों को बट्टे की हानि उठानी पड़ती, और न उनमें उपर्युक्त अविश्वास ही बढ़ता।

बट्टे की हानि से कहीं अधिक दुःखदाई भार मँहगी का कष्ट होता है। सरकार का कथन है कि रुपए और नोटों की वृद्धि से मँहगी का कोई अधिक संबंध नहीं। परंतु यह संबंध अनिवार्य है। यदि लेन-देन या बाज़ार की आवश्यकता से अधिक रुपए या नोटों की वृद्धि कर दी जाय, तो रुपए या नोटों का मूल्य घट जायगा। इससे पदार्थों का दाम बढ़ जायगा, और देश में मँहगी हो जायगी। अक्सर यह देखा गया है कि अकाल के वर्ष छोड़कर जिस वर्ष नोटों या प्रचलित सिक्कों की भरमार

हुई, उस वर्ष या उससे अगले वर्ष जनता पर मँहगी का भार अवश्य पड़ा है। चालू रुपए-पैसे की परिमाण-वृद्धि, अर्थात् नए सिक्कों को अधिक परिमाण में ढालने और काग़ज़ी मुद्रा का अधिक परिमाण में प्रचार करने का काम सरकार करती है। इसलिए वही मूल्य-वृद्धि की ज़िम्मेदार है।

काग़ज़ी-मुद्रा-क़ानून—सन् १८६१ ई० से यहाँ नोट निकालने की नीति में सुधार करने के लिए क़ानून बनाया गया, उसके अनुसार उक्त वर्ष से भारत-सरकार ने नोट निकालना आरंभ किया। इस क़ानून का मुख्य सिद्धांत यह है कि जितने रुपयों के नोट निकाले जायँ, उतने ही रुपयों का एक कोष अलग रक्खा जाय। इस कोष को काग़ज़ी-मुद्रा-कोष ('पेपर-करेंसी-रिज़र्व') कहते हैं। इस कोष का कुछ भाग सोने-चाँदी तथा इन्हीं धातुओं के सिक्कों में और शेष, सरकारी सिक्युरिटियों (ऋण-पत्रों) में रक्खा जाता है। सिक्युरिटियों की मात्रा के संबंध में समय-समय पर क़ानून द्वारा परिवर्तन किया गया है। पहले यह नियम बनाया गया कि ब्रिटिश संयुक्त-राज्य की सिक्युरिटियाँ, जो दो करोड़ से अधिक न हों, इनमें सम्मिलित कर ली जायँ। सन् १९११ ई० में इन सिक्युरिटियों की सीमा ४ करोड़ कर दी गई। युद्ध-काल में इस सीमा की बहुत ही अधिक वृद्धि हुई। सन् १९१८ ई० के नवीन ऐक्ट से ब्रिटिश ट्रेज़री-बिलों * की ज़मानत पर निकले हुए नोटों की सीमा ८६ करोड़ निश्चय कर दी गई। पीछे से, सन् १९१९ ई० में, यह सीमा १०० करोड़ तक पहुँच गई। युद्ध के बाद ये सिक्युरिटियाँ क्रमशः घटाई गईं।

---

* ३, ६ या १२ महीने के लिए ब्रिटिश सरकार द्वारा जो ऋण लिया जाता है, उसका ऋण-पत्र ट्रेज़री-बिल कहलाता है।

रिज़र्व-बैंक स्थापित होने से पूर्व भारत-सरकार को ही नोट निकालने का अधिकार था। अब यह अधिकार रिज़र्व बैंक को प्राप्त है। इस संबंध में मुख्य नियम ये हैं:—

१—जितने रुपए के नोट निकाले जायँ, उतने रुपए का सोना, स्वर्ण-मुद्रा, ब्रिटिश सरकार की सिक्यूरिटियाँ, रुपया, या भारत-सरकार की सिक्यूरिटियाँ कागज़ी-मुद्रा-कोष में जमा रहनी चाहिए।

२—संपूर्ण कागज़ी-मुद्रा-कोष का ४० फी सैकड़ा भाग स्वर्ण-मुद्रा, सोना या ब्रिटिश-सरकार की सिक्यूरिटियों में होना चाहिए, जिसमें कम-से-कम ४० करोड़ रुपया स्वर्ण-मुद्रा या स्वर्ण में हो, और इसका ८५ फी-सैकड़ा भाग भारतवर्ष में रहे।

३—कोष का शेष भाग रुपए, भारत-सरकार की सिक्यूरिटियों और स्वीकृत हुँडियों में होना चाहिए, परंतु भारत-सरकार की सिक्युरिटियाँ संपूर्ण कोष के चतुर्थांश से, या पचास करोड़ रुपए से अधिक की न होनी चाहिए। गवर्नर-जनरल की पूर्व स्वीकृति से दस करोड़ रुपया, भारत-सरकार की सिक्युरिटियों में और रक्खा जा सकता है।

३१ मार्च १९३४ ई० को भारतवर्ष तथा इंगलैंड में सिक्यूरिटियाँ कुल मिला कर ३७·७० करोड़ रुपए की, अर्थात् कुल काग़ज़ी-मुद्रा-कोष की २१·३ फ़ी-सदी थीं।

काग़ज़ी-मुद्रा-कोष का रूप और स्थान—पहले कुछ वर्ष तक काग़ज़ी-मुद्रा-कोष अधिकतर रुपयों में, और भारतवर्ष में ही रक्खा जाता था। सन् १८९८ ई० से यह नीति अस्थाई रूप से बदली गई, और उक्त कोष का कुछ अंश, स्वर्ण-मुद्रा के रूप में, इंगलैंड में रक्खा जाने लगा; जिसमें वह वहाँ चाँदी ख़रीदने तथा विनिमय की दर स्थिर रखने में काम आ सके। सन् १९०२ ई० के क़ानून से ऐसा नियम हो

गया कि भारत-सरकार इस कोष का वह भाग, जिसे वह धातु के रूप में रखना आवश्यक समझती हो, लंदन या भारत में, और सोने या चाँदी अथवा दोनों में, अपने इच्छानुसार, रख सके। परंतु चाँदी के सिक्के केवल भारतवर्ष में ही रक्खे जाते हैं, लंदन में नहीं। कोष पर जो ब्याज मिलता है, उसमें से काग़ज़ी मुद्रा-विभाग का व्यय निकालकर जो शेष रहता है, वह 'नोट-प्रचलन के लाभ' की मद में डाल दिया जाता है।

जैसा कि पहले कहा गया है, कोष का कुछ भाग लंदन में रक्खा जाता है। उससे भारत-मंत्री (१) सोना मोल लेकर लंदन में रख लेते हैं, (२) सोना मोल लेकर भारत को भेज देते हैं, अथवा, (३) भारत सरकार को रुपए ढालने के लिए चाँदी भेज देते हैं। इनमें से अधिकतर पहली और तीसरी बात ही होती है। कोष का कुछ भाग लंदन में रक्खा जाना अनावश्यक और अनुचित है। यदि रुपए ढालने के लिए भारत में काफ़ी चाँदी न मिले, और लंदन में उसका लेना ज़रूरी हो तो भारत-मंत्री लंदन में कौंसिल-बिल (भारत-सरकार के नाम की हुंडियाँ बेचकर उस रक़म से चाँदी ख़रीद सकता है। अतएव चाँदी ख़रीदने के लिए कोष की रक़म वहाँ रखना अनावश्यक है। यह कोष नोटों के बदले में रक्खा जाता है, और नोट भारत में चलते हैं, अतएव यह कोष भी यहीं रक्खा जाना चाहिए; जिससे आवश्यकता पड़ने पर तुरंत काम में आ सके। नोट भुनाने के अतिरिक्त, यदि उसे और भी किसी काम में लाना अभीष्ट हो, तो इसका भी लाभ भारत को ही होना चाहिए। इंगलैंड की ब्रिटिश सरकार ग़रीब भारत के रुपए को कम या नाम-मात्र के सूद पर लेकर अनुचित लाभ उठाती है। इधर भारत के उद्योग-धंधों के लिए पूँजी की अत्यंत आवश्यकता रहती है। वे इसकी कमी के कारण पनपने ही नहीं पाते। अस्तु, काग़ज़ी मुद्रा-कोष की सब रक़म भारत में रक्खी जानी चाहिए।

पंद्रहवाँ परिच्छेद

विनिमय की दर

भारतवर्ष का अन्य देशों से लेन-देन—इस बात का उल्लेख पहले किया जा चुका है कि भारतवर्ष में उपभोग का बहुत-सा सामान विदेशों से आता है। अन्य देश भी भारतवर्ष से कुछ पदार्थ मँगाते हैं। इस आयात-निर्यात के संबंध में विशेष बातों का विचार अगले खंड में किया जायगा। यहाँ पाठकों का ध्यान इस बात की ओर दिलाना अभीष्ट है कि भारतवर्ष का दूसरे देशों से व्यापारिक संबंध है, इसलिए कभी उसे दूसरे देशों को रुपया देना होता है, और कभी उनसे लेना होता है। व्यापारिक संबंध के अतिरिक्त, अन्य कारणों से भी रुपया लेना या देना होता है; उदाहरणार्थ, भारतवर्ष प्रतिवर्ष इंगलैंड को 'होम-चार्जेज़' अर्थात् (इंगलैंड में होने वाले भारतवर्ष संबंधी विविध ख़र्च) की रक़म देता है।

भारतवर्ष का दूसरे देशों से लेन-देन इंगलैंड के पौंड नामक सिक्के में होता है। जब भारतवर्ष को किसी देश का रुपया देना होता है, तो पौंड के रूप में देता है; इसी प्रकार जब रुपया लेना होता है, तो पौंड के द्वारा ही लेता है। सन् १९३१ ई० से इंगलैंड में कागज़ी पौंड का चलन है; परंतु ब्रिटिश सरकार ने विदेशी व्यापार के लिए कागज़ी पौंड के बदले में स्वर्ण पौंड दिए जाने की व्यवस्था कर रक्खी है। स्वर्ण पौंड प्रामाणिक सिक्का होने के कारण दूसरे देशों के सिक्कों से बदला जा सकता है, रुपया नहीं बदला जा सकता, क्योंकि अधिकतर देशों में चाँदी के सिक्कों का चलन नहीं है; और, चलन हो भी, तो हमारे रुपए के सांकेतिक सिक्का होने के कारण अन्य देशवाले उसे यहाँ के बाज़ारू भाव पर लेना स्वीकार नहीं करते।

भुगतान की विधि; सरकारी हुंडियाँ—भिन्न-भिन्न देशों के लेन-देन का भुगतान करने के लिए सदैव सिक्कों की आवश्यकता नहीं होती। उदाहरणार्थ यदि हमें इंगलैंड के व्यापारियों से अपने माल की क़ीमत लेनी है, और 'होम-चार्जेज़' आदि के लिए इंगलैंड में भारत-मंत्री को रुपया देना है, तो इस दशा में भारत-मंत्री इंगलैंड के व्यापारियों के हाथ भारत-सरकार के नाम की हुंडियाँ (कौंसिल-बिल) बेचकर हमारा रुपया जमा कर लेते हैं। जो लोग ये हुंडियाँ ख़रीदते हैं, वे उन्हें यहाँ भेज देते हैं, और यहाँ के व्यापारी सरकार या बैंकों से हुंडियों का रुपया वसूल कर लेते हैं। इस प्रकार इंगलैंड के, व्यापारी भारतीय व्यापारियों को, और भारत-सरकार भारत-मंत्री को, बहुत-सी नक़दी भेजने की असुविधा और जोखिम से बच जाती है।

कभी-कभी ऐसा भी होता है कि फ़सल अच्छी न होने आदि के कारण जब यहाँ से इंगलैंड को माल कम जाता है, तो हमें इंगलैंड को रुपया देना रहता है। इस दशा में भारत-सरकार भारत-मंत्री पर की हुई हुंडियाँ* बेचती है और यहाँ व्यापारियों से रुपया लेती है। भारतीय व्यापारी भारत-सरकार से हुंडी ख़रीदकर, उन्हें इंगलैंड के व्यापारियों के पास भेज देते हैं, और इंगलैंड के व्यापारी उन हुंडियों के बदले भारत-मंत्री से सावरेन (पौंड) ले लेते हैं।

भारत-मंत्री और भारत-सरकार, जल्दी भुगतान करने के लिए, तार द्वारा भी व्यापारियों का काम कर देते हैं। इसमें ख़र्च कुछ अधिक होता है।

सरकारी हुंडी का भाव—जब विलायत के व्यापारियों को यहाँ अधिक भुगतान करना होता है, तो सरकारी हुंडी की माँग बढ़

---

* इन हुंडियों को उलटी हुंडियाँ ('रिवर्स कौंसिल बिल') कहते हैं।

जाती है, अर्थात् अँगरेज़ी-सिक्के के हिसाब से भारतीय सिक्के का मोल बढ़ जाता है; या यों कह सकते हैं कि हमारे विनिमय का भाव चढ़ जाता है। यह भाव इसी क़दर चढ़ सकता है कि इंगलैंड के व्यापारियों को नक़द रुपए भेजने की अपेक्षा हुंडी द्वारा भेजने में अधिक व्यय न करना पड़े। उदाहरण के लिए, इंगलैंड के किसी व्यापारी को भारत में १५) रु० का भुगतान करना है, और उसके भेजने में छः आने ख़र्च होते हैं, तो वह भारत-मंत्री की १५) की हुंडी को १५।=) तक में लेने को तैयार हो जायगा।

विनिमय की दर का आधार—'विनिमय की दर'-शब्द-समूह का व्यवहार भिन्न-भिन्न देशों के पृथक्-पृथक् सिक्कों के पारस्परिक भाव के लिए होता है। भारतीय दृष्टि से रुपए, आने, पाइयों के जिस भाव से पौंड, शिलिंग, पेंस बन सकते हैं; उसे विनिमय की दर कहते हैं। इंगलैंड, जर्मनी, अमरीका आदि देशों में एक ही धातु (सोने) के प्रामाणिक सिक्के प्रचलित हैं। इनमें विनिमय की दर में इतनी घट-बढ़ नहीं होती, जितनी चीन और भारत-जैसे देशों में, जहाँ चाँदी के सिक्के अपरिमित रूप से क़ानूनन-ग्राह्य हैं। सोने के भिन्न-भिन्न प्रामाणिक सिक्कों के परिवर्तन में दो बातों का ख़याल रखना होता है—१—अगर एक सिक्का दूसरे देश को भेजा जाय, तो रास्ते का ख़र्च लगाकर उसकी क़ीमत क्या होगी? (जब विनिमय की दर, सिक्के की धातु की क़ीमत और भेजने के ख़र्च से ज़्यादा होती है, तो लोग सिक्के ही, पार्सल द्वारा, भेजने लगते हैं।) २—प्रत्येक सिक्के की टकसाली दर क्या है?

टकसाली दर—सोने के प्रामाणिक सिक्के रखनेवाले देशों के उन सिक्कों में लगे हुए असली सोने के परिमाण के पारस्परिक संबंध को "टकसाली दर" कहते हैं। उदाहरणार्थ, यह दर बतलाएगी कि एक पौंड (इंगलैंड का सिक्का) में जितना सोना रहता है, उतना कितने

फ्रैंक (फ्रांस का सिक्का) में पाया जायगा। जब तक कोई देश अपना प्रामाणिक सिक्का अर्थात उसकी बनावट का नियम न बदल दे, उसके सिक्के की, अन्य देशों के प्रामाणिक सिक्कों में टकसाली दर नहीं बदलती; क्योंकि टकसाली दर तो सिक्कों के असली सोने का पारिमाणिक संबंध-मात्र हैं। परंतु ऐसी परिस्थितिवाले देशों में टकसाली दर, जिनमें एक का स्टैंडर्ड-सिक्का तो सोने का और दूसरे का चाँदी का हो, हमेशा बदलती रहती है ; कारण, चाँदी की सोने में क़ीमत बदलती रहती है। यही दशा भारत में सन् १८९३ ई० के पहले थी। हमारा प्रामाणिक सिक्का (रुपया) चाँदी का था, और इंगलैंड तथा अन्य देशों का सोने का। अतएव जैसे-जैसे चाँदी की, सोने में क़ीमत बदली, वैसे-वैसे भारत की टकसाली दर भी बदलती गई। परंतु अब तो भारत में कोई प्रामाणिक-सिक्का है ही नहीं। रुपए की बाज़ारू क़ीमत, उसमें जो चाँदी है, उसकी क़ीमत से अधिक है। इसलिए अब भारत और अन्य देशों के बीच में कोई टकसाली दर नहीं हो सकती।

भारतवर्ष का विनिमय-दर; सन् १९१९ ई० तक—इस देश का प्रचलित सिक्का रुपया है, और विदेशी व्यापार में पौंड का व्यवहार होता है, अतः रुपए और पौंड का पारस्पिरिक मूल्य का विषय अत्यंत महत्त्व का है। सन् १८९३ ई० में भारत-सरकार ने एक रुपए का क़ानूनी मूल्य एक शिलिंग चार पेंस निर्धारित किया। योरपीय महायुद्ध के प्रारंभ तक विनिमय की दर प्रायः १ शिलिंग ४·२५ पेंस से अधिक नहीं बढ़ी, और न १ शिलिंग ३·९३ पेंस से नीचे ही गिरी।*

---

* आवश्यकतानुसार कौंसिल-बिल (भारत-सरकार पर की हुई हुंडियाँ) और रिवर्स-कौंसिल-बिल (भारत-मंत्री पर की हुई हुंडियाँ) निकालकर विनिमय की यह दर स्थिर बनाए रखने में सहायता की गई।

युद्ध-काल में भारत से बहुत-सा अन्न आदि माल इंगलैंड गया, पर वहाँ से यहाँ बहुत कम सामान आ सका। संसार में, आवश्यकतानुसार प्राप्त न होने के कारण, चाँदी का भाव चढ़ता गया। अतः कौंसिल-बिलों का भाव धीरे-धीरे बढ़ाना पड़ा। १ अगस्त, सन् १९१७ ई० को एक रुपए के बदले में १ शिलिंग ५ पेंस मिलते थे; १५ अप्रैल सन् १९१८ ई० को यह दर १ शिलिंग ६ पेंस, और १ मई, १९१९ ई० को १ शिलिंग ८ पेंस, हो गई। (क्रमशः बढ़ते-बढ़ते १ फ़रवरी, सन् १९२० ई० को २ शिलिंग ८·५ पेंस तक चढ़ गई!)

सन् १९१९ ई० की करेंसी-कमेटी—विनिमय में अभूत-पूर्व गड़बड़ी होते देख, मुद्रा-व्यवस्था के प्रश्न पर विचार करने के लिए सरकार ने मई, सन् १९१९ ई० में एक करेंसी-कमेटी नियत की। इसमें श्रीयुत दादीबा मिरवानजी दलाल ही एक-मात्र हिन्दुस्थानी सदस्य थे, और शेष सब अंगरेज़। श्रीयुत दलाल ने अपना मत अलग प्रकट किया, और समस्त अंगरेज़ सदस्यों का मत अलग रहा।

बहु-मत की सलाह—बहु-मत (अंगरेज़ों) की ख़ास-ख़ास सलाहें ये थीं—(१) सरकार को रुपए का भाव सोने में करना चाहिए; क्योंकि इंगलैंड में नोटों का अधिक प्रचार हो जाने के कारण सोने और काग़ज़ी पौंड के पारस्परिक भाव में अब वह स्थिरता नहीं रही। एक रुपए का मूल्य ११·३ ग्रेन सोने के मूल्य के बराबर रक्खा जाय, अर्थात् सावरेन (स्वर्ण-पौंड) का भाव १५ रु० की जगह १० रु० कर दिया जाय। एक रुपए की क़ीमत दो शिलिंग (स्वर्ण) हो। (२) यह भाव स्थिर हो जाने पर सोने के आयात पर से सरकारी रोक उठा दी जाय। (३) जिनके पास सावरेन हैं, उन्हें कुछ समय तक उन सावरेनों को सरकारी ख़ज़ाने से पंद्रह-पंद्रह रुपए में भुनाने दिया

जाय। (४) बंबई में फिर सोने की टकसाल खोली जाय, और जो लोग सोना दें, उन्हें बदले में सावरेन ढालकर दिए जायँ। (५) चाँदी के आयात पर से सरकारी रोक, कुछ दिन बाद, उठा ली जाय, परंतु निर्यात पर जारी रक्खी जाय। (६) प्रजा को अपनी पसंद का सिक्का या नोट मिलना चाहिए, परंतु अच्छा तो यही होगा कि विदेशी भुगतान के लिए सोना काम में लाया जाय, और देश में नोटों तथा रुपयों का विशेष व्यवहार रहे। (७) सरकार नोटों के बदले में रुपया देने के लिए सदा तैयार रहे।

श्रीयुत दलाल की सलाह—(१) रुपए और सावरेन का भाव पहले-जैसा ही रक्खा जाय, १५ रु० का एक सावरेन रहे अर्थात् भारतवर्ष की विनिमय-दर १ शिलिंग ४ पैंसे हो। (२) प्रजा का सोना और उसके सिक्के तथा चाँदी मँगाने और बाहर भेजने का बे-रोक-टोक अधिकार दिया जाय। (३) सरकार बंबई की टकसाल में, बिना कुछ लिए ही, सोने के बदले में सावरेन ढालकर दिया करे। (४) रुपए में १६५ ग्रेन चाँदी रहती है। जब तक न्यूयार्क में फ़ी औंस ६२ सेंट* से ऊपर चाँदी का भाव रहे, तब तक सरकार रुपए न ढाले, और एक अन्य सिक्का जारी करे, जिसका बाज़ारू मूल्य २ रु० हो। रुपए में अब जितनी चाँदी रहती है, उस नए सिक्के में उससे दुगनी न हो—कुछ कम हो। (५) प्रजा को प्रचलित सिक्के ढलवाने का जो अधिकार प्राचीन काल से रहा है, वह पुनः दिया जाय। (६) करेंसी-नोट भारतवर्ष में छपें। एक रुपएवाले नोट बंद कर दिए जायँ, और फिर कभी उन्हें जारी न किया जाय। (७) पेपर-करेंसी-रिज़र्व का जो धन इंगलैंड में रहता है, वह भारत में रक्खा जाय।

भारत-सरकार का निर्णय—भारत-मंत्री ने श्रीयुत दलाल

* भारतवर्ष में, उस समय के हिसाब से, लगभग साढ़े सतरह आने फ़ी तोला।

की सलाह न मानकर बहु-मत की ही सलाह को स्वीकार किया। और, भारत-मंत्री के आज्ञानुसार भारत-सरकार ने अपनी सूचनाएँ प्रकाशित कीं। सावरेन का क़ानूनी भाव दस रुपए कर दिया गया। सोने का आयात कुछ समय के लिए सरकार ने अपने हाथ में रक्खा, जिससे यहाँ सोना लाकर उसका भाव गिरा दिया जाय। सावरेन और आधे सावरेन के बदले में रुपया देना बंद कर दिया गया। चाँदी के आयात पर का चार आने फ़ी-औंस कर उठा दिया गया, परंतु निर्यात पर कर जारी रक्खा। सावरेन और रुपए को, सिक्के के सिवा और किसी काम में लाने की निषेधात्मक सरकारी आज्ञा वापस ले ली गई। यह भी निश्चय किया गया कि सरकार को ख़ास अपने काम के लिए जितनी हुंडियाँ करनी आवश्यक होंगी, उतनी ही की जायँगी।

इसका परिणाम—जिस समय करेंसी कमेटी ने इस प्रश्न पर विचार करना आरंभ किया था, यहाँ रुपए की दर बहुत बढ़ी हुई थी, तथा बढ़ती जा रही थी। परंतु वह स्थाई नहीं थी। दर बढ़ने का विशेष कारण था, युद्ध-काल में भारत से इंगलैंड माल बहुत अधिक गया, तथा वहाँ से यहाँ बहुत कम सामान आ सका था। कालांतर में इस स्थिति का क्रमशः बदलना अनिवार्य था, और वह बदली। अस्तु, अस्थाई स्थिति को लक्ष्य में रखकर उपर्युक्त स्थाई व्यवस्था का किया जाना अनावश्यक और अनुचित था। अतः सरकार के इस निर्णय का घोर विरोध हुआ। साधारण नियम है कि जिस देश की मुद्रा की दर अन्य देशों की मुद्रा की तुलना में अपेक्षाकृत नीची होती है, उस देश का अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार-संतुलन उसके पक्ष में होता है, अर्थात् उसकी निर्यात अधिक होती है, और आयात कम होती है। भारत-सरकार का रुपए की ऊँची दर क़ायम करने का उपर्युक्त निर्णय इस देश के लिए बहुत हानिकर सिद्ध हुआ; यहाँ

का निर्यात-व्यापार बहुत घट गया और व्यापार-संतुलन इस देश के विपक्ष में हो गया। देश को प्रति वर्ष बहुत हानि उठानी पड़ी। विनिमय की दर में कमी करने की माँग उत्तरोत्तर प्रबल होने लगी।

हिलटन-यंग कमीशन—आरंभ में सरकार ने कुछ ध्यान न दिया। पर जनता का असंतोष तथा हानि बढ़ती गई। अन्ततः अगस्त सन् १६२५ ई० में, जबकि सरकार ने यह समझा कि परिस्थिति काफ़ी स्थाई हो गई है, उसने मुद्रा तथा विनिमय पर विचार करने के लिए एक शाही कमीशन नियत किया, जो अपने सभापति के नाम से हिलटन-यंग कमीशन कहलाया। इसकी रिपोर्ट अगस्त सन् १६२६ ई० में प्रकाशित हुई। रिपोर्ट में सर पुरुषोत्तमदास ठाकुरदास का मत-भेद था। कमीशन (के बहु-मत) ने भारतवर्ष में सोने के सिक्के का प्रचलन उचित नहीं समझा, और न यही कि रुपए के बदले में सोने का निर्धारित परिमाण क़ानून से निश्चित किया जाय। उसकी सिफ़ारिशों में से मुख्य ये थीं :—१—एक रुपए के बदले में एक शिलिंग छः पैंस दिए जायँ, अर्थात् भारतवर्ष की विनिमय दर एक शिलिंग छः पैंस हो। २—काग़ज़ी-मुद्रा-कोष और मुद्रा-ढलाई-लाभ-कोष मिलाकर इकट्ठे रखे जायँ। ३—रिज़र्व-बैंक स्थापित किया जाय।

सर पुरुषोत्तमदास ठाकुरदास का विशेष विरोध भारतीय विनिमय-दर के संबंध में था। उनका मत था कि सितंबर १६२४ ई० में रुपए की दर लगभग एक शिलिंग चार पेंस थी, और यही दर अधिक उप-युक्त एवं स्थाई है, तथा भारतवर्ष के हित की दृष्टि से उचित है।

सरकार द्वारा रिपोर्ट की स्वीकृति—सरकार ने कमीशन के बहु-मत की रिपोर्ट पसंद की, और उसके आधार पर उसने जनवरी १६२७ ई० में तीन क़ानूनों के मसविदे प्रकाशित किए, जिनके उद्देश्य

क्रमशः ये थे :—(१) ब्रिटिश भारत के लिए स्वर्ण-परिमाण-मुद्रा का चलन, और रिज़र्व बैंक की स्थापना। (२) सन् १९२० ई० के इंपीरियल-बैंक-क़ानून का संशोधन, और (३) सन् १९०६ ई० के मुद्रा-क़ानून तथा १९२३ ई० के काग़ज़ी-मुद्रा-क़ानून का संशोधन। नया मुद्रा-क़ानून अप्रैल सन् १९२७ ई० से अमल में आया; इसके अनुसार सावरेन और अर्द्ध-सावरेन क़ानूनन ग्राह्य सिक्के न रहे। रुपए की दर एक शिलिंग छः पेंस निर्धारित कर दी गई।

२१ सितंबर १९३१ ई० से ब्रिटिश सरकार ने इंगलैंड में सोने के प्रामाणिक सिक्के का प्रचार स्थगित कर दिया। उस समय से काग़ज़ी पौंड की दर स्वर्ण पौंड से भिन्न हो गई है। अब एक काग़ज़ी पौंड के बदले उतना सोना नहीं मिलता, जिसका मूल्य एक स्वर्ण पौंड के बराबर हो। भारत का विनिमय-दर भी काग़ज़ी पौंड के साथ ही स्थिर किया गया है, वह एक शिलिंग छः पेंस स्टर्लिंग (काग़ज़ी पौंड) के बराबर रक्खा गया है। भारतीय नेताओं का मत है कि यह दर एक शिलिंग चार पेंस हो।

विनिमय-दर ऊँची होने का प्रभाव—भारत-मंत्री और भारत-सरकार की राय में, भारतवर्ष का विनिमय-दर ऊँची रहने से इस देश को लाभ है। रुपए का भाव सोने और सावरेन में बढ़ जाने अर्थात् १६ पेंस के बदले १८ पेंस रहने के पक्ष में ये बातें कही जा सकती हैं:—(१) विलायती माल का भुगतान करने में, रुपया कम देना होता है, विदेशी माल सस्ता पड़ता है, और मशीन आदि मँगानेमें कम व्यय होने से यहाँ के व्यवसाय को सहायता मिलती है। (२) होम-चार्जेज़ का भुगतान थोड़े रुपयों में ही हो जाने से प्रति वर्ष कई करोड़ रुपए की बचत होती है। (३) भारतवर्ष में बहुत-सी विदेशी वस्तुओं का उपभोग होता है; विनिमय-दर ऊँची रहने से उपभोक्ताओं को वे वस्तुएँ कम

मूल्य में मिलती हैं। (४) जिन भारतीयों को इंगलैंड आदि विदेश में रुपया देना होता है, वे अपेक्षाकृत कम रुपया देकर ही अपने ऋण से मुक्त हो सकते हैं। (५) अंगरेज़ों या अन्य देशवालों की बचत या पेंशन आदि का रुपया यहाँ से बाहर भेजने में उन्हें या उनके परिवार-वालों को अपेक्षाकृत अधिक द्रव्य मिलता है।

यह तो हुई लाभ की बात; अब हानि का विचार कीजिए। (१) भारत की विनिमय-दर बढ़ी होने से जर्मनी आदि योरपीय देश तथा अमरीका भारतवर्ष का माल कम ख़रीदते हैं, इसका प्रभाव विशेषतया भारत के ग़रीब ग्रामीणों पर पड़ता है, कारण कि यहाँ से अधिकांश से कच्चे माल की निर्यात होती है, और कच्चा माल पैदा करने वाले निर्धन किसान ही हैं। भारतवर्ष के प्रचलित सिक्के का मूल्य बढ़ा हुआ होने से विदेशी व्यापारी भारतीय माल के स्थान पर अन्य देशों का माल ख़रीदते हैं। गत वर्षों में यहाँ रुई और चावल के व्यवसाय को भारी क्षति पहुँची है। (२) भारतवर्ष में स्वदेशी माल अपेक्षाकृत महँगा पड़ता है, उसका उपभोग करने वालों को अधिक द्रव्य खर्च करना होता है। (३) जिन्हें विदेशवालों से रुपया लेना होता है, उन्हें अपने द्रव्य के बदले कम रुपया मिलता है। (४) विलायती माल सस्ता होने से उसकी खपत यहाँ बढ़ जाती है, और स्वदेशी व्यवसायों को धक्का पहुँचता है। हमें सस्ता माल बनाने का अवसर नहीं मिलता, इससे हमारे उद्योग-धंधों को अपार हानि होती है। (५) जो सावरेन या सोना यहाँ सरकारी कोषों में, रक्खा हुआ है, उसका मूल्य घटजाने से हमें करोड़ों रुपए की हानि होती है।

इस प्रकार यद्यपि विनिमय की दर ऊँची होने से कुछ लाभ भी हैं, किंतु उस लाभ की अपेक्षा हानि अधिक है। भारतीय नेताओं का

मत है कि यहाँ विनिमय की दर कम अर्थात् एक शिलिंग चार पेंस होनी चाहिए। इससे देश के औद्योगिककरण में सहायता मिलेगी और उसकी आर्थिक उन्नति होगी। इसके लिए कुछ लोगों की थोड़ी-बहुत हानि हो तो वह सहन की जानी चाहिए।

विशेष वक्तव्य—जापान, जर्मनी, फ्रांस और इंगलैंड आदि कई देशों ने अपने यहाँ प्रामाणिक सिक्का बंद करके, कागज़ी सिक्के का अत्यधिक प्रचार कर दिया है, जिसका मूल्य, सोने में, बहुत कम है। वे देश स्वतंत्र हैं, उनकी सरकार उनके देश के हित को लक्ष्य में रखकर अपनी अर्थ-नीति में समयानुसार परिवर्तन करती रहती है। भारतवर्ष में यह बात नहीं। यहाँ सरकार भारतीय जनता के प्रति उत्तरदाई नहीं है, वह ब्रिटिश हित की अवहेलना नहीं कर सकती, उसे ब्रिटिश अधिकारियों के रुख को देखकर अपनी नीति स्थिर करनी होती है। यही कारण है कि भारत-सरकार पर भारतीय व्यवस्थापक सभा द्वारा बार-बार ज़ोर डाले जाने पर भी उसने रुपए का दर अठारह पेंस से घटाकर सोलह पेंस करना स्वीकार नहीं किया। अधिकारी यही कहते हैं कि वे यहाँ की प्रचलित विनिमय-दर को स्वाभाविक और श्रेष्ठ समझते हैं। परंतु वे केवल प्रयोग के लिए भी दर को घटा कर अपने कथन की सत्यता प्रमाणित करने को तैयार नहीं हैं। वास्तव में भारतीय हित की दृष्टि से काम होने की आशा, भारत-सरकार के भारतीय जनता के प्रति उत्तरदाई होने पर ही हो सकती है।

सोलहवाँ परिच्छेद

बैंक

इस परिच्छेद में भारतवर्ष के विविध प्रकार के बैंकों के संबंध में विचार करना है; बैंकों का काम साख पर निर्भर होता है, अतः पहले उसके विषय में लिखाजाता है।

साख का महत्व---हम काग़ज़ी मुद्रा के प्रसंग में यह कह आए हैं कि नोट आदि केवल साख की बदौलत ही सिक्कों का काम देते हैं। साख या विश्वास से अभिप्राय उधार लेने की योग्यता या सामर्थ्य से है। जिस आदमी की साख अच्छी है, अर्थात् रुपया वादे पर दे देने का, जिसका विश्वास किया जाता है, उसी को ऋण आसानी से और कम सूद पर मिल सकता है। इसके विपरीत जिसकी साख नहीं, या है परंतु यथेष्ट नहीं, उसे ऋण नहीं मिलता, या बहुत ब्याज पर मिलता है; क्योंकि ऋण देनेवालों को, रुपया वापिस मिलने का भरोसा नहीं होता। कभी ऋण लेनेवाला अपने किसी मिलनेवाले विश्वासी आदमी की ज़मानत देता है, और कभी वह ज़मीन, मकान, ज़ेवर आदि चीज़ें गिरवी रखता है। कहावत प्रसिद्ध है कि 'जाय लाख, रहे साख।' व्यवसाय में साख निस्संदेह एक बड़ी पूँजी का काम देती है। व्यवसाई अपनी साख के बल पर माल ख़रीदकर उस पर उतना ही स्वत्व या अधिकार प्राप्त कर लेता है, जितना नक़द रुपया देकर ख़रीदने से होता। साख के प्रभाव से सोने-चाँदी के सिक्कों की ज़रूरत कम हो जाती है; उनका बहुत-सा काम नोट और हुंडी आदि से निकल जाता है। साख से ही महाजनी और बैंकिंग का काम चलता है।

महाजनी और बैंकिंग—जिसे वास्तव में बैंकिंग कहा जाता है, वह तो आधुनिक काल की ही सृष्टि है। पहले यहाँ विशेषतया महाजनी का चलन था। बैंकिंग और महाजनी में अंतर केवल यही है कि बैंक औरों से सूद पर रुपया क़र्ज़ लेकर भी सूद पर उठाता है; पर महाजन क़र्ज़ नहीं लेते थे, वे अपने ही अथवा औरों के (ब्याज पर न रक्खे हुए) रुपए को सूद पर उठाते थे। इस प्रकार महाजन सूद लेते थे, पर देते नहीं थे। अब तो वे सूद देने भी लगे हैं। यहाँ भिन्न-भिन्न जातियों के आदमी—विशेषतया मारवाड़ी, भाटिए, पारसी या दक्षिण-भारत के चेटी—लेन-देन करते हैं। महाजन लोग औरों का रुपया जमा करते हैं, हुंडी-पुर्ज़ों का व्यवहार करते हैं, ज़ेवर गिरवी रखकर रुपया उधार देते हैं, और सोना-चाँदी, या इन्हीं धातुओं की चीज़ें ख़रीदते हैं। हुंडियों का यहाँ प्राचीन काल से ही खूब चलन है। वे महाजनी या सर्राफ़ी-नामक एक विशेष लिपि में लिखी जाती हैं। शहरों में बैंकों के कारण महाजनी का काम यद्यपि कम हो गया है, किंतु छोटे क़स्बों और देहातों में अब भी बहुत होता है। छोटे व्यापारियों या उत्पादकों की पहुँच बड़े-बड़े बैंकों तक नहीं होती, उन्हें महाजनों द्वारा देश के आंतरिक कारोबार में अच्छी सहायता मिलती है।

बैंकों का काम रुपया जमा करना, ब्याज पर उधार लेना, ब्याज पर उधार देना तथा हुंडी-पुर्जे, चेक या नोट आदि ख़रीदना और बेचना है। जो लोग अपनी बचत का कोई अन्य उपयोग नहीं कर सकते, या नहीं करना चाहते, उनसे बैंक अपेक्षाकृत कम सूद पर रुपया उधार ले लेते हैं, और ऐसे आदमियों को कुछ अधिक सूद पर उधार दे देते हैं, जो उस धन से कोई लाभप्रद व्यवसाय चलाना चाहते हों। बैंक में जितने अधिक समय के लिए रुपया जमा किया जाता है, सूद उतना ही अधिक मिलता है; क्योंकि बैंकवाले उस रुपए से उतना ही अधिक लाभ उठा

सकते हैं। जमा करनेवाले सब लोग अपना रुपया प्रायः एक-ही साथ वापिस नहीं लेते; कुछ आदमी वापिस लेते हैं, तो कुछ जमा भी करते हैं। अतएव बैंकवाले अपने अनुभव से यह जान लेते हैं कि उन्हें जमा करनेवालों का भुगतान करने के लिए कितना रुपया हर वक्त तैयार रखने का प्रबंध करना चाहिए। शेष रुपया वे अपने उत्पादक कार्यों में लगाते हैं।

बैंकों के भेद—भारतवर्ष में बैंक का कार्य करनेवाली संस्थाओं के निम्नलिखित भेद हैं:—

१—सहकारी बैंक।
- (क) सहकारी साख-समितियाँ।
- (ख) सेंट्रल सहकारी बैंक।
- (ग) प्रांतीय सहकारी बैंक।
- (घ) भूमि-बंधक बैंक।

२—पोस्ट-आफ़िस सेविंग बैंक।
३—मिश्रित पूँजी के बैंक।
४—इंपीरियल बैंक।
५—रिज़र्व बैंक।
६—एक्सचेंज बैंक।
७—बीमा-कंपनियाँ।

सहकारिता—अब इनका क्रमशः परिचय दिया जाता है; पहले सहकारी बैंकों का विषय लेते हैं। इनके विविध भेदों के विषय में ज्ञान प्राप्त करने से पूर्व सहकारिता* की उपयोगिता जान लेनी चाहिए।

* अंगरेज़ी के "कोआपरेशन"-शब्द को हिंदी में सहयोग अथवा सहकारिता कह सकते हैं। इसका अर्थ मिल-जुलकर काम करना है। हमने सहकारिता-शब्द का ही प्रयोग किया है।

भिन्न-भिन्न कार्यों के अनुसार सहकारिता के कई भेद हो सकते हैं। अर्थ-शास्त्र में इसके मुख्य तीन भेद हैं—उत्पादकों की सहकारिता, उपभोक्ताओं की सहकारिता और साख की सहकारिता। भारतवर्ष में साख की ही सह-कारिता अधिक प्रचलित है, और इस परिच्छेद का विषय बैंक होने के कारण हमें यहाँ इसी का विचार करना है। अस्तु, जो पूँजी किसी व्यक्ति को, अकेले उसकी साख पर, कभी-कभी बहुत कष्ट तथा प्रयत्न करने पर भी, नहीं मिल सकती, वही, कई मनुष्यों के मिलजाने पर, उन सबकी साख के बल पर कम व्याज पर, आसानी से और यथेष्ट मात्रा में मिल सकती है। इस प्रकार साख के संबंध में सहकारिता का बड़ा महत्व है। भारतीय किसान-जैसे निर्धन लोगों के लिए तो साख की सहकारिता बहुत ही उपयोगी है।

सहकारी साख-समितियाँ—यहाँ सहकारी साख-समितियों की, सर्व-प्रथम संयुक्त प्रांत में, सन् १९०१ ई० में स्थापना हुई। इनके संबंध में, भारत-सरकार द्वारा पहला क़ानून सन् १९०४ ई० में बनाया गया। इसके अनुसार हरएक प्रांत के लिए एक-एक रजिस्ट्रार, सहकारी समितियों के स्थापन-कार्य में उत्तेजना देने के लिए, नियत हुआ। समितियाँ दो तरह की खोली गईं—एक, किसानों के लिए और दूसरी, शहर में रहनेवाले ग़रीब लोगों के लिए। यह नियम बनाया गया कि किसी गाँव या शहर में अगर एक ही जाति या पेशे के कम-से-कम दस आदमी मिलें, तो उनकी एक सहकारी समिति बन सकती है। उसके सदस्य वे ही हों, जो एक दूसरे को अच्छी तरह जानते हों। किसानों के लिए जो समितियाँ खोली गईं, उनमें आम-तौर पर एक यह नियम बनाया गया कि उनका प्रत्येक सदस्य अपनी समिति का कुल कर्ज़ चुकाने के लिए ज़िम्मेदार हो, अर्थात् वे समि-तियाँ अपरिमित देनदारी के सिद्धांत पर चलाई जायँ।

कुछ अनुभव के बाद सन् १६१२ ई० में सहकारी समितियों का दूसरा क़ानून पास हुआ, जिसकी कुछ मुख्य बातें ये हैं—(क) देहाती और नागरिक समितियों का भेद दूर कर दिया गया। (ख) सहकारी साख-समितियों के अतिरिक्त अन्य समितियाँ भी बनाई जाने की योजना कर दी गई। (ग) केंद्रस्थ संस्थाओं के लिए परिमित देनदारी का सिद्धांत जारी किया गया, बशर्ते कि उससे कम-से-कम एक रजिस्टर्ड समिति संबद्ध हो। (घ) सरकार ने मुनाफ़े के बटवारे का नियंत्रण और निरीक्षण अपने हाथ में ले लिया। बचत-कोष में काफ़ी रक़म जमा हो जाने पर मुनाफ़े का कुछ हिस्सा सभासदों को, बाँटे जाने और उसकी दस फ़ी-सदी तक रक़म दान-धर्म में दी जाने की व्यवस्था की गई। (च) 'सहकारी'-शब्द का प्रयोग केवल उन्हीं समितियों के संबंध में किया जाने का नियम हुआ, जिनकी रजिस्टरी हो चुकी हो।

ब्रिटिश भारत में, और देशी रियासतों में भी, सहकारी समितियों की संख्या क्रमशः बढ़ने लगी—ख़ासकर किसानों में इनका अधिक प्रचार हुआ। सन् १६१४ ई० में सरकार ने सहकारिता-संबंधी सब विषयों की जाँच कराने के लिए सर एडवर्ड मेकलेगन के सभापतित्व में एक कमेटी क़ायम की। इस कमेटी ने, अपनी सन् १६१५ ई० की रिपोर्ट में, यह राय दी कि नई समितियाँ खोलते समय सदस्यों को सहकारिता के मुख्य सिद्धांत ध्यान में रखने चाहिए।

सन् १६१६ ई० के शासन विधान के अनुसार सहकारिता का विषय प्रांतीय सरकारों को हस्तांतरित विषयों में कर दिया गया। प्रांतीय सरकारों को यह अधिकार हो गया कि वे सहकारिता के सन् १६१२ ई० के क़ानून को अपनी आवश्यकताओं तथा परिस्थिति के अनुसार व्यवहृत करें। बंबई प्रांत की सरकार ने सन् १६२५ ई० में, और मदरास ने सन् १६३२ ई० में अपने प्रांत के लिए सहकारिता का पृथक् क़ानून

बना लिया; बिहार, संयुक्त-प्रांत और मध्य-प्रांत की सरकारों ने भी अपने-अपने प्रांत के लिए सन् १९१२ ई० के सहकारिता-क़ानून में कुछ संशोधन किया। कई प्रांतों में सहकारिता-जाँच-समितियों ने अपने अपने प्रांत की स्थिति का सम्यग् निरीक्षण करके आवश्यक सुधारों का प्रस्ताव किया। सन् १९२६ ई० के शाही कृषि-कमीशन की सिफारिशों, तथा 'सेंट्रल बैंकिंग इंक्वायरी कमेटी' की अधीनता में नियुक्त प्रांतीय कमेटियों की जांच के फल-स्वरूप भी कुछ सुधार हुए हैं। भिन्न-भिन्न प्रांतों के कृषि-विभाग भी सहकारिता के सिद्धांतों के प्रचार में योग दे रहे हैं।

सेंट्रल और प्रांतीय सहकारी बैंक—सहकारी साख-समितियों की केंद्रीय संस्था 'सेंट्रल बैंक' कहलाती है। ये बैंक एक ज़िले या उसके किसी हिस्से की सहकारी समितियों की सहायता करते हैं। ये ब्रिटिश भारत के भिन्न-भिन्न प्रांतों में हैं। कुछ सेंट्रल बैंक देशी रियासतों में भी हैं। इनका प्रधान कार्यालय बहुधा-ज़िले के सदर-मुकाम में होता है। ये प्रायः परिमित देनदारी का व्यवहार रखते हैं, और इनकी पूँजी हिस्सों (शेयरों) द्वारा प्राप्त होती है। इनके सदस्य, सहकारी समितियों के अतिरिक्त अन्य व्यक्ति भी हो सकते हैं। ये सर्व-साधारण की अमानतें, मामूली सूद पर जमा करते हैं। ये अपने जिले की ग्राम-सहकारी-समितियों को, कुछ अधिक ब्याज पर, रुपया उधार देते हैं। इन्हें जो लाभ रहता है, उसे निर्धारित नियमों के अनुसार अपने हिस्सेदारों में बाँट देते हैं। सेंट्रल बैंक और ग्राम-सहकारी समितियों के बीच कहीं-कहीं 'गारंटी-यूनियन' होते हैं, जो अपनी सिफ़ारिश से समितियों को सेंट्रल बैंक द्वारा ऋण दिलाते हैं।

कुछ प्रांतों में प्रांतीय सहकारी बैंक हैं। ये सेंट्रल बैंकों की सहायता तथा नियंत्रण करते हैं। प्रांतीय बैंकों में आदमी अपनी अमानतें मामूली ब्याज पर जमा कर देते हैं; ये बैंक इंपीरियल बैंक तथा मिश्रित पूँजी के

बैंकों से रुपया उधार भी लेते हैं। सेंट्रल बैंकों को रुपया उधार देने के अतिरिक्त ये बैंक अन्य बैंकिंग व्यवसाय भी करते हैं, यथा लोगों की, अन्न आभूषण आदि संपत्ति गिरवी रखकर रुपया उधार देना, तथा चेक और हुंडी का भुगतान आदि।

सहकारी बैंकों का प्रबंध प्रायः स्थानीय आदमी ही करते हैं। वे अपनी सेवाओं के लिए कुछ नहीं लेते। इन बैंकों की आय पर सरकार कोई टैक्स आदि नहीं लेती। यदि कोई किसान किसी सहकारी बैंक का ऋण अदा न कर सके, तो सरकारी लगान दे चुकने पर बैंक का अधिकार किसान की जायदाद पर अन्य सब लेनदारों से पहले होता है।

इन बैंकों से निम्न-लिखित कई लाभ हैं— (१) ये ग़रीब किसानों को कम सूद पर आवश्यक पूँजी दे सकते हैं। (२) ये बैंक केवल उत्पादक कार्यों के लिए ही उधार देते हैं, इसलिए इनसे धन लेकर किसान लोग फ़िजूल-ख़र्ची नहीं कर सकते। (३) नालिश और दीवानी मुक़दमों में ख़र्च किए जानेवाले देश के लाखों रुपयों की प्रतिवर्ष बचत हो सकती है। (४) सरकारी नौकरों, शिल्पकारों, किसानों और मज़दूरों की बचत इन बैंकों में रक्खी जा सकती है। इनमें ब्याज अधिक मिलता है, और धन के खो जाने का भय कम होता है। (५) इन बैंकों से जन-साधारण में पारस्परिक विश्वास और सहायता के भावों की वृद्धि के साथ-ही-साथ दूरदर्शिता और मितव्ययिता आदि गुणों का भी विकास होता है। (६) इन बैंकों से कृषि, शिल्प, पुस्तकालयों, पाठशालाओं, सफ़ाई, अच्छे मकानों और सुंदर पशुओं की उन्नति और वृद्धि हो सकती है।

सहकारी समितियों और बैंकों का प्रधान उद्देश्य है, भारतीय किसानों की क़र्ज़दारी दूर करना और उन्हें आर्थिक सहायता देना।

यद्यपि इनके क्षेत्र में वृद्धि हो रही है, तथापि ये भारतवर्ष-भर की आवश्यकताओं की कहाँ तक पूर्ति करती हैं, यह विचारणीय है। सन् १९३२-३३ ई० में इनकी, तथा इनके सदस्यों की संख्या क्रमशः लगभग एक लाख और ४३ लाख थी। समिति की सहायता, सभासद के अतिरिक्त, कुछ अंश में उसके कुटुंब को भी मिलती है, अब यदि एक कुटुम्ब में पाँच आदमियों का औसत माना जाय तो कुल सहकारी समितियों द्वारा ढाई करोड़ से भी कम आदमियों का थोड़ा-बहुत हित-साधन होता है। अतः भारतीय किसानों की संख्या देखते हुए अभी इन समितियों और बैंकों की संख्या बहुत कम है। देश के शुभचिंतकों को इनकी वृद्धि का भरसक प्रयत्न करना चाहिए।

भूमि-बंधक बैंक—अब हम सहकारी बैंकों के एक और भेद का—भूमि-बंधक बैंक का—वर्णन करते हैं। पहले बताया जा चुका है कि यहाँ अधिकांश किसानों की आर्थिक अवस्था बहुत ख़राब है। उन्हें समय-समय पर ऋण लेना होता है। कुछ ऋण की तो उन्हें खेती-बाड़ी, खाद, बीज आदि के लिए, अथवा अपने परिवार के भरण-पोषण के वास्ते ज़रूरत होती है। यह ऋण थोड़े समय के लिए ही आवश्यक होता है, अतः सहकारी समितियाँ यह ऋण दे सकती हैं, चाहे वे वर्तमान अवस्था में यथेष्ट परिमाण में न दे सकें। किसानों को, इसके अतिरिक्त, कुछ ऋण की, अधिक समय के लिए भी आवश्यकता होती है; उदाहरणवत् पुराना ऋण चुकाने के वास्ते, भूमि की चकबंदी करने, उसे उपजाऊ बनाने, और बैल या क़ीमती यंत्र आदि ख़रीदने के वास्ते। इन कार्यों के लिए, अधिक समय का ऋण सहकारी साख-समितियाँ या बैंक नहीं दे सकते, कारण, ऐसा करने में व्यक्तिगत साख का महत्त्व विस्मरण होने की संभावना रहती है; दूसरे, उक्त समितियों तथा बैंकों के पास डिपाज़िट (अमानत) थोड़े समय के लिए होती है, और,

थोड़े समय के लिए जमा किए हुए रुपए से दीर्घ-कालीन ऋण देना जोखिम का काम है; तीसरे, दीर्घ-कालीन ऋण देने के वास्ते संपत्ति की ज़मानत लेते समय उसके मूल्य को आंकने तथा उसके स्वामित्व की जाँच करने के लिए विशेष अनुभवी कार्यकर्ताओं की आवश्यकता होती है, जो ग्राम-सहकारी-समितियों के पास नहीं होते। इनके अतिरिक्त एक बड़ी कठिनाई यह है कि सदस्यों के ऋण न चुकाने पर समिति की पूँजी फँस जाती है, और समिति को सदस्य के विरुद्ध डिगरी कराकर उस भूमि को नीलाम कराना होता है। यह क़ानूनी काम समिति अच्छी तरह नहीं कर सकती। इससे स्पष्ट है कि सहकारी साख समितियाँ किसानों को अधिक समय के लिए ऋण नहीं दे सकतीं। इस कार्य के वास्ते भूमि-बंधक बैंक अधिक उपयुक्त हैं, जो कृषि-योग्य भूमि को रहन रखकर बीस-तीस वर्ष या इससे भी अधिक अवधि के लिए रुपया उधार दें, और पीछे उस रक़म को, बहुत साधारण ब्याज सहित, छोटी-छोटी किश्तों में वसूल करें।

ये बैंक ऐसी छोटी-छोटी रक़मों के डिबेंचरों (ऋण-पत्रों) द्वारा पूँजी संग्रह करते हैं; जिन्हें साधारण स्थिति के आदमी ख़रीद सकें। ये बैंक तीन प्रकार के होते हैं:—(१) सहकारी, (२) अर्द्ध सहकारी, और (३) ग़ैर-सरकारी। ब्रिटिश भारत के सब प्रांतों में अभी कुल भूमि-बंधक बैंक केवल ६४ हैं, इनमें से भी ४२ अकेले मदरास प्रांत में हैं। इन को पूर्णतः सहकारी नहीं कहा जा सकता, ये अर्द्ध-सहकारी हैं, कारण, यद्यपि इनके अधिकतर सदस्य इनसे ऋण लेनेवाले व्यक्ति होते हैं, कुछ सदस्य ऐसे भी होते हैं—जो ऋण लेनेवाले नहीं होते। इन सदस्यों को बैंक के प्रबंध में सहायता पहुँचाना तथा पूँजी आकर्षित करने के लिए, बड़े व्यापारियों आदि में से लिया जाता है। ये बैंक परिमित देनदारी के होते हैं, ये लाभ का लक्ष्य रखकर, काम नहीं करते, वरन् सूद की दर घटाने का प्रयत्न करते हैं।

इन बैंकों की उन्नति और सुधार के किए सन् १९२६ ई० में रजिस्ट्रार सम्मेलन ने एक योजना का प्रस्ताव किया था। उसकी मुख्य बातें ये हैं:—(१) भूमि-बंधक बैंक का उद्देश्य यह हो—किसानों की भूमि ऋण-मुक्त करना; भूमि की तथा खेती-बाड़ी के धंधे की उन्नति करना तथा किसानों के लिए मकान बनवाना; पुराना ऋण चुकाना; और भूमि ख़रीदने के लिए रुपया देना। (२) बैंक का कार्य-क्षेत्र यथा-संभव छोटा होना चाहिए। (३) ऐसा नियम न होना चाहिए कि ऋण केवल साख-समितियों को ही दिया जाय; हाँ, यदि ऋण लेने-वाला व्यक्ति साख-समिति का सदस्य हो, तो उसके विषय में समिति का मत ले लिया जाय, किंतु समिति पर उसका कोई दायित्व न हो। (४) सदस्य को उसकी संपत्ति के मूल्य के आधे से अधिक ऋण न दिया जाय। प्रत्येक सदस्य बैंक का हिस्सा ख़रीदे, जिससे बैंक के पास अपनी निज की पूँजी होजाय, जिसकी ज़मानत पर बैंक को बाहर से पूँजी मिल सके। (५) प्रत्येक प्राँत के सब भूमि-बंधक बैंकों का एक संगठन हो, और एक केन्द्रीय संस्था स्थापित की जाय। केवल केन्द्रीय संस्था ही डिबैंचर (ऋण-पत्र) बेचे, पृथक्-पृथक् भूमि-बंधक बैंक न बेचें। इस योजना को यथेष्ट रूप में व्यवहृत किया जाना चाहिए।

कुछ देशों में भूमि-बंधक बैंकों को यह क़ानूनी सुविधा प्राप्त है कि यदि किसान अपनी प्रतिज्ञानुसार इनका रुपया न चुकावें तो बैंक बिना अदालती कार्रवाई किए ही, रहन रखी हुई भूमि पर अधिकार कर लें और उसे बेच दें। सहकारिता-वादियों का मत है कि भारत-वर्ष में भी इन बैंकों की सफलता के वास्ते इन्हें ऐसा अधिकार मिलने की आवश्यकता है।* अस्तु, सहकारी बैंकों के बाद, अब हम डाकख़ानों के सेविंग-बैंकों का विचार करते हैं।

---

* 'भारतीय सहकारिता आंदोलन' के आधार पर।

पोस्ट-आफ़िस सेविंग बैंक—यद्यपि जनता की बचत का रुपया जमा करने का खाता कुछ अन्य बैंकों ने भी खोल रक्खा है, बचत जमा करने का कार्य विशेषतया डाकखानों के सेविंग-बैंक करते हैं। सरकारी सेविंग-बैंक पहले बंबई, कलकत्ता और मद्रास में थे, ये सन् १८३३ और १८३५ ई० के बीच में स्थापित हुए थे। सन् १८७० ई० में कुछ चुने हुए खज़ानों से संबंधित ज़िला-सेविंग बैंक खोले गए। डाकख़ाने के सेविंग-बैंक सन् १८८२ ई० और सन् १८८३ ई० में, भारतवर्ष के भिन्न-भिन्न स्थानों में, खोले गए। तब से ये ही सरकारी सेविंग बैंकों का काम करने लगे। सन् १८८६ ई० में इनमें ज़िला-सेविंग-बैंकों का हिसाब मिला दिया गया। सन् १८९६ ई० में प्रेसिडेंसी-सेविंग-बैंकों का काम भी इन्हीं में मिल गया।

सन् १९१३ ई० में बहुत-से मिश्रित पूँजीवाले बैंकों के फ़ेल होजाने से उनका बहुत-सा रुपया इन सेविंग बैंकों में खिंच आया। सरकार ने भी इनमें जमा करनेवालों को कुछ विशेष सुविधाएँ दीं। इससे इन बैंकों की जमा की रक़म में उस वर्ष विशेष वृद्धि हुई। यों भी इन बैंकों का काम क्रमशः बढ़ रहा है। शहर और कस्बे की तो बात ही क्या बहुत से बड़े-बड़े गावों के डाकखानों में भी सेविंग बैंक का काम होता है। इनमें छोटी-छोटी रकमें अधिक जमा होती हैं। ३१ मार्च १९२६ ई० को इन बैंकों में पैंतीस लाख आदमियों का हिसाब था, और उनमें कुल मिलाकर ६७ करोड़ से अधिक रुपया जमा था। यह ठीक है कि अधिकांश जनता की आर्थिक स्थिति अच्छी न होने से उनकी, बचत जमा करने की विशेष सामर्थ नहीं, तथापि इन बैंकों में जमा की रक़म बढ़ने की गुंजायश है।

मिश्रित पूँजीवाले बैंक—मिश्रित पूँजी की कंपनियों के संबंध में पहले लिखा जा चुका है। भारतवर्ष में मिश्रित पूँजी के बैंक

('जॉयँट-स्टाक-बैंक') विशेषतया पिछले तीस वर्षों ही में अधिक हुए हैं। सन् १६०५ ई० से यहाँ औद्योगिक कार्यों की ओर विशेष ध्यान दिए जाने के कारण, इनकी अच्छी उन्नति होने लगी है। इन्होंने साल-भर या अधिक समय के लिए जमा की हुई रक़मों पर ५-६ फ़ी-सदी सूद देना स्वीकार किया, इसलिए मध्य श्रेणी के जो आदमी अपनी बचत का रुपया सेविंग-बैंकों में जमा करते थे, उनका ध्यान उस रुपए को इन बैंकों में जमा करने की ओर आकृष्ट हुआ।

सन् १६१३ ई० में इन बैंकों में से बहुतों का दिवाला निकल गया। इनसे अनेक आदमियों पर बड़ी विपत्ति आगई, और कुछ समय के लिए जनता का बैंकों पर से विश्वास उठ जाने के कारण, इनकी उन्नति रुक गई। इन बैंकों के फ़ेल हो जाने के मुख्य कारण ये थे—(१) बहुत-से बैंकों के संचालक बैंक-कार्य से अनभिज्ञ थे, और इसलिए उनकी यथेष्ट देख-भाल नहीं कर सकते थे। (२) कुछ संचालक बहुत चालाक थे, और अपना मतलब साधने में लगे हुए थे। (३) हिसाब-किताब ठीक नहीं रक्खा गया, और सुरक्षा का विचार किए बिना ही ऋण दिया गया। प्रेसिडेंसी-बैंक अपनी देनदारी का ३३ फ़ी-सदी धन नक़द जमा रखते थे, और एक्सचेंज-बैंक २० फ़ी-सदी; परंतु इन मिश्रित पूँजीवाले बैंकों ने १५-१६ फ़ी-सदी से अधिक जमा नहीं रक्खा। (४) बैंकों का बहुत-सा धन ऐसे कामों में लगा दिया गया, जहाँ से वह समय पर, सुगमता से, नहीं मिल सकता था। (५) कुछ मैनेजर सट्टे-फाटके में लग गए, या उन्होंने लोगों से ऊँचे ब्याज पर रुपया लेकर उसे ऐसी संस्थाओं की सहायता में लगा दिया, जिनका लाभ संदिग्ध था। (६) मूल-धन में से शेयर-होल्डरों को डिविडेंड (लाभांश) दिए गए, और हिसाब में गड़बड़ी करके इस बात को छिपाया गया। (७) योरपियन बैंक इन बैंकों से ईर्षा करते थे। उनका भी इनके फ़ेल होने में हाथ था। (८) सरकार ने संकट के समय योरपियन बैंकों की सहायता

की, परंतु जब देशी बैंकों की सहायता का प्रश्न आया, तो वह किसी-न-किसी बहाने से अलग बैठी रही।

बैंकों के फ़ेल होने से लाभ भी हुआ। जनता को इनकी सच्ची हालत मालूम हो गई। इन बैंकों के प्रबंध, हिसाब, कार्यकर्ताओं की कुशलता तथा निरीक्षण आदि की त्रुटियों पर प्रकाश पड़ गया। बहुत-सी कंपनियों ने बड़े-बड़े नाम तो रख लिए थे, पर उनकी दशा आरंभ से ही ख़राब थी। उनके पास पूँजी तो कम थी, किंतु काम वे ख़ूब बढ़-चढ़कर करती थीं। उनके दिवाले निकलने के बाद कुछ बातों में क्रमशः सुधार हुआ।

पहले बैंकों की रजिस्ट्री सन् १८८२ ई० के क़ानून के अनुसार होती थी। दिवालिए बैंकों का अनुचित व्यवहार देखकर सरकार ने वह क़ानून रद् कर दिया, और सन् १९१३ ई० का 'इंडियन कंपनीज़ ऐक्ट' नामक क़ानून बनाया; इस कानून की कुछ मुख्य बातें ये हैं— (१) पुरानी कंपनियों को भी इस क़ानून की पाबंदी करनी होगी। (२) रजिस्ट्री कराने के पहले संस्थापक-हिस्सेदारों और संचालकों की सूची रजिस्ट्रार को देनी होगी। (३) यदि कंपनी किसी पत्र में अपनी कुल पूँजी का विज्ञापन दे, तो उसके साथ यह भी दिखाना होगा कि कितनी पूँजी के हिस्से बिके, और उनसे कितना रुपया मिला। (४) जितनी पूँजी के हिस्से बिकने पर काम करने का विचार किया गया हो, उतने हिस्से जब बिक जायँ, और संचालक भी अपने हिस्सों का कुल रुपया अन्य लोगों की भाँति दे दें, तब काम शुरू हो। (५) हिस्सेदारों के नाम और उन्हें दिए हुए हिस्सों का लेखा रजिस्ट्रार को भेजा जाता रहे। (६) बैंकों के लेनी-देनी के लेखे (बैलेंस-शीट) पर हिसाब जाँचनेवाले के अतिरिक्त, मैनेजर और तीन संचालकों के भी हस्ताक्षर हों। (७) बैंक साल में दो बार हिसाब बनाकर अपने रजिस्टर्ड आफ़िस में ऐसी जगह टाँगे, जहाँ सब

आदमी उसे देख सकें। (८) कंपनी का हिसाब जाँचनेवाला ऐसा ही व्यक्ति हो, जिसके पास सरकार की दी हुई इस विषय की सनद हो।

इस क़ानून से कुछ सुधार हुआ, किंतु यथेष्ट नहीं। सन् १९२३ ई० में एलाइंस बैंक का दिवाला निकल गया। यह एक बड़ा और पुराना बैंक था; इसका मूल-धन लगभग १ करोड़ रु० था। इसके रिज़र्व-फ़ंड में ४० लाख रुपया था, और जन-साधारण की जमा लगभग ६ करोड़ थी। इसका दिवाला निकल जाने से बहुत-से आदमियों को—ख़ासकर अँगरेज़ों को—बहुत नुक़सान हुआ। इस बैंक के फ़ेल होने का प्रभाव बहुत बुरा न पड़े, इस विचार से सरकार ने इसमें जमा करनेवालों को, उनकी जमा का आधा रुपया इंपीरियल बैंक द्वारा दिलाने की व्यवस्था की। यदि १९१३ ई० में भी सरकार इसी प्रकार बैंकों की यथेष्ट सहायता करती, तो उनके फ़ेल होने की संभावना कम होती, और देश एक बड़े आर्थिक संकट से बच जाता।

सन् १९३३ ई० में मिश्रित पूँजी के ऐसे बैंक ८४ थे, जिन की प्राप्त पूँजी और सुरक्षित धन (रिज़र्व) कम-से-कम एक-एक लाख रुपए था। इन बैंकों की कुल प्राप्त-पूँजी और सुरक्षित धन १२४४ लाख, जमा ('डिपाज़िट') ७६३२ लाख, और नक़द रोकड़ बाक़ी ११७१ लाख रुपए थी। इन बैंकों के व्यवसाय का परिमाण क्रमशः बढ़ रहा है।

इंपीरियल बैंक—ता० २७ जनवरी, सन् १९२१ ई० को बंगाल, बंबई और मंदरास के प्रेसीडेंसी बैंकों के एकीकरण से भारतवर्ष में इंपीरियल बैंक की स्थापना हुई। इसका काम-काज और उपयोगिता समझने के लिए उक्त प्रेसीडेंसी बैंकों के संबंध में कुछ बातें जान लेनी चाहिए। सन् १८०६ ई० में, कलकत्ते में 'बैंक ऑफ़ कलकत्ता'-नामक बैंक खोला गया था। सन् १८०९ ई० में उसे चार्टर (अधिकार-पत्र)

मिला, और उसका नाम 'बैंक ऑफ़ बंगाल' रक्खा गया। सन् १९२० ई० में उसकी बंगाल, पंजाब और संयुक्त-प्रांत में २६ शाखाएँ थीं। बंबई और मदरास के बैंक क्रमशः सन् १८४० और सन् १८४३ ई० में स्थापित हुए। सन् १८६८ ई० में बंबई-बैंक को कपास के सट्टे में बहुत हानि उठानी पड़ी, और उसका दिवाला निकल गया। उसी वर्ष एक करोड़ की पूँजी से उसी नाम के दूसरे बैंक की स्थापना हुई। सन् १९२० ई० में मदरास-बैंक की २६ और बंबई-बैंक की १८ शाखाएँ थीं। प्रसिडेंसी बैंकों की सब शाखाएँ, एकीकरण के पश्चात्, इंपीरियल बैंक की शाखाएँ हो गईं। इंपीरियल बैंक का कुल मूल-धन सवा ग्यारह करोड़ रुपया रक्खा गया।

भारत के अन्य प्रकार के सब बैंकों में, पहले उपर्युक्त प्रेसीडेंसी बैंकों का स्थान सबसे ऊँचा रहता था; क्योंकि इनके पास सरकार का बहुत-सा रुपया जमा रहता था, और इन्हें जोखिम का काम करने की अनुमति नहीं थी। सन् १८६२ ई० तक इन्हें नोट निकालने का भी अधिकार रहा। इसके अतिरिक्त सन् १८७६ ई० तक भारत-सरकार इन बैंकों की साझीदार थी, उसने इनके शेयर ख़रीदे थे, और इनके संचालकों के चुनाव में भी वह भाग लेती थी। आवश्यकता पड़ने पर बंबई-बैंक से काफ़ी रुपया न मिलने पर सरकार को, सन् १८७६ ई० में, अपनी नीति बदलनी पड़ी। उस वर्ष से सरकार ने इन तीनों बैंकों के पास कम-से-कम एक निश्चित परिमाण तक अपना रुपया बिना ब्याज जमा रखने, और यदि उससे कम रुपया जमा हो, तो जितना कम हो, उस पर ब्याज देने, की ज़िम्मेदारी ली। बदले में इन बैंकों को सरकार के कई काम करने पड़ते थे। सरकारी ऋण-संबंधी सब हिसाब भी ये ही रखते थे। जिन शहरों में इनकी शाखाएँ थीं, वहाँ सरकारी लेन-देन भी इन्हीं के द्वारा होता था, सरकारी ख़ज़ाना अलग

नहीं रहता था। इंपीरियल बैंक स्थापित हो जाने के बाद, सरकार के उपर्युक्त कार्य इस बैंक द्वारा किए जाने लगे।

भारत कृषि-प्रधान देश है, और यहाँ के निर्यात का अधिकांश भाग कच्चा माल है। अतएव निर्यात का व्यापार वर्ष के ख़ास-ख़ास महीनों में, ख़ास-ख़ास स्थानों में, तेज़ हो जाता है। उसके बाद वह मंदा पड़ जाता है। व्यापार की तेज़ी के समय व्यापारियों और रोज़गारियों को द्रव्य की बहुत आवश्यकता होती है, और वे बैंकों से रुपया उधार माँगते हैं। अतएव उन दिनों प्रेसिडेंसी-बैंकों में रुपया कम हो जाता था। अतः वे अपने बैंक-रेट को, अर्थात् सूद की दर को, बढ़ा देते थे। ठीक उन्हीं दिनों सरकारी ख़ज़ानों में—कलकत्ता बंबई और मदरास के रिज़र्व-ट्रेज़रियों या रक्षित-द्रव्य-कोषों* में—रुपया बहुत भरा रहता था; कारण, मालगुज़ारी उसी समय वसूल की जाती थी। इंपीरियल बैंकों की स्थापना हो जाने पर ये कोष तोड़ दिए गए और सब सरकारी रुपया इंपीरियल बैंक में रक्खा जाने लगा। इस तरह यह बैंक, व्यापार की तेज़ी के समय, उस रुपए को उपयोग में लाने लगा, और बैंक-रेट में भी पहले के समान वृद्धि होना बंद हो गया।

संगठन, और सरकार से संबंध—तीनों प्रेसिडेंसी-बैंकों के संचालकों के बोर्ड इंपीरियल बैंक के तीन स्थानीय बोर्डों में परिणत किए गए हैं। इंपीरियल बैंक के कार्य को सुव्यवस्थित रूप से चलाने के लिए एक 'सेंट्रल बोर्ड' है। इसका दफ़्तर किसी ख़ास जगह पर नहीं रहता। इसके अधिवेशन बारी-बारी से कलकत्ता, बंबई और मदरास

---

* इनकी स्थापना सरकार ने सन् १८७६ ई० में प्रेसीडेंसी-बैंकों के, अपने शेयर बेचकर की थी। इनमें सरकार का रक्षित धन (रिज़र्व) रक्खा जाता था।

में होते हैं। बोर्ड के कुल १६ सभासद ('गवर्नर') होते हैं। उनमें से ६ सभासद तो तीनों स्थानीय बोर्डों के सभापति, उपसभापति, और सेक्रेटरी होते हैं (ये शेयर-होल्डरों के प्रतिनिधि होते हैं), ४ सदस्य सरकार द्वारा नियुक्त होते हैं, और दो मेनेजिंग गवर्नर होते हैं, जिन्हें सेंट्रल बोर्ड की सिफारिश पर, भारत-सरकार ही नियुक्त करती है। गवर्नरों की इस नियुक्ति के अतिरिक्त भी सरकार का इस बैंक के कार्य पर नियंत्रण है। गवर्नर-जनरल इस बैंक को ऐसे हर एक विषय में चेतावनी दे सकता है, जो उसकी सम्मति में सरकारी अर्थ-नीति पर विशेष प्रभाव डालनेवाला हो।

इंपीरियल बैंक की, देश के भिन्न-भिन्न भागों में लगभग पौने दो सौ शाखाएँ हैं। सन् १९३४ ई० तक यही भारतवर्ष का सबसे बड़ा बैंक था। यह बैंक सरकार के बैंकिंग संबंधी कार्य का एक-मात्र अधिकारी था, यह तमाम सरकारी अमानतों को बिना व्याज जमा करता था, जहाँ-जहाँ इसकी शाखाएँ थीं, वहाँ सरकारी कोषाध्यक्ष का कार्य संपादन करता था और सरकार के खाते जमा होनेवाली रक़में सर्व-साधारण से वसूल करता था। यह भारत-सरकार के सार्वजनिक ऋण का प्रबंध करता था।

रिज़र्व बैंक से संबंध—सन् १९३४ ई० में, यहाँ भारतवर्ष के सर्वोच्च केंद्रीय बैंक के रूप में, रिज़र्व बैंक स्थापित हुआ; इसके संबंध में आगे लिखा जायगा। अब इंपीरियल बैंक ब्रिटिश भारत के उन स्थानों में रिज़र्व बैंक का एक-मात्र एजेंट होगा, जहाँ रिज़र्व बैंक की कोई शाखा न हो, और इंपीरियल बैंक की शाखा हो। इस कार्य के लिए रिज़र्व बैंक इंपीरियल-बैंक को दस वर्ष तक प्रथम २५० करोड़ रुपए के लेन-देन पर $\frac{१}{१६००}$ भाग, और उसके उपरांत शेष लेन-देन पर $\frac{१}{३२००}$ भाग,

पारिश्रमिक के रूप में दिया करेगा। दस वर्ष के बाद इसके संबंध में जाँच होकर, पाँच-पाँच वर्ष के लिए पारिश्रमिक निर्धारित हुआ करेगा। रिज़र्व बैंक की स्थापना के समय इंपीरियल बैंक की जितनी शाखाएँ थीं, उतनी शाखाएँ इसे जारी रखनी होगी। इस कार्य के लिए रिज़र्व बैंक इंपीरियल बैंक को प्रथम पाँच वर्ष तक प्रति वर्ष ९ लाख रुपए, पश्चात् पाँच वर्ष तक प्रति वर्ष ६ लाख रुपए, और बाद में पाँच वर्ष तक प्रति वर्ष ४ लाख रुपए देगा। यदि इंपीरियल बैंक अपनी किसी शाखा के बदले दूसरी शाखा स्थापित करेगा तो उसे रिज़र्व बैंक की अनुमति लेनी होगी।

रिज़र्व बैंक की स्थापना और संगठन—इस बैंक की स्थापना का विचार कई वर्ष से था, अंततः इसका क़ानून सन् १९३४ ई० में बनाया गया। यह शेयर-होल्डरों का बैंक है। भारतीय जनता के प्रतिनिधि चाहते थे कि इसे 'स्टेट-बैंक' (राजकीय बैंक) बनाया जाय, (क्योंकि हिस्सेदारों का बैंक होने से उस पर अधिकांश में विदेशी पूँजी-पतियों, और कुछ भारतीय पूँजीपतियों का नियंत्रण रहेगा), पर उनकी इच्छा पूरी न हुई। इस बैंक की हिस्सा-पूँजी पाँच करोड़ रुपया है। एक-एक हिस्सा सौ-सौ रुपए का है, पाँच हिस्से लेनेवाले को एक मत का अधिकार होता है, और एक हिस्सेदार के अधिक से अधिक दस मत हो सकते हैं। हिस्सेदारों के लिए भारतवर्ष और बर्मा को पाँच क्षेत्रों में विभक्त किया गया है, जिनके केंद्रीय स्थान बंबई, कलकत्ता, देहली, मदरास और रंगून हैं। इन पाँच स्थानों में इस बैंक के कार्यालय हैं। प्रत्येक कार्यालय में उस के क्षेत्र के हिस्सेदारों का रजिस्टर रहता है। उक्त स्थानों के अतिरिक्त बैंक की एक शाखा लंदन में खोली गई है। विदेशों में, किसी अन्य स्थान में इस बैंक की शाखा या एजंसी गवर्नर-जनरल की स्वीकृति से ही खोली जा सकती है।

बैंक का निरीक्षण और संचालन 'सेंट्रल-बोर्ड'-नामक कमेटी द्वारा होता है। इसमें निम्नलिखित संचालक ('डायरेक्टर') होते हैं:—(क) एक गवर्नर और दो डिप्टी-गवर्नर; इनकी नियुक्ति बोर्ड की सिफ़ारिश पर गवर्नर-जनरल करता है; ये अधिक-से-अधिक पाँच वर्ष के लिए अपने पद पर रहते हैं। (ख) चार संचालक, जिन्हें गवर्नर-जनरल नामज़द करता है, और, (ग) आठ संचालक, जो भिन्न-भिन्न क्षेत्रों के हिस्सेदारों द्वारा इस हिसाब से चुने जाते हैं:—बंबई २, कलकत्ता २, देहली २, मदरास १, और, रंगून १। इन आठ संचालकों को प्रथम बार गवर्नर-जनरल ने नामज़द किया। इनमें से क्रमशः दो-दो का निर्वाचन प्रति वर्ष निर्धारित रीति से होता रहेगा, जब तक कि आठों का निर्वाचन न होने लग जाय। बोर्ड के गवर्नर और डिप्टी-गवर्नर के वेतन, भत्ते और कार्य-काल का निश्चय गवर्नर-जनरल करता है।

बंबई, कलकत्ता, देहली, मदरास और रंगून में एक-एक स्थानीय बोर्ड, स्थानीय कार्य के लिए रहता है। स्थानीय बोर्ड के सदस्यों में से पाँच उस क्षेत्र के हिस्सेदारों में से, उनके द्वारा ही निर्वाचित होते हैं, और तीन सदस्य सेंट्रल बोर्ड द्वारा नामज़द होते हैं।

रिज़र्व बैंक के कार्य—इस बैंक के विशेषतया निम्नलिखित कार्य हैं:—(१) आवश्यकतानुसार नोट जारी करना (अब सरकार का मुद्रा-विभाग पृथक् नहीं है)। (२) भारत-सरकार, प्रांतीय-सरकारों और देशी राज्यों तथा किसी व्यक्ति के रुपए बिना ब्याज जमा करना। (३) निर्धारित नियमों के अनुसार, अधिक से अधिक तीन मास की हुंडी सकारना। (४) देशी राज्यों, और स्थानीय-स्वराज्य-संस्थाओं को तथा अन्य बैंकों को सिक्यूरिटियों, हुंडियों, या सोना-चाँदी की जमानत पर, और भारत सरकार तथा प्राँतीय सरकारों को बिना ज़मानत, तीन मास तक के लिए, रुपया उधार देना। (५) भारत सरकार,

प्रांतीय सरकारों, देशी राज्यों, तथा स्थानीय स्वराज्य संस्थाओं के लिए सोना-चाँदी खरीदना और बेचना। (६) सार्वजनिक ऋण का प्रबंध करना। (७) सरकार का लेन-देन संबंधी कार्य करते हुए ब्रिटिश भारत की आर्थिक स्थिरता और साख बनाए रखना, लोगों को निर्धारित दर पर रुपए के बदले स्टर्लिंग, (काग़ज़ी पौंड) और स्टर्लिंग के बदले रुपए देना। (८) निर्धारित नियमों के अनुसार देश के बैंकों का रक्षित धन (रिज़र्व) जमा रखना। (यह बैंकों का बैंक है, इसमें अन्य बैंकों का रुपया जमा रहता है, जिससे आवश्यकता उपस्थित होने पर यह उनकी सहायता कर सके, और उन्हें आर्थिक संकट से बचाए)। (९) सहकारी बैंकों को निर्धारित नियमों के अनुसार, तीन मास तक के लिए रुपया उधार देना, और कृषि-साख विभाग रखना जो कृषि-सहकारी-बैंकों के अधिकारियों और महाजनी संबंधी अन्य संस्थाओं को परामर्श और सहायता दे।

यह बैंक अपना रुपया व्यापार या उद्योग धंधे में नहीं लगा सकता, अपने या किसी अन्य बैंक के शेयर नहीं खरीद सकता न उन शेयरों की ज़मानत पर, अथवा अचल संपत्ति (भूमि, मकान आदि की ज़मानत पर, रुपया उधार दे सकता। यह बैंक मुद्दती हुंडी जारी नहीं कर सकता, और न उन्हें स्वीकार कर सकता है।

रिज़र्व बैंक के संगठन में भारतीय हितों को सुरक्षित रखने तथा बैंक पर भारतीयों का नियंत्रण रहने की व्यवस्था नहीं की गई। हिस्सेदारों या संचालकों के संबंध में ऐसा नियम नहीं है कि उनमें से अधिकांश व्यक्ति भारतीय ही हो सकें। संचालक आरंभ में तो सभी गवर्नर-जनरल द्वारा नियुक्त हुए हैं, और चार संचालक तो चार वर्ष बाद भी उसके द्वारा ही नामज़द होते रहेंगे। यह आशा की गई थी, कि इस बैंक द्वारा कृषि को कुछ विशेष लाभ पहुँचेगा, पर अब तो सरकार भी इस बैंक

की इस विषय संबंधी असमर्थता को स्वीकार कर चुकी है। इस बैंक की स्थापना के क़ानून का मसविदा सरकार द्वारा दो बार वापिस लिया जाकर तीसरी बार क़ानून के रूप में आया है, तो भी जनता की यह आशंका निर्मूल सिद्ध नहीं हुई कि इस बैंक को भारतीय लोकमत से मुक्त रखकर ब्रिटिश सरकार और अंगरेज़ व्यवसाइयों के आदेशानुसार चलाने का विचार है।※

एक्सचेंज-बैंक—एक्सचेंज़ या विनिमय-बैंकों की स्थापना पिछत्तर वर्ष से हुई है। इनका मुख्य कार्य विदेशी व्यापार के लहने-पावने का भुगतान करना है। योरपीय महायुद्ध के समय भारतवर्ष का कई देशों से व्यापारिक संबंध बढ़ने के कारण, उन देशों को यहाँ अपनी शाखाएँ खोलने में प्रोत्साहन मिला; उससे यहाँ इन बैंकों की संख्या बढ़ी। अब इनकी कुल संख्या १६ है, जिनमें से केवल एक भारतीय है। विदेशी बैंकों में से कई-एक का प्रधान कार्यालय लंदन में है, और, शेष का जापान, फ्रांस, जर्मनी, अमरीका आदि देशों में है। दो विदेशी बैंकों का मुख्य कार्य यह है कि विदेश जानेवाले या विदेशों से यहाँ आनेवाले यात्रियों के लेन-देन का भुगतान करें; ये बैंक विदेशी व्यापार के लहने-पावने के भुगतान में विशेष भाग नहीं लेते। शेष बैंकों में से पाँच बैंक तो अपना अधिकांश कारोबार भारतवर्ष में ही करते हैं, और ग्यारह उन बड़ी-बड़ी विदेशी बैंकिंग संस्थाओं की शाखाएँ और एजंसिया-मात्र हैं, जो अपना कारोबार भिन्न-भिन्न देशों में करते हैं। इन बैंकों में से प्रत्येक की कुछ शाखाएँ भारतवर्ष के भिन्न-भिन्न स्थानों में स्थापित हैं।

भारत के बिदेशी एक्सचेंज-बैंक विदेशी व्यापार को सहायता पहुँचाते हैं, भारवर्ष के निर्यात-कर्ताओं से हुंडियाँ खरीदते हैं, और ब्याज काटकर उनका रुपया विलायती बैंकों से, अथवा समय पूरा होने

※ 'भारतीय शासन' (सातवाँ संस्करण) के आधार पर।

पर स्वयं उन व्यापारियों से, ले लेते हैं। ये अपने लंदन के कार्यालयों द्वारा इँगलैंड के निर्यात-कर्ताओं की हुंडियाँ भी मोल लेते हैं। इस प्रकार ये भारतवर्ष के आयात-व्यापार में भी भाग लेते हैं। निर्यात-व्यापार पर तो इनका आधिपत्य-सा है। इन बैंकों द्वारा यहाँ ख़रीदी गई हुंडियों का रुपया इंगलैंड में, और इँगलैंड में ख़रीदी हुई हुंडियों का रुपया यहाँ, मिल जाता है। कभी-कभी जल्दी के लिए तार द्वारा भी काम किया जाता है; इसे 'टेलिग्राफ़िक ट्रांसफ़र' कहते हैं।

विदेशी एक्सचेंज बैंक विदेशी व्यापार को सहायता पहुँचाने के अतिरिक्त अन्य प्रकार का बैंकिंग कार्य भी करते हैं। इन में भारतवासियों की अमानत की रक़म क्रमशः बढ़ती जा रही है। सन् १६३२ ई० में इन में यहाँ के ७३ करोड़ रुपए जमा थे। इस रक़म का बहुत-थोड़ा भाग ये यहाँ रखते हैं, अधिकांश भाग को विदेश भेज कर, स्वयं लाभ उठाने के अतिरिक्त, विदेशी व्यापारियों और कल-कारखाने वालों को लाभ पहुँचाते हैं। जातीय पक्षपात रखने के कारण ये भारतीयों की उच्च पदों पर नियुक्ति भी नहीं करते। इन का लक्ष्य अपना और अपने देश का स्वार्थ-सिद्ध करना होता है, ये भारतीय पूँजी से मन-माना लाभ उठाते हैं। इन पर यथेष्ट सरकारी प्रतिबंध नहीं है।

कुछ समय से बंबई में एक विनिमय बैंक स्थापित हुआ है। यह भारतीय है। इसकी सफलता के लिए यह आवश्यक है कि इसकी शाखाएँ भिन्न-भिन्न देशों में हों। इसमें उसकी यहाँ के विदेशी बैंकों से प्रतियोगिता होती है। सरकार द्वारा उसे समुचित सुविधाएँ मिलनी चाहिए।

बीमा-कंपनियाँ—बैंकों के प्रसंग में बीमा-कंपनियों का भी विचार किया जाना आवश्यक है, कारण, ये लोगों को न केवल सेविंग-

बैंकों की तरह, वरन् उनसे भी अधिक, बचत करने के लिए उत्साहित करती हैं; इसके अतिरिक्त ये जमा की हुई उस बचत के द्वारा उद्योग-धंधा करनेवालों के डिबेंचर (ऋण-पत्र) खरीद कर उनके काम में भी सहायक होती हैं। इन कंपनियों के संबंध में अन्य बातों का परिचय प्राप्त करने से पूर्व यह जान लेना चाहिए कि बीमा क्या होता है, और यह कितने प्रकार का होता है। बीमा किसी वस्तु की सुरक्षा के लिए होता है। उदाहरणार्थ जहाज़ एक देश से दूसरे देश में माल ले जाता है, तो यह शंका रहती है कि वह माल कहीं समुद्र में डूब न जाय। बीमाकंपनी मालियत के अनुसार निर्धारित दर से अपनी फ़ीस लेकर माल का बीमा कर देती है। अब यदि माल डूब जाय तो जितनी कीमत के माल का बीमा किया हुआ होगा, उतनी हानि की पूर्ति कंपनी करेगी। इसी प्रकार, मकान या कारख़ाने आदि का बीमा कराया जाता है, उसमें आग लगने आदि से जितनी रक़म का नुक़सान होता है, उतनी रक़म देने का दायित्व बीमा करनेवाली कंपनी पर रहता है।

जिंदगी का भी बीमा होता है। जो आदमी अपनी जिंदगी का जितने वर्ष का तथा जितने रुपए का बीमा कराना चाहता है, वह उसके नियमों के अनुसार निर्धारित किश्तों में किसी कंपनी में रुपया जमा करता रहता है। बीमे की मियाद पूरी होने पर उसे बीमे की पूरी रक़म तथा निर्धारित सूद या मुनाफ़ा मिल जाता है। बैंक में रुपया जमा करने, और बीमा कराने में अंतर है। बैंक में तो जमा करना न करना, जमा करने वाले की इच्छा पर निर्भर है, पर बीमा करानेवाले को तो निश्चित समय पर किश्त का रुपया जमा करना ही पड़ता है, अन्यथा जमा किए हुए रुपए की हानि की आशंका होती है। फिर बैंक का रुपया तो चाहे जब उठाया जा सकता है, पर बीमे की रक़म तो मियाद पूरी होने पर, पूरी ही मिलती है। इसके अतिरिक्त बैंक में तो जितना रुपया जमा होगा, उतना ही मिलता है,

परंतु यदि बीमा कराने वाले की मृत्यु जल्दी हो जाय तो जितने रुपए का बीमा हुआ होगा, वह पूरी रक़म उसके बाल-बच्चों को मिल जायगी, चाहे बीमे की किश्तों का रुपया कितना ही कम क्यों न जमा हुआ हो। इस प्रकार बीमे में, बैंक की अपेक्षा बचत का रुपया जमा करने की प्रेरणा अधिक होती है।

भारतवर्ष में ज़िंदगी के बीमे की प्रथा आधुनिक समय की है, यह अंगरेज़ी राज्य काल से ही चली है; और, अधिकतर बीमा-कंपनियाँ जीवन-बीमा ही करती हैं। योरप अमरीका आदि में बीमे का प्रचार बहुत अधिक है, वहाँ अनेक प्रकार का बीमा होता है। किसान अपने पशुओं की जिंदगी का, तथा फसल आदि का भी बीमा कराते हैं, अन्य कुछ व्यक्ति अपने नाक, कान, और अंगुलियों तक का बीमा कराते हैं। भारतवर्ष में कुल बीमा-कंपनियाँ लगभग ३०० हैं, इनमें-से आधी के लगभग भारतीय हैं, और शेष विदेशी हैं। भारतीय कंपनियों में से आधी के लगभग अकेले बंबई प्रांत में हैं, और विदेशी कंपनियों में से आधी के लगभग इंगलैंड की हैं। भारतीय बीमा-कंपनियाँ अधिकतर जीवन-बीमा करती हैं, और विदेशी कंपनियाँ जहाज़ों, या आग आदि के बीमे का कार्य करती हैं। पिछली दशाब्दी में बीमा-कंपनियों की संख्या और कार्य में खासी प्रगति हुई है; तथापि अन्य अनेक देशों की तुलना में, तथा भारतवर्ष की जन-संख्या के विचार से स्थिति कुछ संतोष-प्रद नहीं है। कुल भारतीय जीवन-बीमा कंपनियों की पूँजी लगभग तीस करोड़ रुपए हैं, इसका अधिकांश भाग सरकारी सिक्युरिटियों (ऋण-पत्रों) में लगा हुआ है। भारत की विदेशी बीमा-कंपनी अपनी पूँजी का बड़ा भाग विदेशों में उधार दे देती हैं। यदि इन पर ऐसा क़ानूनी प्रतिबंध रहे कि ये अपनी पूँजी का अधिकांश भाग यहाँ ही रखकर कृषि और उद्योग-धंधों की सहायता करें, तो देश का बहुत हित हो।

सुधार के उपाय—भारतवर्ष की बैंकिंग संबंधी संस्थाओं का तथा उन के गुण दोषों का विचार हो चुका। यह स्पष्ट है कि वे संस्थाएँ न तो पर्याप्त ही हैं, और न उनमें राष्ट्र-हित की समुचित व्यवस्था ही है। भारतीय बैंकिंग की उन्नति और सुधार करने के लिए ये बातें आवश्यक हैं:—(१) भारतीय बैंकों की, विदेशी बैंकों की प्रतियोगिता से रक्षा की जाय। क़ानून द्वारा विदेशी बैंकों की वृद्धि और कार्य-विस्तार पर आवश्यक प्रतिबंध हों। (२) ऐसा नवीन बैंक-क़ानून बनाया जाय, जिसमें भारतीय बैंकों का संगठन, प्रबंध और निरीक्षण उचित रूप से होने के नियम हों, और हिस्सेदारों तथा अमानत जमा करने-वालों को अपने हितों की रक्षार्थ आवश्यक अधिकार हों, (३) रिज़र्व बैंक की स्थापना भारतीय हितों का समुचित ध्यान रखकर नहीं की गई है, जब तक इसके क़ानून में यथेष्ट परिवर्तन न हो, इसे इस के वर्तमान नियमों के अनुसार अधिक-से-अधिक उपयोगी बनाया जाय। (४) भारत के विदेशी व्यापार, उद्योग-धंधों और कृषि को आर्थिक सहायता देने के लिए यहाँ स्वदेशी विनिमय-बैंक, औद्योगिक-बैंक, और कृषि-सहायक-बैंक स्थापित हों। (५) भारतीय बैंकों का आपस में, संगठन हो। संकट के समय ये एक-दूसरे के काम आवें, और जब आर्थिक संकट व्यापक हो तो सरकार रिज़र्व बैंक द्वारा उनकी समुचित सहायता करे, और उन्हें फ़ेल होने से बचाए। (६) देशी भाषाओं को अपनाया जाय। प्रत्येक प्रांत के बैंकों का काम उस प्राँत की प्रधान भाषा में हो, राष्ट्र-भाषा हिन्दी सर्वत्र मान्य हो; इंपीरियल बैंक रिज़र्व बैंक और एक्सचेंज-बैंकों के प्रधान कार्यालयों को अंगरेज़ी में कार्य करने की अनुमति हो। (७) भारतीय जनता का भारतीय बैंकों के प्रति पूर्ण विश्वास स्थापित हो, और वह विदेशी बैंकों की अपेक्षा इन्हें अधिक अपनाएं।*

* 'भारतीय बैंकिंग' के आधार पर।

भारतवर्ष की बैंक संबंधी आवश्यकताएँ—भारतवर्ष में बैंकों की आवश्यकया दिन-दिन बढ़ती जा रही है। अपनी बचत का रुपया महाजनों के पास अथवा मिश्रित पूँजीवाले एवं अन्य बैंकों में जमा करने की रुचि लोगों में बढ़ रही है। तथापि यहाँ की आवश्यकताओं को देखते हुए बैंकों की बहुत कमी है। उदाहरणवत् एक खेती का ही विषय लीजिए। भारतवर्ष कृषि-प्रधान देश है, और यहाँ के किसानों को पूँजी की अत्यंत आवश्यकता रहती है। यह होते हुए भी कृषि की सहायता के लिए यहाँ बैंकिंग की क्या व्यवस्था है? एक्सचेंज बैंकों का तो एक-मात्र लक्ष्य विदेशी व्यापार की सहायता करना है। इंपीरियल बैंक, कृषकों से प्राप्त धन से बिना व्याज लाभ उठाता है, तो भी कृषि की उन्नति की ओर उदासीन है। रिज़र्व बैंक भी केवल तीन मास के वास्ते रुपया उधार देने के नियम से, अपनी इस ओर असमर्थता की घोषणा कर रहा है, क्योंकि कृषि के लिए बहुत-सा ऋण बड़ी मियाद के लिए चाहिए। मिश्रित पूँजी के बैंकों का क्षेत्र देशी व्यापार है। सहकारी बैंक ही कृषि के लिए कुछ करते-धरते हैं, पर उन की शक्ति कितनी अल्प है, यह पहले बताया जा चुका है।

यही बात उद्योग-धंधों के संबध में है। यहाँ अधिकतर बड़े-बड़े बैंक विदेशी पूँजी के, और विदेशी प्रबंधवाले हैं। उन का इस ओर ध्यान ही नहीं होता तथा उनसे यह आशा भी नहीं की जा सकती कि वे यहाँ की परिस्थिति से पूर्णतया परिचित हों, और यहाँ की औद्योगिक उन्नति से यथेष्ट क्रियात्मक सहानुभूति रक्खें। अस्तु, यह स्पष्ट है कि देश के आर्थिक उत्थान के वास्ते, विशेषतया कृषि और उद्योग-धंधों के, विशेष प्रकार के बैंकों की अत्यन्त आवश्यकता है। भारतवर्ष के बैंक पाश्चात्य देशों की तुलना में बहुत क्षुद्र-से प्रतीत होते हैं।

इंगलैंड के कई बैंक तो ऐसे हैं कि उनमें-से किसी एक की पूँजी यहाँ के कुल बैंकों की एकत्रित पूँजी से दुगनी-तिगनी है। देश-हितैषी सज्जनों को यहाँ बैंकों की उन्नति तथा प्रचार की ओर यथेष्ट ध्यान देना चाहिए; आर्थिक स्वतंन्त्रता में इस का बड़ा महत्त्व है।

पंचम खंड

विनिमय और व्यापार

सतरहवाँ परिच्छेद

क़ीमत

विनिमय और क़ीमत—विनिमय की आवश्यकता इस पुस्तक के प्रथम खंड में बतलाई जा चुकी है। आधुनिक संसार में विनिमय का कार्य तभी होता है, जब पदार्थों की क़ीमत रुपए-पैसे के रूप में निश्चित हो जाती है। रुपए-पैसे आदि का वर्णन हम चौथे खंड में कर चुके हैं। अब क़ीमत के संबंध में विचार करना है। किसी वस्तु की क़ीमत का उसके बाज़ार से घनिष्ठ संबंध होता है। अतः इस परिच्छेद में पहले बाज़ार का ही विवेचन करते हैं।

पदार्थों का बाज़ार—अर्थ-शास्त्र में किसी पदार्थ के बाज़ार से उस स्थान का ही अभिप्राय नहीं होता, जिसे हम अपनी साधारण बोल-चाल में बाज़ार या मंडी कहते हैं, वरन् उस सारे क्षेत्र से होता है, जिसमें बेचने और ख़रीदनेवालों का ऐसा संबंध हो कि उस क्षेत्र में उस पदार्थ की क़ीमत समान होने की प्रवृत्ति हो। यदि किसी वस्तु का व्यापार संसार के भिन्न-भिन्न देशों में सुगमता-पूर्वक और अल्प व्यय से होता हो, तो उसका बाज़ार तमाम दुनिया हो सकती है। इसे अंतर्राष्ट्रीय बाज़ार

कहते हैं। बाज़ार-भर में किसी एक वस्तु की क़ीमत समान होने की स्वाभाविक प्रवृत्ति रहती है। परंतु क़ीमत बिलकुल समान नहीं होने पाती; क्योंकि भिन्न-भिन्न स्थानों में चीज़ों के लेजाने में ख़र्च पड़ता है। कस्टम, चुंगी या अन्य व्यापारिक कर भी लेजाने के ख़र्च में ही शामिल हैं।

तार, टेलीफ़ोन, रेल, नहर, सड़कें, सामान ढोने की मोटरें आदि—जिनके द्वारा माल एक स्थान से दूसरे स्थान पहुँचाया जाता है, अथवा जो व्यापार के साधनों में हैं, और जिनसे समय और धन, दोनों में किफ़ायत होती है—बाज़ार के क्षेत्र को बढ़ानेवाली होती हैं। किसी वस्तु का बाज़ार विस्तृत होने के लिए निम्न-लिखित बातें आवश्यक हैं—

(१) वह वस्तु आसानी से ले जाई जा सके। मकान आदि की तरह स्थिर, अथवा कई प्रकार के फलों या मछली आदि की तरह जल्दी बिगड़नेवाली न हो।

(२) उसके ले जाने में समय और ख़र्च कम लगे।

(३) उसकी माँग विस्तृत हो।

(४) उसका वर्णन किए जाने की सुगमता हो।

वस्तु के वर्णन की सुगमता ऐसी होनी चाहिए कि दूर-दूर रहनेवाले ख़रीददार पूर्णत: यह जान लें कि वे किस प्रकार का माल मँगा रहे हैं। फिर, वस्तु ऐसी होनी चाहिए कि वह बिना टूटे या सड़े हुए दूर-दूर तक जा सके। फल आदि चीज़ें ऐसी हैं कि जब तक उन्हें वैज्ञानिक रीति से न रक्खा जाय, उनका बाज़ार विस्तृत नहीं हो सकता। पत्थर की नक़ाशी तथा शीशे की वस्तुएँ आदि को दूर भेजने के लिए बड़ी सावधानी से 'पैक' करना पड़ता है, इसका व्यय तथा मार्ग में उनके टूट जाने की संभावना उनकी क़ीमत को बढ़ा देती है।

संसार-भर जिन वस्तुओं का बाज़ार है, उनका उत्तम उदाहरण

सोना ,चाँदी, तथा सरकारी सिक्यूरिटियाँ (ऋण-पत्र) हैं। इनसे कम विस्तृत बाज़ार बड़ी-बड़ी कंपनियों के स्टॉक या शेयरों का होता है। यद्यपि कृषि-जन्य पदार्थों की, सबको आवश्यकता रहती है, तथापि इनका बाज़ार बहुत विस्तृत नहीं होता, कारण, दूर-दूर के आदमियों को इन का ठीक-ठीक परिचय देना कठिन होता है, और, क़ीमत के विचार से ये सोना चाँदी आदि की अपेक्षा बहुत वज़नी होते हैं, तथा बहुत स्थान घेरते हैं। सब से कम विस्तृत बाज़ार भूमि-का है। मकानों अथवा व्यक्ति-गत रुचि के अनुसार बने हुए सामान की भी प्रायः ऐसी ही दशा है।

क़ीमत की घट-बढ़—अब हम यह विचार करेंगे कि बाज़ार में पदार्थों की क़ीमत में घट-बढ़ क्यों हुआ करती है। पहले यह जान लेना चाहिए कि क़ीमत के घट-बढ़ का आशय क्या है। पदार्थों की क़ीमत घटी हुई उस समय कही जाती है, जब उनके निर्धारित परिमाण के बदले रुपया कम देना होता है, दूसरे शब्दों में पदार्थों की क़ीमत घटना, रुपए की कीमत बढ़ना है। इसी प्रकार पदार्थों की कीमत बढ़ने का आशय रुपए की कीमत गिरना कहा जा सकता है। साधारण बोल-चाल में पदार्थों की कीमत की घट-बढ़ की बात कही जाती है, रुपए की कीमत की घट-बढ़ की बात नहीं कही जाती; तथापि उपर्युक्त कथन स्मरण रक्खा जाना चाहिए।

किसी पदार्थ की क़ीमत घटने-बढ़ने के कारण—कीमत की घट-बढ़ के कारणों पर विचार करते हुए, हमें दो भिन्न-भिन्न दशाओं को सामने रखना है, (१) जब किसी एक या कुछ विशेष पदार्थों की कीमत में घट-बढ़ हो, और (२) जब सब पदार्थों की कीमत एक-साथ घट जाय, अथवा एक-साथ बढ़ जाय। पहले इन में से प्रथम दशा का विचार करते हैं।

वस्तुओं की क़ीमत उनकी माँग और पूर्ति के अधीन है। माँग की अपेक्षा पूर्ति कम होने पर वस्तु के ख़रीददार चढ़ा-ऊपरी करने लगते हैं। जिसे जो चीज़ दरकार होती है, वह यही चाहता है कि औरों को वह मिले या न मिले, पर मुझे मिल जाय। इस चढ़ा-ऊपरी के कारण चीज़ की क़ीमत भी चढ़ जाती है—वह महँगी हो जाती है। इसी तरह वस्तु की माँग की अपेक्षा, पूर्ति अधिक होने से उसके बेचनेवाले चढ़ा-ऊपरी करते हैं, और माल की क़ीमत गिर जाती है। इससे यह सिद्ध होता है कि अधिक पूर्ति या कम माँग होने पर क़ीमत कम होती है, और पूर्ति के कम, या माँग के अधिक होने पर क़ीमत अधिक हो जाती है। किसी वस्तु की क़ीमत वही होती है, जिस पर जितनी उसकी माँग हो, उतनी ही उस समय उसकी पूर्ति भी हो।

खाद्य-पदार्थों की मांग जन-संख्या की वृद्धि से बढ़ सकती है; और, पूर्ति, वर्षा न होने या कम होने से घट जाती है। भारतवर्ष की जन-संख्या तथा सिंचाई के संबंध में पहले लिखा जा चुका है। इसके अतिरिक्त आज-कल अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की वृद्धि से विदेशों की स्थिति का भी भारतवर्ष की माँग और पूर्ति पर बड़ा असर पड़ता है। यदि इंगलैंड या अमरीका आदि में किसी कृषि-जन्य पदार्थ की फ़सल मारी जाय, अथवा पैदावार बहुत अधिक हो जाय तो भारतवर्ष पर उसका असर पड़े बिना नहीं रह सकता। संसार में समय-समय पर युद्ध होते रहते हैं, इनमें बहुत से पदार्थ नष्ट होते हैं, तथा अनेक आदमियों के युद्ध में प्रवृत्त होने, तथा पीछे बहुत-सों के मरजाने या ज़ख्मी हो जाने से उत्पादन-कार्य कम होता है। इससे पूर्ति कम हो जाती है, और मांग बढ़ जाती है; फल-स्वरूप क़ीमत बहुत चढ़ जाती है।

पदार्थों की क़ीमत बढ़ने का एक कारण भौतिकवाद तथा आवश्यकताओं की वृद्धि भी है। यहाँ लोगों में शौक़ीनी या विलासिता बढ़

ही है। बहुत-से आदमी ऐसे तैयार माल का उपभोग करते हैं, जो विदेशों से मँगाना पड़ता है, और जिसके बदले में यहाँ से खाद्य-पदार्थों की खूब निर्यात करनी पड़ती है। यदि भारतवासी अपना रहन-सहन सादा रखें, और विदेशी सामान का उपभोग प्रायः बंद करदें तो निश्चय ही यहाँ खाद्य पदार्थ सस्ते हो सकते हैं। वर्तमान अवस्था में खाद्य पदार्थों की क़ीमत अपेचाकृत ऊँची होने का कारण यह भी है कि विदेशों में जूट, रुई आदि की माँग अधिक होने से, और वहाँ इनके दाम अधिक मिलने के कारण, भारतवर्ष में इन पदार्थों की पैदावार बढ़ाने की ओर दृष्टि रहती है, फल-स्वरूप खाद्य पदार्थों की पैदावार कम की जाती है।

विदेशी वस्तुओं की क़ीमत बढ़ने का एक कारण उनपर लगने वाला संरक्षण-कर भी होता है, जो स्वदेशी वस्तुओं के शैशवावस्था के उद्योग-धंधों को प्रोत्साहन देने के लिए लगाया जाता है। यह कर आवश्यक और उपयोगी होता है, किंतु इससे कुछ समय के लिए उपभोक्ताओं को विदेशी पदार्थों की क़ीमत अधिक देनी पड़ती है, हाँ, पीछे उन्हें इस कर के परिणाम-स्वरूप स्थाई लाभ होता है।

यातायात के साधनों की वृद्धि का भी पदार्थों की क़ीमत पर बहुत प्रभाव पड़ता है; क्योंकि इससे पदार्थों के बाज़ार का क्षेत्र बढ़ता है; और, बाज़ार का क्षेत्र जितना बढ़ता है, उतनी ही पदार्थों की माँग बढ़ती है, तथा फल-स्वरूप (यदि उत्पत्ति न बढ़े) क़ीमत बढ़ती है। कभी-कभी इसका उलटा परिणाम भी होता है। कल्पना करो भारतवर्ष का यातायात संबंध किसी ऐसे देश से हो जाता है, जहाँ, यहाँ के आदमियों की किसी आवश्यकता की पूर्ति करनेवाला पदार्थ सस्ता पैदा या तैयार होता हो; अब वह पदार्थ यहाँ अधिक परिमाण में आने लगेगा, फल-स्वरूप भारतवर्ष के स्वदेशी पदार्थ की क़ीमत गिर जायगी।

चीज़ों की क़ीमत की घट-बढ़ में उत्पादन व्यय का भी बड़ा असर पड़ता है। उत्पादन व्यय में कच्चे माल की कीमत, लगान, सूद, वेतन आदि सम्मिलित हैं। जब किसी पदार्थ की उत्पत्ति में इन मदों का खर्च बढ़ेगा, तो उस पदार्थ की क़ीमत भी बढ़ जायगी; इसी प्रकार इन मदों का खर्च कम होने पर वह पदार्थ अपेक्षाकृत सस्ता हो जायगा। उत्पादन कार्य में काम आने योग्य किसी नई बढ़िया मशीन का आविष्कार हो जाने से, अथवा कोई अच्छी उत्पादन-विधि मालूम हो जाने से भी पदार्थ का उत्पादन-व्यय, और फल-स्वरूप पदार्थ की क़ीमत घटेगी।

सब पदार्थों की क़ीमत एक-साथ घटने-बढ़ने के कारण— अस्तु, यह तो किसी एक पदार्थ या कुछ विशेष पदार्थों की कीमत घटने-बढ़ने के कारणों का विचार हुआ। परंतु कभी-कभी ऐसा भी होता है कि एक-साथ सभी चीज़ों की क़ीमत में अंतर हो जाता है। उदाहरणार्थ, महायुद्ध के पहले की अपेक्षा, उसके बाद सब पदार्थों का मूल्य दुगना-ढाई-गुना हो गया। इसका कारण रुपए-पैसे के परिमाण या चलन-गति की वृद्धि थी। इसका वर्णन काग़ज़ी मुद्रा के परिच्छेद में किया जा चुका है। क्योंकि आदमी अपनी साख के बल पर माल ख़रीदकर उस पर वैसा ही स्वत्व या अधिकार प्राप्त कर लेते हैं, जैसा नकद रुपया देकर ख़रीदने से होता है, यह स्पष्ट है कि साख तथा बैंकिंग-कार्य की न्यूनता या वृद्धि से भी क़ीमत की घट-बढ़ होती है।

सब पदार्थों की क़ीमत एक-साथ घटने-बढ़ने का एक कारण विनिमय की दर का चढ़ाव-उतार भी होता है। उदाहरणवत्, इस समय यहाँ रुपए का विनिमय-मूल्य, अंगरेज़ी सिक्के में, अठारह पेंस (एक शिलिंग छः पेंस) है; यदि भारत-सरकार इसे १६ पेंस करदे तो अंगरेज़ व्यापारी

हमारा माल अधिक ख़रीदेंगे। कल्पना करो कि यहाँ गेहूँ एक रुपए का बारह सेर मिलता है, तो वर्तमान दशा में अंगरेज व्यापारी को १८ पेंस खर्च करने से बारह सेर गेहूँ मिलते हैं।⚹ रुपए की विनिमय-दर १६ पेंस हो जाने पर उसे बारह सेर गेहूँ खरीदने के लिए दो पेंस कम खर्च करने होंगे। ऐसी स्थिति में वह स्वभावतः गेहूँ भारत के बाज़ार में अधिक खरीदेगा। इससे यहाँ गाँवों और कस्बों में गेहूँ की खरीद बढ़ जायगी, उसका भाव चढ़ जायगा; गेहूँ रुपए का बारह सेर के बजाय, संभव है, ग्यारह सेर बिकने लगे (इससे किसानों को लाभ होगा, उन्हें अधिक रुपया मिलेगा)।

विनिमय की दर गिरने से इंगलैंड का माल भारतवर्ष में मँहगा पड़ने लगेगा। उदाहरणवत् भारतवर्ष में लंकाशायर का कोई कपड़ा इस समय यहाँ रुपए का चार गज मिलता है, तो अंगरेज व्यापारी अठारह पेंस में चार गज कपड़ा दे रहा है, जब रुपए का विनिमय-मूल्य सोलह पेंस हो जायगा तो अंगरेज व्यापारी एक रुपए में अर्थात् सोलह पेंस में लगभग साढ़े तीन गज कपड़ा दे सकेगा, (इससे उसके माल की खपत यहाँ कम होने लगेगी, और यहां के स्वदेशी वस्त्र-व्यवसाय को प्रोत्साहन मिलेगा)।

इसी प्रकार उदाहरण देकर यह बताया जा सकता है कि भारतीय विनिमय की दर अंगरेज़ी सिक्के में चढ़ने से यहां इंगलैंड का माल सस्ता मिलेगा और भारतवर्ष का सामान इंगलैंड वालों को मँहगा पड़ेगा। इससे स्पष्ट है कि विनिमय की दर का चढ़ाव-उतार भी क़ीमत की घट-बढ़ का कारण होता है।

⚹ उदाहरण को सरल करने के लिए यहाँ रुपया भेजने या माल मँगाने के खर्च का विचार नहीं किया जाता।

एकाधिकार में क़ीमत—ऊपर यह बताया गया है कि क़ीमत की घट-बढ़ के क्या कारण होते हैं, अब तनिक इस बात का भी प्रचार करलें कि एकाधिकार का क़ीमत पर क्या प्रभाव पड़ता है। साधारणतः यह ख़याल किया जाता है कि एकाधिकारी किसी वस्तु की क़ीमत अधिक-से-अधिक ऊँची रखता है। परंतु इस क़ीमत की भी एक सीमा होती है। वह सदैव यह चाहता है कि उसे अधिक-से-अधिक लाभ हो। इसलिए वह किसी चीज़ की क़ीमत को उसी सीमा तक बढ़ाता है, जहाँ तक वह वस्तु इतनी मात्रा में बिक सके कि उसे अधिक-से-अधिक लाभ हो। इस सीमा के बाद वस्तु की क़ीमत बढ़ाने से एकाधिकारी को उतना लाभ न होगा।

जीवन-रक्षक पदार्थों का एकाधिकार होने तथा उनका मूल्य बढ़ जाने से जन-साधारण को बड़ा कष्ट होता है। पर यदि विलासिता के पदार्थों का (एकाधिकार होने से) मूल्य बढ़ता है, तो थोड़े-से धनी आदमियों पर ही उसका असर पड़ता है।

नमक यद्यपि एक जीवन-रक्षक पदार्थ है, तो भी भारत में सरकार को इसका एकाधिकार प्राप्त है। अस्तु, सिद्धांत से तो यह बात ठीक है कि सरकार के हाथ में किसी भी जीवन-रक्षक पदार्थ का एकाधिकार रहने से देश को हानि नहीं पहुँचती; क्योंकि वह जनता की हितचिंतक होती है। किंतु जब सरकार जनता के प्रति यथेष्ट उत्तरदाई न हो, तब नमक आदि किसी जीवन-रक्षक पदार्थ का एकाधिकार उसके हाथ में रहना उचित नहीं है। फिर, यह भी सर्वथा संभव है कि अगर दूसरे व्यापारी ऐसे पदार्थ का एकाधिकार पालें, तो वे भी मूल्य बढ़ाकर अनर्थ करने लगें। इसलिए ऐसे पदार्थ का किसी को भी एकाधिकार न होना चाहिए।

ऊपर कहा गया है कि एकाधिकार में पदार्थों की क़ीमत बढ़ने की

से न बढ़ी हो। पुनः किसानों को उत्पन्न पदार्थों की क़ीमत मिलते-मिलते उसमें से दस्तूरी, दलाली, तुलाई, धर्मादे आदि में इतना अंश निकल जाता है, तथा उन्हें खेती में और वस्त्र आदि अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति में ख़र्च इतना अधिक करना होता है कि पदार्थों की बढ़ी हुई क़ीमत से उनकी आर्थिक अवस्था में विशेष अंतर नहीं आता।

जबकि अपनी भूमि में काश्त करनेवालों को, या उन लोगों को जो भूमि दीर्घकालीन पट्टे पर लेकर अपने श्रम से काश्त करते हैं, मूल्य-वृद्धि से, उपज बेचने की दशा में, लाभ होता है, यह बात उन लोगों के विषय में चरितार्थ नहीं होती, जिन्हें लगान देना होता है, या जिन्हों ने अनाज देने की शर्त पर कुछ रुपया पेशगी ले लिया है, अथवा जिनका भूमि का पट्टा अल्पकालीन है, और जो श्रमियों से काम कराते हैं।

देहाती श्रमजीवियों पर—पदार्थों की कीमत की घट-बढ़ का ग्रामों के श्रमजीवियों की वेतन पर तुरंत विशेष असर नहीं होता। कुछ समय तक जिसे जितना वेतन मिलता है, उतना ही मिलता रहता है। ऐसी दशा में ग्रामों के जो श्रमी जिंस में वेतन पाते हैं—और अधिकतर व्यक्ति जिंस में ही वेतन पानेवाले होते हैं—उन्हें मँहगाई से कुछ लाभ-हानि नहीं होती। हाँ, जिनका वेतन नक़दी में ठहरा हुआ होता है, उन के लिए कुछ समय बड़े संकट का बीतता है। जैसाकि पहले कहा गया है, भारतवर्ष के अनेक छोटे-छोटे किसानों के पास भूमि इतनी कम होती है कि उसकी उपज से उनका निर्वाह नहीं हो सकता; उन्हें किसी ज़मीदार के यहाँ श्रम करना होता है; अतः इनपर भी पदार्थों की क़ीमत बढ़ने का कुछ समय के लिए वही परिमाण होता है, जैसा उपर्युक्त श्रमियों पर।

ज़मीदारों पर—लगान आज-कल नकदी में लिया जाता है, लगान देनेवाले मौरूसी काश्तकार होते हैं अथवा गैर-मौरूसी काश्तकारों

पर, पदार्थों की क़ीमत बढ़ने की दशा में, लगान जल्दी नहीं बढ़ता, अतः इनसे लगान लेनेवालों को तत्काल कुछ लाभ नहीं होता, वरन् हानि ही रहती है। इस के विपरीत, गैर-मौरूसी काश्तकारों पर लगान, पदार्थों की क़ीमत बढ़ने पर, जल्दी ही बढ़ा दिया जाता है, इससे, जहाँ-तक लगान पाने का संबंध है, लगान पानेवाला नफ़े में रहता है।

क़स्बों और शहरों के श्रमियों पर—हमने पहले कहा है कि क़ीमत बढ़ने के साथ श्रमियों का वेतन एक-दम नहीं बढ़ जाता, अतः इनमें असंतोष उत्पन्न होता है, और क्योंकि क़स्बों और शहरों के श्रमी देहाती श्रमियों की अपेक्षा अधिक बड़े-बड़े समूहों में मिलकर काम करते हैं, तथा अधिक संगठित होते हैं, अतः इनका असंतोष व्यापक स्वरूप धारण करता है, वेतन-वृद्धि का आंदोलन बढ़ता है, अनेक स्थानों में हड़तालें होती हैं, और कहीं-कहीं तो लूट-मार और उपद्रव के दृश्य उपस्थित हो जाते हैं। कल-कारखानेवाले इतने दूरदर्शी तथा उदार नहीं होते कि पदार्थों की कीमत-वृद्धि का आभास पाते ही श्रमियों की वेतन बढ़ा दें, हाँ, अन्ततः तो उन्हें यह करना ही पड़ता है। वेतन बढ़ने पर प्रायः श्रमियों की आर्थिक अवस्था में कुछ सुधार ही होता है।

दस्तकारों पर—हाथ से बनी वस्तुओं की, कल-कारखानों में बने हुए माल से प्रतियोगिता रहने के कारण, यहाँ दस्तकारों की दशा प्रायः अच्छी नहीं रहती। पदार्थों की क़ीमत बढ़ने से, उक्त प्रतियोगिता बढ़ती ही है, और, इस प्रकार दस्तकारों को पहले की अपेक्षा अधिक कठिनाइयाँ सहन करनी पड़ती हैं।

कल-कारखाने वालों पर—पदार्थों की क़ीमत बढ़ने के साथ, उत्पादन-व्यय, जिसका एक भाग श्रमियों का वेतन है, एक-दम नहीं बढ़

जाता। इसलिए कल-कारखानेवालों को, क़ीमत बढ़ने से, कम-से-कम आरंभ में कुछ दिन लाभ ही रहता है। हाँ, पीछे क्रमशः श्रमियों का वेतन आदि बढ़ने लगता है; और संभव है, वेतन पदार्थों की कीमत की वृद्धि के अनुपात से अधिक बढ़ जाय। तब उनको हानि होना निश्चित है।

निर्धारित वेतन पाने वालों पर—पदार्थों की क़ीमत बढ़ने से, सबसे अधिक हानि पेनशन पानेवालों, कलर्कों, सरकारी तथा व्यापारिक कर्मचारियों की, सिक्यूरिटी या शेयर आदि से होने वाली आय पर निर्वाह करने वालों की, तथा ऐसे व्यक्तियों की होती है जो बंधा हुआ या निर्धारित शुल्क, वेतन अथवा मेहनताना पाते हैं। इन को सामुहिक रूप से मध्य श्रेणी का कहा जा सकता है। क़ीमत-वृद्धि से इन का भोजन, वस्त्र, रोशनी, मकान-किराए का, और जिन के यहाँ वरू नौकर हो, उनके यहाँ इन नौकरों के वेतन का, ख़र्च बढ़ जाता है। अस्तु, पदार्थों की क़ीमत बढ़ने पर इन्हें विशेष हानि होती है।

ऋण-ग्रस्तों और साहूकारों पर—क़ीमत की वृद्धि होने से ऋण-ग्रस्तों को लाभ होता है, यदि वे निर्धारित वेतन पानेवाले न होकर, पदार्थों के उत्पादक हों; कारण, उन्हें पदार्थों की क़ीमत अधिक मिलेगी और साहूकार उनसे रुपया और सूद पूर्ववत् ही लेगा, वह सूद का परिमाण नहीं बढ़ा सकता। इस के विपरीत, साहूकार को, पदार्थों की कीमत बढ़ने से कोई लाभ नहीं, वरन् हानि ही है, कारण, अब उसे जो रुपया या सूद मिलता है, उसका पदार्थों-में-मूल्य पूर्वापेक्षा कम होता है।

विशेष वक्तव्य—ऊपर हमने कुछ ही श्रेणियों के आदमियों के संबंध में विचार किया है। देश में इतने भिन्न-भिन्न प्रकार के व्यक्ति

रहते हैं कि सहसा यह नहीं कहा जा सकता कि पदार्थों की क़ीमत बढ़ना लाभप्रद है या हानिकर । साधारणतया आदमी यही चाहते हैं कि क़ीमत में स्थिरता रहे, विशेष उतार-चढ़ाव न हो। क़ीमत की घट-बढ़, क़ीमत घटने के बाद बढ़ना, तथा बढ़ने के बाद घटना आर्थिक जगत की एक साधारण घटना है। यह धूप के बाद छाया, अथवा दुख के बाद सुख की तरह है। इसे बंद नहीं किया जा सकता। हाँ, यदि व्यवसाई तथा सरकार चाहें तो कुछ अंश तक इस का नियंत्रण कर सकते हैं।

मनुष्यों को चाहिए कि दोनों प्रकार की स्थिति के लिए तैयार रहें; यदि क़ीमत की घट-बढ़ से हमारी आय बढ़ती है, तो उसे व्यर्थ के अपव्यय में न उड़ा दें, उसमें-से कुछ संकट काल के लिए भी रख छोड़ें; और जब हमारी आय घटती हो तो अपनी आवश्यकताएँ कम करके उसी में अपना निर्वाह करने का प्रयत्न करें ; व्यर्थ में दुख न मानें। कुछ आदमी जिन की आमदनी पहले हज़ार-बारह-सौ रुपए माहवार की होती है, और पीछे बाज़ार के उतार-चढ़ाव के कारण चार-पाँच सौ रुपए रह जाती है, अत्यंत चिंतित और शोक-निमग्न रहने लगते हैं; वे तनिक विचार से काम लें तो इतनी आमदनी में भी वे आनन्द-पूर्वक रह सकते हैं, और रहना चाहिए।

अठारहवाँ परिच्छेद

व्यापार के साधन

पिछले परिच्छेद में क़ीमत का विचार हो चुकने पर, अब व्यापार का विवेचन सुगम है; पर इसके लिए पहले व्यापार के मार्ग और साधनों का विचार हो जाना चाहिए। अत. इस परिच्छेद में यही विषय लिया जाता है। सड़कों तथा रेल आदि के विषय में कई दृष्टियों से, तथा विस्तार-पूर्वक विचार हो सकता है। परंतु हमें यहाँ विशेषतया आर्थिक दृष्टि से, और संक्षेप में ही विचार करना है।

व्यापार के मार्ग—व्यापार के तीन मार्ग हैं—स्थल-मार्ग, जल-मार्ग और वायु-मार्ग। स्थल-मार्ग में कच्ची-पक्की सड़कों पर ठेलों, पशुओं, मोटरों आदि से, या लोहे की पटरी पर रेल से, माल ढोया जाता है। कहीं-कहीं ज़मीन के नीचे भी रेलें जाती हैं। जल-मार्ग पर नाव, स्टीमर और जहाज़ चलते हैं। गत महायुद्ध के समय जर्मनी ने पन-डुब्बियों द्वारा माल ढोने का रास्ता पानी के नीचे-नीचे भी निकाला था। आकाश-मार्ग से काम थोड़े ही समय से लिया जाने लगा है; हवाई जहाज़ों द्वारा कहीं-कहीं थोड़ा-थोड़ा माल आता जाता है।

सड़कें; इनकी कमी—भारतवर्ष में कुल मिलाकर लगभग ढाई लाख मील सड़कें हैं, जिनमें से पक्की सड़क तो केवल पचास हज़ार मील ही हैं। सबसे अधिक प्रसिद्ध (पक्की) सड़क 'ग्रांड-ट्रंक-रोड' है, जो कलकत्ते से इलाहाबाद और देहली होकर, पेशावर जाती है। यहाँ की सड़कों में से कुछ तो दूर तक चली गई हैं, परंतु अनेक पास की

ही बस्ती में जाकर ख़त्म हो जाती हैं। कुछ सड़कें ऊँची हैं, और बारहों महीने खुली रहती हैं। कितनी ही सड़कें बरसात में बेकाम हो जाती हैं। कहीं तो बरसाती नदियों पर पुल हैं, और कहीं उन्हें बरसात में तो नाव से और खुश्की के दिनों में पैदल ही पार करना पड़ता है। साधारणतः लोग सामान ढोने के लिए पुराने ढंग की बैलगाड़ी, टट्टू, ख़च्चर, गधे, ऊँट, भैंसे आदि से काम लेते हैं। मोटर तथा ताँगे चलने-योग्य सड़कें बहुत ही कम हैं।

भारतवर्ष की सड़कों की इस दुर्दशा का एक प्रधान कारण यह है कि ईस्ट-इंडिया-कंपनी ने नागरिक-हित के इस महत्त्व-पूर्ण कार्य के लिए रुपया खर्च करने की आवश्यकता नहीं समझी। नई सड़कें बनाने, अथवा पुरानी सड़कों की मरम्मत के लिए कोई निर्धारित नीति रख कर काम नहीं किया गया। किसी-किसी शासक ने अपनी व्यक्तिगत रुचि के कारण इस ओर थोड़ा-बहुत ध्यान दिया। कुछ विशेष ध्यान देनेवाले गवर्नर-जनरलों में सबसे प्रथम लार्ड डलहौज़ी है, जिसने रेलों के साथ सड़कों के निर्माण के लिए उल्लेखनीय कार्य किया। उसके समय में इस कार्य के लिए प्रत्येक प्रांत में सार्वजनिक निर्माण विभाग की स्थापना की गई। रेलों के विस्तार ने भी अंशतः सड़कों के निर्माण में कुछ सहायता दी, परंतु उनसे केवल ऐसी सड़कों की ही वृद्धि हुई जो उनके लिए सहायक हों। जिन-जिन स्थानों में रेलवे स्टेशन बने वहाँ बस्ती से लेकर स्टेशन तक यात्रियों तथा सामान ले जाने के वास्ते सड़कें बनाई गईं। अब से कुछ समय पूर्व तक सरकार ने सड़कों का काम अधिकांश में ज़िला-बोर्ड या म्युनिसिपैलिटियों के हाथ में रक्खा था। इनका ध्यान अपने ही इलाक़े-भर में रहता है, बाहर नहीं। ज़िले के अंदर भी, अफ़सरों के दौरे की सुविधा बनाए रखने के लिए, सदर-मुक़ाम और सब-डिवीज़न के केंद्र के बीच की सड़कें तो अच्छी हालत में रक्खी जाती हैं, किंतु दूसरे रास्तों पर कृपा-दृष्टि नहीं

की जाती। उचित तो यह था कि प्रधान-प्रधान मंडियों को केंद्र बनाकर इलाक़े-भर में लंबी, चौड़ी और पक्की सड़कें बनवादी जातीं, और उनके द्वारा मंडियों से गाँव-गाँव का संबंध करा दिया जाता एवं बीच की नदियों पर पुल बाँध दिए जाते; इससे देशी व्यापार की बहुत वृद्धि होती। किंतु वैसा नहीं हुआ।

सड़कों की आवश्यकता और उन्नति—सड़कों की उपयोगिता सर्व-विदित है। ये किसानों की खेती की उपज को नज़दीक की मंडी तथा रेलवे स्टेशन पर लाने में, और इस प्रकार उसके अधिक दाम प्राप्त कराने में सहायक हैं। उद्योग-धंधों के लिए दूर-दूर से कच्चा माल लाने, तथा तैयार माल को दूर-दूर के उपभोक्ताओं तक पहुँचाने का काम रेलें करती हैं; परंतु सड़कों की सहायता के बिना, रेलों को भी ढोने के लिए, काफ़ी माल नहीं मिल सकता। इस प्रकार सड़कों से उद्योग-धंधों की उन्नति और विस्तार को प्रोत्साहन मिलता है।

गत वर्षों में मोटरों द्वारा माल और सवारियाँ लाने-लेजाने के काम में प्रगति होने से सड़कों की ओर सरकार अधिक ध्यान देने लगी है। नवंबर सन् १९२७ ई० में सरकार ने सड़क-सुधार कमेटी ('रोड-डिवेलपमेंट-कमेटी') नियुक्त की। इस कमेटी की सिफ़ारिशों के आधार पर सन् १९२९ ई० के बजट में सरकार ने मोटर-स्पिरिट पर प्रति गैलन चार आने से छः आने तक कर बढ़ाया; और, इस कर से होनेवाली अधिक आय को सड़कों के काम में लगाने का निश्चय किया। सड़क-सुधार के विषय में विचार करने के लिए केंद्रीय सरकार प्रति वर्ष एक कान्फ्रेंस करती है। अब कई सड़कें प्रांतीय कर दी गई हैं, उनकी मरम्मत आदि का जो काम म्युनिसिपैलिटियों और ज़िला-बोर्डों द्वारा, धनाभाव के कारण अच्छी तरह नहीं होता था, अब

प्रांतीय सरकारें कर रही हैं। गाँवों की सड़कों की ओर ध्यान दिया जा रहा है। परंतु देश का विस्तार देखते हुए, और गत कई दशाब्दियों की प्रायः अवहेलना का विचार करते हुए कहना होगा कि अभी बहुत काम करने को पड़ा है, और जिस गति से काम हो रहा है, वह कदापि संतोष-प्रद नहीं कही जा सकती ।

रेल; लाभ हानि—यातायात के साधनों में रेलों का स्थान प्रमुख है। इनके द्वारा भारतवर्ष के दूर-दूर के भागों में, पदार्थों का व्यापार होने लगा है, और भारतवर्ष का विदेशों से व्यापारिक संबंध बढ़ने में विलक्षण सहयोग मिला है। रेलों में हज़ारों मन माल इधर से उधर भेजा जाता है। यदि देश में एक जगह अकाल पड़ रहा हो, तो खाने के पदार्थ दूसरी जगह से, जहाँ वे अधिक हों, जल्दी ही लाए जाकर बहुत-से आदमियों को भूखा मरने से बचाया जा सकता है। रेलों के कारण, पदार्थों का बाज़ार बढ़ जाने से, उत्पत्ति बड़ी मात्रा में होने की अनुकूलता हो गई है। श्रमियों को अब जहाँ अधिक लाभ-दायक तथा रुचिकर काम मिलता है, वहाँ जाने की सुविधा बढ़ गई है।

रेलों से हानियाँ भी हैं। व्यापारी अपने लाभ के लिए बहुत-से ऐसे पदार्थों को भी विदेशों में भेज देते हैं, जिनकी यहाँ आवश्यकता होती है, परंतु जिनके यहाँ इतने दाम नहीं मिलते, जितने दाम विदेशी दे सकते हैं। उक्त पदार्थों की निर्यात होने से वे पदार्थ यहाँ मँहगे हो जाते हैं। पुनः आज-दिन भारतवर्ष के नगरों और क़स्बों में जहाँ देखो, बिसातखाने, कपड़े और फुटकर सामान की दुकानें विलायती पदार्थों से भरी पड़ी हैं। हमारे उद्योग-धंधे या दस्तकारी नष्ट हो गई हैं। विदेशी पूँजीपति यहाँ अपनी पूँजी लगाकर, यहाँ के सस्ते कच्चे माल और सस्ती मज़दूरी से अपरिमित लाभ उठा रहे हैं, और देश का आर्थिक शोषण हो रहा है। इसमें रेलों का भाग स्पष्ट है। पुनः रेलों ने

अनेक स्थानों में पानी के स्वाभाविक बहाव को रोक दिया है, और अनेक गाँव मलेरिया आदि बिमारियों के घर बन गए हैं। इससे भी बड़ी हानि हुई है। इसका बहुत-कुछ कारण यह है कि रेलें विदेशी कंपनियों ने बनाई हैं, अधिकतर उनके ही प्रबंध में रही हैं। यह ठीक है कि यदि राष्ट्रीय सरकार रेलों की व्यवस्था करती तो भी कुछ अंश में उपर्युक्त हानि होती, परंतु उस दशा में हानि का प्रतिकार इस समय की अपेक्षा कहीं अधिक होता।

संक्षिप्त इतिहास—रेलों का काम यहाँ उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य से (सन् १८४९ ई० से) आरंभ हुआ। इनकी स्थापना का मुख्य उद्देश्य यह था कि युद्ध के समय सेना एक स्थान से दूसरे स्थान पर सुगमता-पूर्वक तथा शीघ्रातिशीघ्र भेजी जा सके, जिससे भारतवर्ष में अंगरेज़ी शासन विस्तृत और सुदृढ़ हो। विशेषतया सीमा-प्रांत और पंजाब की रेलें तो इसी दृष्टि से बनाई गईं। उपर्युक्त उद्देश्य की पूर्ति के बाद, रेलों को व्यापारिक स्वरूप दिया गया; इसमें इंगलैंड का हित प्रधान रहा। रेलों से इस देश के खाद्य पदार्थ तथा कच्चा माल निर्यात के लिए कम समय में और कम खर्च से बंदरगाहों तक पहुंचने लगे, तथा विदेशों का तैयार माल भारतीय बंदरगाहों से देश के भीतरी स्थानों में जहाँ-तहाँ भेजने में सहायता मिलने लगी। रेलों का यह मूल उद्देश्य, उनकी वर्तमान नीति में भी बहुत-कुछ विद्यमान है।

सरकार ने रेलवे कंपनियों को—जो इंगलैंड की ही थी—इस काम में पूँजी लगाने के लिए खूब उत्साहित किया। न केवल उन्हें आवश्यक भूमि मुफ़्त दी, वरन् उन्हें रेलों में लगनेवाली पूँजी पर ५ प्रतिशत ब्याज की गारंटी भी दी, अर्थात् उनसे यह तय किया कि यदि उन्हें अपनी पूँजी पर इतना ब्याज प्राप्त न होगा तो सरकार उसकी पूर्ति कर देगी। कंपनियों ने खूब अनाप-शनाप खर्च किया। उसने अपने कर्मचारियों के

वेतन आदि में मितव्ययिता करने की ओर ध्यान न दिया। सन् १८६१ ई० के बाद सरकार ने रेलों में कुछ रुपया अपने ख़जाने से लगाया और तरह तरह की पद्धतियों का प्रयोग किया।

घाटा, और प्रबंध—रेलों में घाटा बहुत रहा है। सन् १८९८ ई० तक घाटे की रकम ९८ करोड़ हो गई थी। सर्व-प्रथम सन् १९०६ ई० में रेलों से कुछ लाभ हुआ। तथापि रेलों की आर्थिक स्थिति असंतोष-प्रद ही रही। इस विषय पर विचार करने के लिए सन् १९२१ ई० में भारत-मंत्री ने एकवर्थ कमेटी नियत की, उस में सात सदस्य अंगरेज थे और तीन भारतीय। उसने अन्यान्य विषयों में रेलवे प्रबंध के संबंध में भी विचार किया, परंतु प्रबंध के विषय में उसके सदस्यों में मतभेद रहा। सब सदस्यों ने यह तो स्वीकार किया कि विदेशी कंपनियों द्वारा प्रबंध होना अनुचित है, परंतु पाँच का मत यह था कि जब कंपनियों के ठेकों की अवधि समाप्त हो जाय, तब सरकार उनका प्रबंध अपने हाथ में ले ले। अन्य पाँच सदस्यों का यह कहना था कि अवधि समाप्त होने पर सरकार रेलों का प्रबंध विदेशी कंपनियों से छुड़ाकर नई भारतीय कंपनियों को सौंप दे ; यदि यह प्रबंध सफल हो, तो आज-कल जिन रेलों का प्रबंध सरकार स्वयं करती है, उनको भी भारतीय कंपनियों के हाथ में सौंप देने के प्रश्न पर विचार किया जाय।

फ़रवरी सन् १९२३ ई० में इस विषय पर यहाँ भारतीय व्यवस्थापक सभा में खूब बहस हुई अंत में यह प्रस्ताव स्वीकृत हुआ कि ईस्ट-इंडियन, और जी० आई० पी०-रेलों को सरकार, अवधि के बाद, कंपनियों के हाथ से निकालकर अपने प्रबंध में ले ले। इस निश्चय के अनुसार ये रेलें सन् १९२५ई० में सरकारी प्रबंध में ले ली गईं, परंतु सन् १९३१ ई० में आसाम-बंगाल रेलवे, और इस वर्ष (१९३७) मदरास-और-सदर्न मरहठा रेलवे को मियाद पूरी होजाने पर भी सरकारी प्रबंध में

नहीं लिया गया। * कमेटी की सिफ़ारिश के अनुसार सन् १९२४ ई० से रेलों का आय-व्यय भारत-सरकार के हिसाब से पृथक् रखा जाने लगा। उक्त वर्ष से १९२९ तक सरकार को रेलों से ख़ासी आय हुई; पर उसके बाद फिर हानि होने लगी। अब सरकार ने पुनः एक कमेटी नियुक्त की है, जो इस बात की जाँच करे कि रेलों की आर्थिक व्यवस्था का सुधार कैसे हो सकता है।‡

रेलों की वर्तमान स्थिति—भारतवर्ष में इस समय रेलवे लाइन लगभग पचास हज़ार मील है। अधिकतर रेलवे लाइनों की मालिक सरकार है; इनमें से कुछ का प्रबंध वह स्वयं करती है, शेष का प्रबंध विविध कंपनियों के हाथ में है। अन्य रेलों, में कुछ डिस्ट्रिक्ट-बोर्डों या देशी राज्यों की हैं। स्वयं कंपनियों की रेलें बहुत कम हैं। प्रबंध करनेवाली कंपनियाँ, शर्तनामे के अनुसार, कुछ मुनाफ़ा पाती हैं। बाक़ी मुनाफ़ा सरकार को मिलता है।

रेलें चार तरह की हैं— (१) स्टैंडर्ड माप की—अर्थात् साढ़े पाँच फ़ीट चौड़ी, (२) मीटर माप की—अर्थात् ३·२८ फ़ीट चौड़ी, (३) छोटे माप की— अर्थात् ढाई फ़ीट चौड़ी, और, (४) छोटी लाइन—अर्थात् दो फ़ीट चौड़ी। अधिकांश रेलवे लाइन प्रथम दो प्रकार के ही

---

* जिस समय तक सरकार भारतीय जनता के प्रति पूर्णरूप से उत्तरदाई न हो, उस समय तक रेलों का प्रबंध उसके द्वारा किए जाने से हमें कुछ अधिक लाभ नहीं मालूम होता। अतः रेलों का प्रबंध भारतीय कंपनियों के ही हाथ में होना उचित है।

‡इस कमेटी के सब सदस्य अंगरेज़ ही रक्खे गए है। कई वर्ष के बाद इस वर्ष (सन् १९३७ ई०) सरकार को १५ लाख रु० की बचत हुई है।

माप की हैं। अधिक आमोदरफ़्तवाले स्थानों में ये लाइनें भी दोहरी हैं, एक लाइन जाने के लिए, और दूसरी आने के लिए। इससे दोनों तरफ़ की गाड़ियाँ एक साथ ही आ-जा सकती हैं।

रेलों की वर्तमान व्यवस्था के दोष—भारतवर्ष की रेलों की व्यवस्था में कई दोष हैं। उनमें से मुख्य-मुख्य का ही हम यहाँ उल्लेख करते हैं—

(१) रेलों में विदेशी पूँजी लगी हुई है, जिससे उसका सूद हर साल बाहर भेजना पड़ता है।

(२) बहुत-सी रेलों का प्रबंध विदेशी कंपनियों के हाथों में होने के कारण, बहुत-सा सालाना मुनाफ़ा भी बाहर भेजना पड़ता है। उच्च पदों पर भारतीयों की नियुक्तियाँ बहुत कम होती है, रेलों के भारतीय-करण की ओर यथेष्ट ध्यान नहीं दिया जाता।

(३) रेलवे-कंपनियाँ देशी उद्योग-धंधों तथा व्यापार के ह्रास अथवा उन्नति का विचार न कर, सिर्फ़ अधिक माल ढोने और उससे अधिक लाभ उठाने का ही ख़्याल रखती हैं। वे बंदरगाहों से देश के भीतर आनेवाले विदेशी माल पर, तथा भीतर से बंदरगाहों को जानेवाले कच्चे माल पर महसूल कम लेती हैं। यदि यहाँ के कच्चे माल को कोई बाहर न भेजकर देशी कारख़ानों में ले जाना चाहे तो ज़्यादा भाड़ा देना पड़ता है। पंजाब के स्व० लाला हरकिशनलाल ने एक वक्तृता में स्पष्ट कहा था कि कंपनियों की इस नीति के कारण ही जब मुझे रुई पंजाब से सूरत भेजनी होती थी, तो पहले मैं बंबई को रवाना करता था, और फिर बंबई से लौटाकर सूरत को; क्योंकि पंजाब से सीधे सूरत भेजने में बहुत अधिक ख़र्च लगता था।

(४) कच्चे माल के निर्यात् को जैसी उत्तेजना दी जाती है, वैसी

तैयार माल के निर्यात को नहीं। उदाहरणार्थ, तेलहन की अपेक्षा तेल बाहर भेजने में किराया बहुत अधिक देना पड़ता है।

(५) रेलवे-कंपनियों के स्वार्थ अलग-अलग हैं, और प्रबंध भी पृथक्-पृथक्। इसलिए वे सब अपना-अपना लाभ देखती हैं, देश के लाभ का उन्हें ध्यान नहीं। यदि सबका स्वार्थ और प्रबंध एक ही हो, तो व्यापारियों की असुविधाएँ कम हो जायँ।

(६) लगभग ९६ फ़ी-सैकड़े यात्री तीसरे दर्जे में सफ़र करते हैं। उन्हीं से अधिक आय भी होती है। परंतु विदेशी कंपनियाँ और सरकार उनके अपार कष्टों की कुछ पर्वा नहीं करतीं।

(७) जब रेलें खुलीं, तो बड़े-बड़े शहरों और व्यापार की मंडियों से होती हुई गईं। उस समय देश के भीतरी भागों का ध्यान नहीं रक्खा गया। सड़कों और नदियों के पुलों का भी सुधार नहीं हुआ। पीछे ब्रांच (शाखा)-लाइनें खुलने लगीं। पर उनमें यथेष्ट वृद्धि नहीं हुई। इसलिए सब धंधे घने शहरों में ही इकट्ठे होते गए।

(८) रेलों की माप भिन्न-भिन्न हैं। इसलिए जब माल को एक लाइन से उतारकर दूसरी लाइन पर लादना पड़ता है, तो किराए में व्यर्थ ही वृद्धि हो जाती है; साथ ही टूटने और चोरी जाने की जोखिम भी बढ़ जाती है।

(९) इस देश में रेलवे-लाइनें वर्षों से खुली हुई हैं; किंतु रेलों का अधिकांश सामान अभी विदेशों ही से आता है। उचित तो यह है कि रेलों के डिब्बे आदि सब सामान यहीं तैयार कराया जाय, और उसके लिए करोड़ों रुपया विदेश न भेजा जाय।

(१०) रेलवे में घूसखोरी बहुत बढ़ी हुई है, वह बंद की जानी चाहिए।

रेलें और नवीन शासन-विधान—सन् १६३५ ई० के शासन-विधान के अमल में आने से पूर्व रेलवे विभाग पर भारत-सरकार और भारतीय व्यवस्थापक मंडल का नियंत्रण था; भारत-सरकार का एक सदस्य रेलवे विभाग का कार्य-संपादन करता था। अब, उक्त विधान के अनुसार इस विभाग का कार्य 'संघीय रेलवे अथारिटी' के सुपुर्द कर दिया गया है। इसके सात सदस्य होंगे, जिनमें से सभापति और कम-से-कम तीन अन्य सदस्यों की नियुक्ति गवर्नर-जनरल अपनी मरज़ी से करेगा। गवर्नर-जनरल की अनुमति बिना रेलों के माल तथा यात्रियों के किराए-भाड़े आदि के संबंध में कोई प्रस्ताव संघीय व्यवस्थापक मंडल में उपस्थित नहीं किया जा सकेगा। और भी बहुत सी बातें हैं, जिनके संबंध में हम विस्तार-पूर्वक अपनी 'भारतीय शासन' (सातवां संस्करण) में लिख चुके हैं। संक्षेप में, अब रेलों के प्रबंध और संचालन आदि में जनता के प्रतिनिधियों का कुछ विशेष नियंत्रण न होगा; रेलवे-अथारिटी तथा गवर्नर-जनरल जैसा चाहेंगे, कर सकेंगे, यद्यपि रेलों में जो लगभग नौ सौ करोड़ रुपए लगे हुए हैं, वह भारतीय जनता के हैं, तथा उन पर दी जानेवाली ब्याज की रक़म जो प्रति वर्ष तीस-बत्तीस करोड़ रुपए होती है, उसे भारतीय कर-दाता ही देते हैं। रेलवे अथारिटी का यह आयोजन इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण है कि स्वराज्य-प्राप्ति बिना भारतीय जनता के आर्थिक हितों की रक्षा नहीं हो सकती।

मोटर—मोटरों द्वारा यात्रा ही नहीं होती, सामान भी ढोया जाता है। बहुत-से स्थानों में रेलें जारी नहीं हुई हैं। गाँवों की तो बात ही क्या, अनेक नगर और क़स्बे ऐसे हैं जहाँ रेल नहीं पहुँचती, और जो रेलवे स्टेशनों से पचास-पचास या सौ-सौ मील तक दूर हैं। ऐसे स्थानों में यदि सड़कें ठीक हों तो मोटर अच्छी तरह काम दे सकती है। रेल

से दूर के बहुत-से स्थानों में डाक पहुँचाने का भी काम मोटर करती है। जहाँ रेल जाती है, वहाँ भी बहुधा आमोदरफ़्त बढ़ जाने पर मोटरें खूब चलती हैं। प्रायः इनमें महसूल या किराए की दर रेल के बराबर ही रहती है। इनमें रेलों की तरह भारी पूँजी की आवश्यकता नहीं होती, कितने ही व्यक्ति अकेले अपनी पूँजी से कई-कई मोटरें चलाते हैं; सरकार को केवल सड़कें ठीक कराने की ज़रूरत रहती है। मोटरों में, लोगों को यह सुभीता रहता है कि अपने शहर के पास से बैठ गए और दूसरे शहर के पास ही जा उतरे; रेल से यात्रा करने में रेलवे स्टेशन तक जाना पड़ता है, जो प्रायः बस्ती से दूर होता है।

मोटरों की सफलता गत वर्षों में इतनी अधिक हुई है कि सरकार को रेलों के विषय में चिंता हो चली है। कई स्थानों में मोटरों की प्रतियोगिता के कारण रेलवे कंपनियों को रेल का किराया कम करना पड़ा है, तथा मोटरों पर तरह-तरह के प्रतिबंध लगाए गए हैं। मोटर-स्पिरिट पर आयात-कर बढ़ाने की बात पहले कही जा चुकी है। कहीं-कहीं मोटरवालों पर पुलिस की भी बड़ी धौंस रहती है। इतनी प्रतिकूलताओं के होते हुए भी मोटरवाले कुछ कमाते ही हैं, जब कि रेलों को बहुधा घाटे का रोना रहता है। इसका रहस्य यह है कि मोटरवाले मितव्ययिता से काम लेते हैं, और रेलों में विशेषतया उच्च पदों के लिए भारी वेतन और भत्ता आदि दिया जाता है, तथा अनेक प्रकार से, लापरवाही से खर्च किया जाता है। यदि कहीं मोटरों को उपर्युक्त बाधाओं का सामना न करना पड़े, और सरकार इन्हें रेलों का प्रतिद्वंदी न समझ कर इन पर भी कृपा-दृष्टि रक्खे तो इनके कार्य में विलक्षण उन्नति हो।

नदियाँ और नहरें—स्थल-मार्ग की अपेक्षा, जल-मार्ग से माल लेजाने में बहुत-कम खर्च होता है। नदियाँ प्राकृतिक साधन

हैं, उन्हें बनाना नहीं होता, साधारण व्यय से उन्हें व्यापार के लिए ठीक रक्खा जा सकता है। जल-मार्ग से माल लेजाने में शक्ति भी कम लगती है ; बहाव की तरफ लेजाने में तो प्राय: कुछ भी शक्ति नहीं लगानी पड़ती। भारतवर्ष में जल-मार्ग का उपयोग अति प्राचीन समय से हो रहा है। यह भी एक कारण है कि नदियों के किनारे बड़े-बड़े शहर, तीर्थ-स्थान तथा व्यापार-केन्द्र बन गए हैं। मौर्य-काल में यहाँ नदियों में नाव और छोटे जहाज़ चलाने का काम इतनी उन्नत अवस्था में था कि उसका वर्णन पढ़कर चकित हो जाना पड़ता है। संसार का अधिकाँश भाग जब अज्ञानाँधकार में निमग्न था, भारतवर्ष जल-मार्गों का कुशलता-पूर्वक उपयोग करता हुआ अपनी सुख-समृद्धि बढ़ा रहा था।* मुग़ल बादशाहों के शासन में भी यहाँ नाव आदि चलाने के काम की अच्छी स्थिति रही। परंतु अंगरेज़ों के शासन में दशा बिगड़ गई, सरकार ने रेलों पर तो असंख्य रुपया लगाया, पर प्राकृतिक जल-मार्गों के उपयोग की ओर ध्यान न दिया। सरकारी संरक्षण और सहायता के अभाव, और रेलों की प्रतिस्पर्द्धा ने इस कार्य को प्रायः नष्ट कर दिया। इधर कुछ वर्षों से इस ओर ध्यान दिया जाने लगा है, पर अभी विशेष कार्य नहीं हुआ है। अस्तु, देश की आर्थिक उन्नति के लिए, लाखों नाविकों को काम देने के लिए, और माल-ढुलाई के कार्य को विदेशी पूँजी के प्रभाव से मुक्त करने के लिए, इस कार्य के उद्धार की अत्यंत आवश्यकता है।

भारतवर्ष की नाव चलाने योग्य नदियों में सिंध गंगा, और ब्रह्मपुत्र मुख्य हैं। इनमें मुहाने से लेकर सैकड़ों मील तक प्रायः बारहों महीने नाव चल सकती हैं। सिंध नदी की सहायक चनाव और सतलज में

---

* देखो हमारी "कौटिल्य के आर्थिक विचार"-नामक पुस्तक।

भी खासी दूर तक बारहों महीने नाव चलती हैं। हुगली, महानदी, गोदावरी और कृष्णा नदियों में भी डेल्टा के ऊपर कुछ दूर तक नावें जा सकती हैं। बर्षा ऋतु में तो छोटी नदियों में भी नाव लेजाने की सुविधा रहती है। पूर्वी बंगाल में नावों के लिए सुभीता सबसे अधिक है; इस भाग में अधिकाँश जूट और धान आदि नावों से ही ले जाया जाता है।

नहरें यहाँ विशेषतया आबपाशी के लिए बनाई गई हैं। इनके द्वारा व्यापार बहुत कम होता है। ये बड़े-बड़े शहरों और मुख्य-मुख्य मंडियों से होकर नहीं गुज़रतीं, और न इनका संबंध समुद्र से ही है। बहुधा नहरों के चक्करदार रास्ते से माल ढोने में रेल की अपेक्षा समय और ख़र्च भी अधिक पड़ता है। कुछ नहरें केवल सामान ढोने के लिए ही बनाई गई हैं; परंतु उनकी आमदनी से उनका खर्च और पूँजी का केवल सूद ही निकलता है। नहरों को सामान ढोने में उड़ीसा, सिंध, मद्रास और दक्षिण-बंगाल के, नदियों के मुहानेवाले स्थानों में ही सफलता मिल सकती है, जहाँ रेलों के लिए पुल बनाना बहुत कठिन, एवं बड़े ख़र्च का काम है।

जहाज़—अति प्राचीन काल से लेकर उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक भारतबर्ष अपने ही जहाज़ों तथा जहाज़-चलानेवालों के बल पर तटीय तथा विदेशी व्यापार करता था। पश्चात् यह कार्य क्रमशः बंद हो गया। वणिक-बुद्धि-प्रधान अंगरेज़ व्यवसाई भारतवासियों को इस से लाभ उठाते देखना सहन न कर सके। वे यहाँ से जहाज़ों के उपयोगी सामान अपने देश को लेजाने, और वहाँ ही जहाज़ बनाने लगे। अब भारतवर्ष का तटीय तथा सामुद्रिक व्यापार विदेशी जहाज़ों द्वारा होता है, इससे हमें करोड़ों रुपया उन जहाज़ों को देना होता है। यहाँ अधिकतर माल अंगरेज़ी जहाज़ों से

आता जाता है, शेष विशेषतया जापान, जर्मनी, अमरीका इटली आदि देशों के जहाजों से।

इस परिस्थिति में सुधार करने की ओर यथेष्ट ध्यान नहीं दिया जाता। बहुत आंदोलन होने के बाद सरकार ने सन् १९२३ ई० में 'इंडियन-मरकेंटाइल-मेरीन-कमेटी' की नियुक्ति की थी, जिसका उद्देश्य यह जाँच करना था कि भारतीय जहाज चलाने, तथा जहाज बनाने के काम में किन-किन उपायों से उन्नति हो सकती है। इस कमेटी की सिफारिश के अनुसार डफरिन-नामक बेड़े पर जहाजों के कर्मचारियों तथा एंजिनियरों की शिक्षा की व्यवस्था की गई है। परंतु इस शिक्षा का उपयोग ही क्या है, जबकि कोई स्वदेशी जहाज़ी बेड़ा ऐसा न हो, जिसमें वे काम कर सकें! और, भारतवर्ष का कोई व्यापारिक जहाजी बेड़ा तभी सफलता-पूर्वक काम कर सकता है, जबकि यहाँ की सरकार उसकी उन्नति तथा हित-रक्षा का उसी प्रकार ध्यान दे, जैसा अन्य देशों की सरकारें अपने-अपने यहाँ के जहाजों के काम की ओर देती है। जो जापान सत्तर वर्ष पूर्व जहाजों के संबंध में बिल्कुल पिछड़ा हुआ था, उसने अपनी राष्ट्रीय सरकार की सहायता से अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति में एक प्रमुख स्थान प्राप्त कर लिया है, और भारतवर्ष, सरकार की विरोधी नहीं तो उदासीनता-मूलक और निष्क्रियात्मक नीति के कारण, स्वावलंबी से परावलंबी हो गया है।

यहाँ कुछ स्वदेशी जहाज़-कंपनियाँ अपने जहाज़ चलाती हैं, परंतु उन्हें विदेशी कंपनियों की भीषण प्रतियोगिता सहनी पड़ती है। सन् १९२८ ई० में श्री० हाजी ने भारतीय व्यवस्थापक सभा में इस विषय का प्रस्ताव उपस्थित किया था कि भारत का तटीय व्यापार भारतीय जहाज़ों के लिए सुरक्षित किया जाय, यदि कोई मिश्रित पूँजी की कंपनी जहाज़ चलाए तो उसका संचालन, प्रबंध और व्यवस्था अधिकांश में भारतीयों द्वारा

हो। सरकार को इस प्रस्ताव में जातीय भेद-भाव-वृद्धि की गंध प्रतीत हुई, और उसने इसे टाल ही दिया।

अगर भारतवर्ष अपने आयात-निर्यात का काम अपने जहाज़ों द्वारा करे, तो उसे प्रतिवर्ष करोड़ों रुपए (जो अब विदेशों को जाते हैं) किराए के बचते रहें, और भिन्न-भिन्न श्रेणियों के हज़ारों आदमियों को रोज़गार मिल जाय। परंतु यहाँ भारत-सरकार इस ओर उदासीन है। व्यापारिक जहाज़-निर्माण करना या इस उद्योग को प्रोत्साहित करने के लिए आर्थिक सहायता देना तो दूर रहा, वह स्वयं अपने लिए जो सामान मगाती है या अपनी ओर से सामान बाहर भेजती है, उसके भी लाने-लेजाने का अवसर देशी कंपनियों को नहीं देती। इसमें संदेह नहीं कि सरकार की बाधाओं और उदासीनता की वर्तमान नीति अत्यंत हानिकारक और निंदनीय है। जब तक इसका परित्याग न होगा, जहाज़ बनाने के उद्योग का भविष्य बिलकुल अंधकारमय रहेगा, तथा सामुद्रिक व्यापार भारत के लिए यथेष्ट फल-प्रद न हो सकेगा।

बंदरगाह—भारतवर्ष के आधुनिक व्यापार में बंदरगाहों का बड़ा महत्व है। अब तो हमारे व्यापार की दिशा ही बंदरगाहों की ओर है। वहाँ पहुँचने वाले माल का परिमाण खूब बढ़ गया है। बंदरगाहों में माल दो उद्देश्यों से तो जाता ही है, वहां से जहाज़ों द्वारा विदेशों में में जाना, और दूसरे बंदरगाहों में जाना। इसके अतिरिक्त, उसका एक कारण रेलवे महसूल संबंधी वर्तमान नीति भी है। जैसाकि पहले कहा गया है, यहां रेलें बंदरगाहों पर जानेवाले कच्चे माल पर जो महसूल लेती हैं, वह उस महसूल की अपेक्षा कम होता है, जो उस बंदरगाह के निकटवर्ती किसी दूसरे स्थान के लिए भेजा जाय। इस लिए जिस व्यापारी को किसी ऐसे कारखाने के लिए कच्चा माल भेजना हो जो किसी बंदरगाह के निकट

हो, तो उसे पहले बंदरगाह पर माल भेजने में किफायत रहती है। अस्तु, विविध कारणों से आधुनिक काल में बंदरगाहों पर माल बहुत भेजा जाता है। पुनः हमारे यहाँ विदेशी माल की खपत गत दशाब्दियों में बहुत बढ़ी है, यह माल अन्य देशों से हमारे बंदरगाहों पर ही आकर उतरता है। माल के इस आने और जाने की वृद्धि ने बंदरगाहों को विशेष महत्व प्रदान कर दिया है। बड़े-बड़े जहाज़ों के प्रचलित होजाने के कारण प्राचीन काल के बहुत-से बंदरगाह अब व्यापार के लिए उपयोगी नहीं रहे हैं। इसके विपरीत, कुछ विशेष बंदरगाहों की विलक्षण उन्नति हुई है। भारत सरकार की, विदेशी व्यापार में, विशेषतया इंगलैंड से होनेवाले व्यापार में खूब दिलचस्पी है, इस लिए वह बंदरगाहों की उन्नति में काफी ध्यान देती है।

हवाई जहाज़—पिछली शताब्दी तक यातायात तथा आमोदरफ्त के प्रायः दो ही मार्ग थे, स्थल-मार्ग और जल-मार्ग। अब वायु-मार्ग का भी उपयोग होने लगा है और क्रमशः बढ़ता जा रहा है। भारतवर्ष में इसकी वृद्धि की बहुत संभावना है, कारण, वायु-मार्ग की दृष्टि से इस देश की प्राकृतिक स्थिति बहुत अनुकूल है। उस समय को छोड़ कर, जबकि जल बर्साने वाली हवाएँ चलती हैं, यहाँ की जल-वायु आदर्श है। हवाई जहाज़ और उनके उतरने के स्थान तथा ठहरने के स्टेशन, और प्रकाश-भवन आदि बनाने में रेलवे लाइन और रेलवे स्टेशन आदि की अपेक्षा कम खर्च होता है। अभी यहाँ हवाई जहाज़ों के लिए कच्चे माल आदि का भारी सामान ढोना कठिन है, परंतु जब बहुत-से हवाई जहाज़ जाने लगेंगे तो यह कठिनाई न रहेगी। सोने और चाँदी का माल ढोने के लिए हवाई जहाज़ बहुत ही उपयुक्त हैं। उन पर बहुत कम लोगों के हाथ लगते हैं, इसलिए चोरी का

डर कम रहता है। इसी से हवाई जहाज़ पर बीमे की दर कम रहती है।

भारतवर्ष के बड़े-बड़े नगर हवाई जहाज़ द्वारा जोड़े जा चुके हैं, बीच में स्थान-स्थान पर हवाई जहाज़ों के उतरने के लिए जगह तैयार की जा रही है। हवाई जहाज़ से यात्रा करने या डाक भेजने में समय की बहुत बचत होती है। यदि कोई यात्री बंबई से कलकत्ता रेल-द्वारा आवे, और फिर जहाज-द्वारा कलकत्ता से रंगून जावे तो उसे रास्ते में कम से कम पाँच दिन लग जायँगे। लेकिन हवाई जहाज़ केवल २४ घंटे में बंबई से रंगून पहुंच सकता है। इससे स्पष्ट है कि भारतवर्ष और वर्मा का व्यापारिक संबंध बढ़ाने में हवाई जहाज़ों की विशेष उपयोगिता है। भारतवर्ष का अन्य देशों से भी वायु-मार्ग द्वारा संबंध बढ़ता जा रहा है।*

डाक और तार—डाक और तार से भी व्यापार की वृद्धि होती है। यह कार्य सरकार द्वारा संचलित होता है। डाक और तार विभाग अपने काम के लिए हवाई जहाज़ों, रेलों, मोटरों, और जहाज़ों का उपयोग करता है। इस विभाग का सन् ३५-३६ ई० का काम नीचे लिखे अंकों से मालूम हो जायगा:—

डाक में भेजी गई कुल वस्तुओं की संख्या	१, १७, ६५,	लाख
रजिस्टर्ड वस्तुओं की संख्या	४, २६,	,,
बीमे द्वारा भेजी गई वस्तुओं की संख्या	३३,	,,
बीमों का मूल्य	रु० ६६ २५,	,,

* श्री० रामनारायण जी मिश्र कृत 'भारतवर्ष का भूगोल' के आधार पर।

डाक महसूल मिला	रु० ६,७४,	लाख
मनिआर्डरों की संख्या	४, ०९,	,,
मनिआर्डरों का मूल्य	रु० ७६, ६१,	,,
पोस्टल आर्डर बिके, उनका मूल्य	रु० ६,	,,
वी० पी० द्वारा संग्रह किया गया	रु० १८,६७,	,,

इस वर्ष इस विभाग की कुल आय ११ करोड़ ४८ लाख रुपया हुई, और खर्च १० करोड़ ६८ लाख रुपया हुआ। कुल डाकखानों की संख्या लगभग २४ हज़ार है। उक्त वर्ष के अंत में मेल लाइन (डाक जाने का मार्ग) १ लाख ६६ हज़ार मील थी, और इसमें १ लाख २० हज़ार आदमी काम करते थे। वर्ष के अंत में तार की लाइन लगभग १,०६,७०० मील तक थी। तार के कार्य में अधिक विस्तार किया गया। इस साल देश तथा विदेशों में पौने दो करोड़ तार भेजे गए जिनसे लगभग दो करोड़ रु० की आमदनी हुई।

बेतार का तार, और टेलीफोन—बेतार के तार द्वारा एक नगर से दूसरे नगर में, तथा अन्य देशों के प्रधान नगरों में समाचार बहुत जल्द आ जा सकता है। समुद्र-पार के स्थानों में, अथवा समुद्र में एक जहाज़ से दूसरे जहाज़ पर समाचार भेजने के लिए यही साधन काम में लाया जाता है। बर्मा-रहित भारतवर्ष में बेतार के तार के अब तक २८ ऑफ़िस नीचे-लिखे स्थानों पर खुल चुके हैं—इलाहाबाद, बंबई, कलकत्ता में २, दिल्ली, डायमंड-टापू, जटोव, बसीन, चडूबा, कराँची में २, लाहौर, मदरास में ३, मऊ, नागपुर, पेशावर, पूना, चटगांव, सैंडोवी, जोधपुर, पोर्ट ब्लेयर (कालापानी), क्वेटा, सैंडहैड्स में २, विक्टोरिया पोयँट, और सिकंदराबाद। इन आफिसों में केवल पोर्ट ब्लेयर चडूबा और विक्टोरिया पोयँट ही से जन-साधारण के तार भेजे जाते हैं।

रेडियो द्वारा समाचार भेजने की ऐसी व्यवस्था होगई है कि वक्ता का भाषण या गाना-बजाना हजारों मील दूर के आदमी अपने-अपने घरों में इस यंत्र के पास बैठ कर अच्छी तरह सुन सकते हैं। रेडियो-कंपनियाँ इसके द्वारा चीज़ों का विज्ञापन करने लगी हैं, उदाहरणवत् कुछ स्थानों में नई-नई पुस्तकों का परिचय दिया जाने लगा है।

टेलीफोन का अधिकतर संबंध एक ही देश के अन्दर भिन्न-भिन्न स्थानों से या कहीं-कहीं एक ही नगर के भीतर रहता है। बड़े-बड़े शहरों में एक जगह से दूसरी जगह जाने-आने में काफ़ी समय लगता है; टेलीफोन के द्वारा व्यवसाई अपनी-अपनी दुकान या दफ़्तर में बैठे हुए कई-कई मिनट तक बातचीत कर सकते हैं। भारतवर्ष में डाक और तार विभाग द्वारा स्थापित टेलीफ़ोन-एक्सचैंज कार्यालय ३३० हैं, अर्थात् कोई आदमी टेलीफोन के एक कार्यालय से इतने स्थानों के आदमियों से बातचीत कर सकता है। सन् १९३६ ई० में टेलीफोन से सरकार को ८१ लाख रुपए की आमदनी हुई। कुछ स्थानों में टेलीफोन की व्यवस्था प्राइवेट कंपनियों द्वारा की गई है।

व्यापार के साधनों की उन्नति और उस का प्रभाव— माल ढोने की उन्नति के कारण, देश के भीतर एक जगह से दूसरी जगह तथा बंदरगाहों से माल का आना-जाना बढ़ा है। रेलों ने नई सड़कों की मांग बढ़ादी है, व्यापार के पुराने रास्तों को बदल दिया है, और प्राचीन मंडियों की अवनति करके नए व्यापार-केन्द्र खोल दिए हैं, जो रेलवे लाइनों के किनारे बसे हुए हैं। रेलें और माल ढोने वाली मोटरें पुराने ढंग की बैल-गाड़ियों तथा लद्दू जानवरों का काम कर रही हैं। किंतु देश के भीतरी भागों में अभी उनकी पूरी पहुँच नहीं हुई है। सामान-ढुलाई का खर्च कम हो गया है। रेलों और जहाज़ों की, माल

ढोने की दर धीरे-धीरे कम हो जाने के कारण भारतवर्ष के देशी और विदेशी व्यापार की वृद्धि में सहायता मिली है। अब बंदरगाहों की उन्नति हो रही है; क्योंकि देश का माल यहीं से आकर देश-भर में फैलता है। अभी व्यापार के विविध साधनों की उन्नति की बहुत आवश्यकता है। साथ ही रेलों और जहाज़ों आदि पर विदेशी कंपनियों का प्रभुत्व होने से उनसे भारतीय व्यापार को यथेष्ट लाभ न पहुँच कर उसको बहुधा क्षति पहुँचती है; उन पर भारतीय जनता का ही नियंत्रण होना चाहिए।

उन्नीसवाँ परिच्छेद

देशी व्यापार

प्राक्कथन—पदार्थों के विनिमय की आवश्यकता पहले बताई जा चुकी है। यह भी लिखा जा चुका है कि आज-कल अधिकांश विनिमय-कार्य रुपए-पैसे द्वारा होता है। हम अपनी चीज़ बेचकर रुपया लेते हैं, और रुपए से हम अपनी आवश्यकता की चीज़ें खरीदते हैं। इस खरीद-फरोख्त या क्रय-विक्रय के कार्य को व्यापार कहते हैं। व्यापार दो तरह का होता है—देशी और विदेशी। देशी व्यापार देश की सीमा के भीतर का व्यापार है। विदेश से आनेवाले और विदेश को जानेवाले माल के व्यापार को विदेशी व्यापार कहते हैं।

देशी व्यापार के भेद—इस परिच्छेद में देशी व्यापार का वर्णन किया जाता है। इसके दो भेद मुख्य हैं:—(१) आभ्यंतरिक या

भीतरी व्यापार, और (२) तटीय व्यापार जो समुद्र के तटवर्ती स्थानों में होता है। इनके संबंध में विस्तार से आगे लिखा जायगा। आज-कल सट्टे और जुए का भी, व्यापार से इतना घनिष्ट संबंध हो गया है कि कुछ लोग इनमें और व्यापार में कोई भेद नहीं समझते। ऊपर जिन व्यवसायों का उल्लेख है, उन्हें छोड़कर जो क्रय-विक्रय केवल तेज़ी-मंदी होने की संभावना पर, नफ़ा होने की आशा से, किया जाता है, उसे सट्टा ('स्पेक्यूलेशन') कहते हैं। इसमें बेचे तथा खरीदे गए माल को देना-लेना होता है कुछ दशाओं में माल के भाव के परिवर्तन के कारण होने वाला हानि-लाभ ही दिया-लिया जाता है। जो सौदा बेशुमार लाभ होने की आशा से, हैसियत से अधिक, किया जाता है, और जिसमें माल का देना-लेना नहीं होता, उसे जुआ कहते हैं। इसके लेन-देन की सुनवाई अदालत में नहीं होती।

आभ्यंतरिक व्यापार—इस व्यापार में निम्न-लिखित कार्यों का समावेश होता है :—(क) देश में उत्पन्न या तैयार किए गए पदार्थों को एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुँचा कर बेचना, या उन्हें विदेशों में बेचने के लिए बड़े-बड़े बंदरगाहों पर भेजना। (ख) विदेशों से देश के बंदरगाहों पर आए हुए माल को देश के भीतरी भागों में पहुँचा कर बेचना।

ज्यों ज्यों आमोदरफ़्त और यातायात के साधनों की उन्नति होती जाती है, भारतवर्ष का भीतरी व्यापार बढ़ता जाता है। लोगों की आर्थिक अवस्था सुधरने पर इसमें और भी अधिक प्रगति होने की आशा है। भीतरी व्यापार के महत्व का बहुधा ठीक-ठीक ध्यान में नहीं लाया जाता। विदेशों को होनेवाली निर्यात के बड़े-बड़े अंक भी, भारतवर्ष की कुल उत्पत्ति का बहुत थोड़ा-सा ही भाग होते हैं। एवं, यह ठीक है

कि निर्यात करने के बाद जो शेष रहता है, वह सब हमारे भीतरी व्यापार का द्योतक नहीं होता, कारण कि उसमें से कुछ हिस्से का तो उत्पादक ही उपभोग कर लेते हैं, वह विक्रयार्थ बाज़ार में नहीं जाता। व्यापार उन्हीं पदार्थों का होता है, जिनकी उत्पत्ति में से उत्पादकों के उपभोग के बाद कुछ परिमाण शेष रहने की संभावना हो। वर्तमान दशा में यहाँ बहुत-से किसान आदि उत्पादक, निर्धनता के कारण, उत्पन्न पदार्थ का कुछ ऐसा अंश भी बेचने के लिए वाध्य होते हैं, जिसकी स्वयं उन्हें ही आवश्यकता होती है।

भारतवर्ष के भीतरी व्यापार के पूर्ण एवं विश्वास-योग्य अंक नहीं मिलते। ऐसा अनुमान किया जाता है कि विदेशी व्यापार की अपेक्षा देशी व्यापार तिगुना है। परंतु इस तुलना में किसी प्रांत या रियासत के एक हिस्से ('ब्लाक') से दूसरे हिस्से में रेल या नहर द्वारा होनेवाले व्यापार का हिसाब सम्मिलित नहीं है। यदि यह शामिल किया जाय, तो भीतरी व्यापार विदेशी व्यापार की अपेक्षा कई गुना होगा। यह होते हुए भी यह निर्विवाद है कि देश की विशाल जन-संख्या को देखते हुए, अन्य देशों की तुलना में यह व्यापार अत्यंत कम है। इस का कारण कुछ-तो अधिकाँश लोगों का सादा रहन-सहन है, जिससे वे अपने निकट की वस्तुओं से ही अपना निर्वाह कर लेते हैं, और कुछ कारण यह भी है कि जनता में इतनी आर्थिक शक्ति ही नहीं कि वे बहुत से पदार्थों को उपभोग के लिए खरीद सकें।

तटीय व्यापार—तटीय व्यापार में वह सब व्यापार सम्मिलित होता है, जो समुद्र-तट के एक स्थान का, दूसरे स्थान से होता है; चाहे वह व्यापार स्वदेशी वस्तुओं का हो या विदेशी वस्तुओं का। इस प्रकार इस व्यापार के अंतर्गत ऐसे पदार्थों के व्यापार का भी समावेश होता है,

जिनके क्रय-विक्रय का देश के भीतरी भागों से कुछ संबंध न हो। परंतु ऐसे व्यापार का परिमाण थोड़ा ही होता है। अतः तटीय व्यापार अधिकतर देशी व्यापार का ही भाग माना जाता है। भारतवर्ष के तटीय व्यापार का बहुधा ६० प्रतिशत से अधिक केवल चार बड़े-बड़े बंदरगाहों से होता है। सबसे अधिक व्यापार कलकत्ते से होता है, उस का पृष्ठ-प्रदेश बहुत धनी और उपजाऊ है। कलकत्ते के बाद प्रायः बंबई, कराची, और मदरास का नंबर है। शेष व्यापार छोटे-छोटे कई बंदरगाहों में विभक्त है; इन में चटगांव प्रसिद्ध है। कुल तटीय व्यापार प्रतिवर्ष लगभग दो सौ करोड़ रुपए के माल का होता है। यदि भारतवर्ष का स्वदेशी व्यापारी बेड़ा हो, और उसे सरकार द्वारा यथेष्ट संरक्षण मिले तो यह व्यापार बहुत बढ़ सकता है। परंतु अभी तक सरकार ने इस ओर उदासीनता और निष्क्रियता का ही भाव रक्खा है, जिसके संबंध में विशेष पिछले परिच्छेद में लिखा जा चुका है। आवश्यकता है कि भविष्य में उसकी नीति में समुचित सुधार हो।

व्यापारी और उनका संगठन—कुछ वर्षों से व्यापार का परिमाण बढ़ रहा है; यदि जनता की आर्थिक स्थिति अच्छी होती तो व्यापार की वृद्धि और भी अधिक होती। अस्तु, हमारे व्यापार की प्रमुख संचालक बड़ी-बड़ी एजंसी-कंपनियाँ हैं, जो अधिकाँश में विदेशी हैं। इन कंपनियों की प्रधान शाखाएँ यहाँ के बड़े बंदरगाहों में है, कुछ ने अपनी छोटी शाखाएँ भिन्न-भिन्न शहरों में खोल रक्खी है। इन कंपनियों के नीचे का व्यापार प्रायः भारतवासियों के ही हाथ में है। इस प्रकार के व्यापार में मारवाड़ियों ने बड़ा भाग लिया है। इनके अतिरिक्त बंबई में पारसियों, भाटियों, बोहरों, मेमनों और खोजा लोगों ने, पंजाब में खत्रियों और मुसलमानों ने, बिहार और संयुक्त-प्रांत में बनियों (वैश्यों)

ने, बंगाल में मारवाड़ियों तथा मद्रास में चेट्टी और कोमाटियों ने बड़ी प्रवीणता दिखाई है।

अपने हितों और स्वार्थों की रक्षा के लिए व्यापारियों को भी संगठित होने की आवश्यकता है। योरपियन व्यापारियों ने संगठन का महत्व जानकर अपनी संस्थाएँ—चेंबर-आफ़्-कामर्स और ट्रेड-एसोसिएशन—क़ायम कर रक्खी हैं। भारतीय व्यापारियों ने भी जहाँ-तहाँ अपनी संस्थाएँ स्थापित की हैं; परंतु उनमें समुचित शक्ति नहीं है। रेलवे-कंपनियों तथा सरकार पर उनका यथेष्ट प्रभाव नहीं पड़ता। इसका एक कारण यह है कि भारतीय व्यापारियों में एकता नहीं. अनेक व्यापारी परस्पर में ईर्षा और अनुचित प्रतिस्पर्द्धा करते हैं। वे उधार देकर, माल का दाम गिराकर, या ग्राहकों को बहकाकर, जैसे-भी-बने अपना माल बेचना, नफा कमाना और दूसरे व्यापारियों को नीचा दिखाना चाहते हैं। ये सब बातें हमारे व्यापार की उन्नति में बड़ी बाधक हैं। कितने ही व्यापारी एक दूसरे पर तथा ग्राहकों पर मुकद्दमा चलाने में संकोच नहीं करते; और, मुकद्दमेबाजी में हमारा कितना द्रव्य और शक्ति नष्ट होती है, यह हम पहले लिख चुके हैं। व्यापारिक संस्थाओं तथा पंचायतों द्वारा इसे रोका जाना चाहिए। व्यापारिक संस्थाओं को व्यापारिक स्कूल, पुस्तकालय और वाचनालय आदि की स्थापना तथा सहायता करके देश में जनता के व्यापार-ज्ञान की वृद्धि करनी चाहिए।

तौल-माप और सिक्कों की विभिन्नता—हमारे अंतर्प्रांतीय व्यापार की वृद्धि में एक बाधा तौल-माप और सिक्कों की विभिन्नता है। गत वर्षों में इनकी एकता कुछ बढ़ी है, परंतु अभी यथेष्ट सुधार नहीं हो पाया है। अधिकतर व्यापार में अस्सी तोले का सेर माना जाता है,

तो अनेक स्थानों में कम या ज्यादह वज़न के सेर का भी प्रचार है। मध्य-प्रांत आदि में दाल चावल आदि माप कर दिए जाते हैं, इससे जब वहां कोई नया खरीददार पहुँचता है तो आरंभ में उसे हिसाब समझने में कठिनाई होती है। कपड़े आदि के माप में सोलह गिरह या छत्तीस इंच के गज़ का आम चलन है, तथापि कितनी ही जगह भिन्न-भिन्न माप के कच्चे गज़ का व्यवहार है। सिक्कों में ब्रिटिश भारत का रुपया यहाँ सर्वत्र कानूनन ग्राह्य है, किंतु कई देशी राज्यों में उनका अलग-अलग मूल्य का रुपया चलता है। प्रथक् सिक्का ढालने का अधिकार ऐसा है, जिसे देशी नरेश बहुत महत्व का मानते हैं, और सहज ही छोड़ना नहीं चाहते। हम तो उनके उन अधिकारों को ही महत्व देते हैं, जिनके द्वारा वे जनता का हित कर सकते हैं, और करते हैं। भारतवर्ष में राष्ट्रीयता की लहर चल रही है, हम राष्ट्रीय एकता की बड़ी-बड़ी बातें करते हैं, ऐसी दशा में व्यापार-क्षेत्र में ऐसी अनेकता चिंत्य है। राष्ट्र-हितैषियों को इस ओर समुचित ध्यान देना चाहिए, और अपनी-अपनी व्यक्तिगत भावनाओं को कुछ अंश में त्याग कर भी व्यापारिक एकता और राष्ट्र-निर्माण करने में योग देना चाहिए।

क्रय-विक्रय संबंधी असुविधाएँ—भारतीय व्यापार की एक प्रधान समस्या क्रय-विक्रय की जटिलता है। पहले कहा जा चुका है कि यहाँ अधिकतर किसान अशिक्षित और निर्धन हैं। वे क्रय-विक्रय संबंधी ज्ञान से वंचित होते हैं, और फल-स्वरूप उन्हें दोनों ओर से बड़ी हानि सहनी पड़ती है। पहले क्रय का विचार करें। किसान को बीज आदि ख़रीदना होता है, उसे अपने गाँव से बाहर का भाव मालूम नहीं होता और मालूम भी हो तो क्योंकि उसे माल थोड़े परिमाण में ख़रीदना होता है, उस के लिए किसी दूरवर्ती स्थान में जाकर उसे लाना कठिन होता

है। अनेक दशाओं में तो उसके पास नक़द दाम ही नहीं होते, उसे अपनी आवश्यकता की वस्तु उधार मोल लेनी होती है। अस्तु, गाँव का महाजन जिस भाव से उसे देता है, वह ले लेता है।

इसी प्रकार बेचने की बात है। बहुधा किसान को अपनी फसल का माल गाँववाले महाजन को ही बेचना होता है, जिसका वह प्रायः ऋणी रहता है। अधिकतर किसान को न बाहर की मंडियों का भाव मालूम होता है, और न उन्हें बाहर जाकर बेचने का सुभीता है; फलस्वरूप उन्हें अपने माल का जो-कुछ मूल्य मिलता है, उसी में संतोष करना होता है। कुछ-थोड़े-से किसान ऐसे होते हैं जिन्हें अधिक पैदावार बेचनी होती है, ये पास के किसी कस्बे की मंडी में जाकर बेचते हैं। यहाँ उन्हें कई प्रकार के शुल्क आदि देने होते हैं। चुँगी (म्युनिसिपल टैक्स) के अतिरिक्त, मंडी में गाड़ी ठहराने का शुल्क, दलाल की दलाली, माल की तुलाई, तथा गौशाला, मंदिर, प्याऊ आदि न-जाने उनसे क्या-क्या लिया जाता है। प्रथम तो बेचारे किसान को यही निश्चय नहीं होता कि उस का माल उचित भाव से बिक रहा है, और उसे ठीक ठीक दाम मिल रहे हैं; फिर, जब दाम मिलने लगते हैं तो उपर्युक्त विविध शुल्क आदि में उस की खासी रकम निकल जाती है।

क्रय-विक्रय संबंधी उपर्युक्त हानि को दूर करने का उपाय यह है कि स्थान-स्थान पर क्रय-विक्रय सहकारी समितियां स्थापित की जायँ। समिति के सदस्य को जिस, और जितने माल की आवश्यकता होती है, उसकी सूचना वह समिति को देता है। समिति बाज़ार के उतार-चढ़ाव का ध्यान रखते हुए इकट्ठा माल थोक भाव से खरीद लेती है और साधारण कमीशन लेकर अपने सदस्यों को, उनकी आवश्यकतानुसार, दे देती

है। इस से सदस्यों को बहुत किफायत रहती है। यह तो क्रय-संबंधी बात हुई। इसी प्रकार, समिति अपने सदस्यों का माल बेचने का उचित प्रबंध कर सकती है; वह बाजार संबंधी आवश्यक जानकारी प्राप्त करके माल को अंतिम खरीददार के हाथ बेचने का प्रयत्न कर सकती है, जिससे बीच के कई-एक दलालों की दलाली, तथा अन्य नाना प्रकार के शुल्क आदि से सहज ही छुटकारा होकर किसानों को अधिक-से-अधिक दाम मिलें।

दलालों की अधिकता—हमारी व्यापार-पद्धति में एक बड़ा दोष यह है कि उसमें दलाल बहुत अधिक होते हैं, चाहे पदार्थ का उपभोग भारतवर्ष में ही हो, या वह विदेश में भेजा जाता हो। उदाहरणार्थ चावल के व्यापार का विचार करें, इसमें कितने दलाल होते हैं! साधारणतः गाँव के आदमी चावल अपने गाँव के ही महाजन के हाथ बेच देते हैं। ये महाजन उसे रेल-किनारे के बाज़ारों के दुकानदारों या आढ़तियों के पास पहुंचा देते हैं। ये दुकानदार या आढ़तिए उस चावल को किसी ऐसी केंद्रीय मंडी के व्यापारियों के हाथ बेचते हैं जो चावल के व्यापार के लिए विशेष प्रसिद्ध हो।* इस मंडी के व्यापारियों से चावल को भिन्न-भिन्न स्थानों के दुकानदार मंगाकर स्थानीय उपभोक्ताओं को फुटकर बेचते हैं। इस प्रकार उत्पादकों से उपभोक्ताओं तक कई व्यक्ति इस व्यापार में भाग लेते हैं, और लाभ उठाते हैं। सहकारी समितियों का अच्छा संगठन हो तो इतने दलालों की

---

* यदि इस माल की निर्यात की जानी हो तो मंडीवाले इस को बंदरगाह पर भेजते हैं। फिर बंदरगाहवाले इस माल के चालान को उस एजंसीवालों के हाथ बेचते हैं, जो विदेशों को माल भेजने का कारोबार करती है।

आवश्यकता न रहे, और उत्पादकों को विशेष लाभ हो तथा उपभोक्ताओं को पदार्थ सस्ते मिलें।

दलालों की अधिकता का दूसरा उदाहरण पुस्तकों का कारोबार है। आज-कल कुछ स्थानों में साठ और सत्तर ही नहीं, पिछत्तर फी सदी तक कमीशन दिया और लिया जाने लगा है। जो आदमी इतना अधिक कमीशन लेते हैं, वे दूसरे कमीशन-एजंटों को पचास फी सदी के लगभग कमीशन पर माल बेच देते हैं, ये कमीशन-एजंट छोटे पुस्तक-विक्रेताओं को प्रायः पच्चीस फी सदी कमीशन देते हैं। ये पुस्तक-बिक्रेता अपने से छोटे पुस्तक-बिक्रेताओं को, अथवा अध्यापक, विद्यार्थी, पुस्तकालयाध्यक्ष आदि किसी विशेष श्रेणी के ग्राहकों को, अथवा दस-पाँच रुपए की इकट्ठी पुस्तक लेनेवाले साधारण ग्राहक को भी साढ़े-बारह फी सदी के लगभग कमीशन दे देते हैं। कुछ दुकानदार तो फुटकर ग्राहकों को, चाहे वे आठ आने की ही किताब क्यों न लें, कुछ-न-कुछ कमीशन काटते हैं। अस्तु, इस व्यापार में मूल बिक्रेता जिस पुस्तक पर ७५ फी-सदी कमीशन काट कर चार आने मूल्य लेता है, वह अंतिम ग्राहक या उपभोक्ता को एक रुपए में मिलती है; बीच के बारह आने दलालों में बँट जाते हैं। इससे उपभोक्ताओं को होनेवाली हानि स्पष्ट है। परंतु प्रकाशकों या लेखकों को भी इस पद्धति में विशेष लाभ नहीं। आरंभ में जिन लोगों के दिमाग में ऐसा अत्यधिक कमीशन देकर अपना माल निकालने की बात आई, उन्हें कुछ सफलता रही, पर अब तो वे भी बिक्री अधिक न होने की शिकायत कर रहे हैं। पुस्तकों का बाज़ार बिल्कुल बिगड़ गया है। जबकि पुस्तक का मूल्य एक रुपया रख कर उसे चार आने में बेचा जायगा तो प्रकाशक को इसमें कितना बचेगा, और वह लेखक को क्या पुरष्कार दे सकेगा! इस चार आने में बहुधा दो आने तो कागज़ और छपाई का खर्च होगा, शेष दो आने में प्रकाशक

अपना भी कुछ लाभ चाहेगा, फिर लेखक को जितना कम-से-कम दे सकेगा उतना कम देना उसके लिए स्वाभाविक ही है। इस दशा में उच्चकोटि की पुस्तकों की रचना कैसे हो सकती है ! यदि कहा जाय कि एक रुपए मूल्य की पुस्तक ऐसी रक्खी जाय, जिससे कागज़ छपाई आदि का खर्च दो आने से भी कम हो, तो यह ग्राहकों को सरासर लूटना है, और इसे व्यापार कहना भूल है। वास्तव में उत्पादक और उपभोक्ता के बीच में कई-कई दलालों का पड़ना अनुचित और निंद्य है। सहकारी विक्रय समितियों द्वारा इस विकराल दलाली-प्रथा का निवारण किया जाना चाहिए।

पदार्थों का भाव-ताव करने के विषय में—हमारे यहाँ प्रायः पदार्थों के दाम निश्चित नहीं होते; दुकानदार उसके अधिक-से-अधिक दाम मांगता है, और ग्राहक उसके कम-से-कम दाम लगाता है। बहुत देर तक वाद-विवाद और हाँ-ना के बाद उक्त दोनों दामों के बीच के किसी दाम पर सौदा तय होता है। यह हमारे दैनिक जीवन की बात बन गई है, और प्रायः हम इसे दोष नहीं मानते। पाठक तनिक विचार करें कि इस पद्धति में कितना समय और शक्ति नष्ट होती है। बाजार से सौदा लाना कितना कठिन होगया है। भोले-भाले आदमियों की तो बात ही क्या, अच्छे-अच्छे समझदार आदमी भी कभी-कभी खूब ठगे जाते हैं। इस संबंध में कुछ विचार-सामग्री उपस्थित करने के लिए हम यहाँ एक मुसलमान सज्जन और महात्मा गाँधी के, 'हरिजन-सेवक' में प्रकाशित पत्र-व्यवहार का आवश्यक अंश देते हैं।

मुसलमान सज्जन ने लिखा था, "मैं व्यापारी वर्ग का आदमी हूँ, इस लिए व्यापार में जो अनुचित व्यवहार चलता है; माल, गाहक देखकर जिस दर-दाम में बेचा जाता है; उस सबसे मैं वाकिफ़ हूँ। एक ही प्रकार

की, और एक ही क़ीमत की ख़रीदी हुई चीज़, एक ही भाव से बेचने के बजाय किसी को अमुक भाव से तो किसी को दूसरे ही भाव से चिपकादी जाती है। मसलन, फाउंटेन-पेन पांच रुपए की ख़रीदकर किसी को छः रुपए में किसी को आठ रुपए में, तो किसी भोले-भाले बुद्धू को दस रुपए में चिपकादी जाती है। इस व्यवहार के प्रति बरसों से मुझे अरुचि पैदा हो गई है। इसे स्व०. एनीबेसेंट ने 'सफेद लूट' की उपमा दी है। पर लाचार हूँ कि देश में और विदेश में हम भारतीय व्यापारी शराफ़त के साथ व्यापार करना समझते ही नहीं। बस, हम गाहक का मुहँ देखकर ही व्यापार करते हैं। इसे मैं गाहकों के साथ की जाने वाली ठगी समझता हूँ। पर अगर एक ही भाव रखकर व्यापार करता हूँ तो व्यापार चलता नहीं। कुछ नीति-शास्त्री तक इसमें न तो दोष या पाप समझते हैं, न ठग-विद्या; कारण यह देते हैं कि तुम माप या तोल में अगर ज्यादा या कम देते-लेते हो, सड़े या कटे-फटे खराब माल को अच्छा कहकर गाहकों को धोखा देते हो, तभी उसे ठगी कहेंगे; बाक़ी, भाव-ताव तुम अच्छी तरह समझकर गाहक से पैसा लेते हो तो इसमें धोखेबाजी कहाँ हुई? किसी को एक माल अमुक क़ीमत में दिया, दूसरे को कम क़ीमत में दिया, तीसरे को सवाई या ड्योढ़ी क़ीमत लेकर दिया, यह सब तो बेचने और खरीदनेवालों की राजी-खुशी से हुआ, इसलिए इसमें कुछ भी दोष नहीं कहा जा सकता। पर मैं तो पाप का अर्थ, दूसरों को नुकसान पहुँचाना, दूसरों के दिल को दुखाना, दूसरों का अनिष्ट करना ही मानता हूँ। इसलिए इस दृष्टि से देखते हुए उसमें ठगपन तो है ही।"

इस संबंध में महात्मा जी ने लिखा था, "व्यापार में अनीति को जरा भी स्थान नहीं। चाहे-जितना नुकसान उठाना पड़े तो भी ईमानदारी को नहीं छोड़ना चाहिए। अंत में इसका परिणाम

अच्छा ही आता है, पर ईमानदारी अच्छे परिणाम पर निर्भर न रहे, मर्जी-मुताबिक़ दाम लेने की छूट भले हो, पर जुदे-जुदे गाहकों से जुदी-जुदी क़ीमत लेना अनुचित ही माना जायगा। किसी स्नेही या ग़रीब आदमी से कम दाम लेने में मुझे कोई दोष दिखाई नहीं देता। किसी चीज का दाम धनिकों के लिए एक, और ग़रीबों के लिए दूसरा—यह भी हो सकता है। उसमें कोई धोखेबाजी नहीं।"

गरीबों से कम दाम लेकर हम उनकी, तथा उनके रूप में देश तथा समाज की सेवा में कुछ भाग ले सकते हैं। तथापि महात्माजी ने जो धनिकों से एक दाम और गरीबों से दूसरा दाम लेने की बात लिखी है, वह संभव है कुछ पाठकों को चौंकानेवाली प्रतीत हो। निस्संदेह, यदि यह प्रकट रूप से सूचित कर दिया जाय कि किसी वस्तु का धनिक से एक दाम है, और ग़रीब से दूसरा, उदाहरणवत् धनवान से एक रुपया और गरीब से ग्यारह या बारह आने, तो आधुनिक जगत को देखते हुए, अनुमान होता है कि उस वस्तु के खरीदनेवालों में नब्बे प्रतिशत से भी अधिक अपने आप को गरीब कह कर उस वस्तु को सस्ते भाव से लेना पसंद करेंगे। वास्तव में, कोई व्यक्ति गरीब है या नहीं, इसके निर्णय का भार तो दुकानदार पर ही होगा, वह स्वयं सोच विचार कर निश्चय करे कि किस व्यक्ति से उस वस्तु के मूल्य में रियायत करे, और वह रियायत कितनी हो; क्योंकि मनुष्यों को आर्थिक स्थिति की अनेक श्रेणियाँ है; केवल दो ही नहीं, जिनमें से एक को धनवान और दूसरी को गरीब कहा जा सके।

इस संबंध में हमारा मत है कि वस्तुओं के दाम निर्धारित रहने चाहिए। प्रत्येक वस्तु के निश्चित दाम हों, और जिन वस्तुओं के दाम उन पर लिखेजाने संभव हो, उन पर लिखे रहें। जिस-किसी व्यक्ति की आर्थिक स्थिति ऐसी जान पड़े कि अत्यंत आवश्यकता होने पर भी

वह उस दाम से उसे न ले सके, उस व्यक्ति के साथ, जैसी उचित समझी जाय, मूल्य में रियायत कर दी जाय। स्मरण रहे कि वस्तुओं को निर्धारित दाम पर बेचने में, अथवा गरीबों के साथ उपर्युक्त प्रकार की रियायत करने में यह बात न होनी चाहिए कि प्रत्येक चीज के मन-माने ड्योढ़े-दूने रख दिए जायँ। क़ीमत निर्धारित करने में मुनाफ़ा साधारण सा-ही जोड़ा जाना चाहिए।

माल का विज्ञापन—विज्ञापन आधुनिक व्यापार की जान है। किसी का माल कितना ही अच्छा क्यों न हों, जबतक दूसरे आदमियों को उसकी जानकारी न हो, वे उसे कैसे मंगाएँ! हमारे यहाँ विज्ञापन का प्रचार क्रमशः बढ़ रहा है। उसी का यह प्रताप है कि सुख-संचारक-कंपनी बंबई से घड़ियाँ मथुरा मँगाकर, बंबई के निकटवर्ती स्थानों तक के ग्राहकों के हाथ सफलता-पूर्वक बेच रही है। डोंगरे का बालामृत, पंडित ठाकुरदत्तजी की अमृतधारा, बाबू हरिदास की 'चिकित्सा चंद्रोदय' पुस्तक आदि का नाम आज-दिन नगर-नगर ही नहीं, गांवों तक में प्रसिद्ध है। यद्यपि अभी यहां विज्ञापनबाजी बढ़ने की बहुत गुंजायश है, गत वर्षों में इस की खासी वृद्धि हुई है; बहुत से व्यापारी इस मद में काफ़ी ख़र्च करते हैं।

हमारे अधिकतर अख़बार विशेषतया विज्ञापनों की आमदनी के ही भरोसे चल रहे हैं। इससे विज्ञापक और ग्राहकों के अरिरिक्त समाचार-पत्रों के प्रकाशकों और पाठकों को भी लाभ है; उन्हें साधारण मूल्य में काफ़ी पाठ्य सामग्री मिल जाती है। परंतु इस का दूसरा पहलू भी है। कितने ही व्यापारी अपनी चीज़ का विज्ञापन देने में झूठ-सच का विचार नहीं करते। अपनी चीज के गुणों का खूब, बढ़-चढ़ कर बखान करते हैं। उस में बहुधा नब्बे फ़ी सदी तक झूठ होता है; हाँ, भाषा

आकर्षक और लच्छेदार होती है। ग्राहक झूठे प्रलोभनों में फंस जाते हैं। उनके द्रव्य की हानि होती है। इसका परिमाण यह होता है कि अनेक आदमियों का विज्ञापनों पर विश्वास नहीं होता। वे विज्ञापनों को पढ़ते तक नहीं। अस्तु, यहां विज्ञापन-वृद्धि की आवश्यकता है, पर विज्ञापन का अर्थ झूठा प्रचार; और उसका उद्देश्य जैसे-भी-बने लोगों के पैसे ठगना, नहीं होना चाहिए।

व्यापारिक सफलता और ईमानदारी—हमने इस परिच्छेद में व्यापार की विविध बाधाओं के संबंध में लिखा है; हम व्यापार की बहुत उन्नति और वृद्धि चाहते हैं। परंतु क्या व्यापारिक सफलता के लिए ईमानदारी आवश्यक नहीं है! आज-कल खाने-पीने के पदार्थों में कैसी हानिकारक मिलावट रहती है, इसका उल्लेख हम 'उपभोग के पदार्थ' शीर्षक परिच्छेद में कर चुके हैं। व्यापारी अधिक मुनाफा पाने के लिए ग्राहकों को तरह तरह से धोखा देते हैं। खराब तथा पुरानी चीज को अच्छी और नई कहना तो साधारण बात है। दीजानेवाली चीज को कम तोलना और लीजानेवाली को अधिक, यह भी व्यापार-कुशलता का लक्षण माना जाता है। हाथ के बुने साढ़े ग्यारह या पौने बारह गज के थान को बारह गज का कहकर बेचा जाता है। माल ऊपर कुछ-और रहता है, तथा भीतर कुछ-और; संख्या में कुछ कमी करदी, या बीच में कुछ चीजें टूटी फूटी या खराब रख दी जाती हैं। क्या यह व्यापारिक सफलता है?

इन बातों से क्षणिक लाभ भले ही प्रतीत होती हो, अंततः सफलता वही है, जिसका आधार छल-कपट न होकर ईमानदारी और शुद्ध व्यवहार हो। फिर, यदि बेईमानी से व्यापार करके किसी ने कुछ द्रव्य जोड़ भी लिया तो कौन विवेकशील व्यक्ति इसे अभिनंदनीय

की। ऐतिहासिक प्रमाणों से यह भली भाँति सिद्ध हो चुका है कि ईसवी सन् के सहस्रों वर्ष पहले से लेकर १८वीं शताब्दी तक भारतवर्ष अन्य देशों में विविध बढ़िया और बहु-मूल्य शिल्पीय पदार्थ भेजता था। चीन, साइबेरिया, फ़ारस, बैबिलन, जेनेवा, मिसर आदि देश अपने वैभव के दिनों में भारतीय कारीगरी, व्यापार और संपत्ति से ईर्ष्या किया करते थे।

जैसा कि श्री० राधाकृष्णजी झा ने लिखा है. ※ ईसवी सन् के प्रारंभ में भारतवर्ष का विदेशी व्यापार काफ़ी बढ़ चुका था। तभी तो सुप्रसिद्ध रोम-इतिहास का लेखक प्लिनी इस बात की शिकायत करता है कि कम-से-कम साढ़े पांच करोड़ 'सेस्टर्स' (७० लाख रुपए) का सोना और चांदी रोम से प्रतिवर्ष भारतवर्ष को जाता है। आठवीं शताब्दी से क्रमशः तुर्कों का बल बढ़ा, यहाँ तक कि सन् १४९३ ई० में कुस्तुनतुनिया उनके हाथ आ गया। फिर धीरे-धीरे भूमध्य-सागर और मिसर पर भी इनका अधिकार हो जाने के कारण, योरपवालों को इस रास्ते से व्यापार करके मनमाना लाभ उठाने में बाधा पड़ने लगी। अंततः सन् १४९८ ई० में पुर्तगाल वालों ने "उत्तम आशा"-अंतरीप के रास्ते अफ्रीका के गिर्द होकर, भारतवर्ष आने का रास्ता ढूँढ़ निकाला, और पूर्वी व्यापार पर एकाधिपत्य प्राप्त कर लिया। धीरे-धीरे हालैंड, इँगलैंड और फ्रांस-वालों ने भी अपनी-अपनी कंपनियाँ खोलीं। इन सबमें खूब लड़ाई-झगड़े होते रहे। अंत को अँगरेज़ों की जीत हुई। उन दिनों सड़कें, बंदरगाह, माल ढोने के साधन आदि उन्नत अवस्था में नहीं थे। सफ़र लंबा था, ख़र्च बहुत पड़ता था। तो भी भारत का व्यापार (अधिकांश-शिल्पीय) कम लाभदायक नहीं था। सन् १६८२ ई० में ईस्ट इंडिया-कंपनी ने १९० प्रति-सैकड़े का मुनाफ़ा बाँटा था।

※ 'भारत की सांपत्तिक अवस्था' के आधार पर।

मध्य-काल के अंधकार-युग में इस देश के आँतरिक कलह, फूट और आलस्य ने क्रमशः इसके आर्थिक महत्व का नाश कर दिया। तथापि मुग़ल-शासन के अधिकाँश समय तक यहाँ के कृषक और कारीगर सुख ही की नींद सोते रहे। बादशाहों की सुरुचि तथा शौक़ीनी के कारण, इस देश का कला-कौशल और शिल्प विदेशों के लिए आदर्श बना रहा। सत्रहवीं ही नहीं, अठारहवीं शताब्दी में भी इस देश के बने हुए ऊनी, सूती और रेशमी वस्त्रों तथा खाँड़, रंग, मसाले आदि अन्य द्रव्यों के लिए सारा योरप लालायित रहता था। किंतु उन्नीसवीं सदी से परिस्थिति पलटने लगी। पाश्चात्य देशों ने भौतिक विज्ञान की उन्नति एवं कोयले और लोहे का उपयोग करके, भाप की शक्ति से कल-कारख़ाने चलाने शुरू किए। इससे वहां धीरे-धीरे उत्पादन-व्यय घट गया, और वे अपनी ज़रूरत की चीज़ें वहीं बनालेने लगे।

सन् १८६९ ई० में स्वेज़-नहर खुल जाने के कारण, भारत से योरप का तीन महीने का सफ़र सिर्फ़ तीन ही हफ्ते में तय होने लगा। इससे किराए में भी बहुत बचत होने लगी। फिर, भारतवर्ष में रेलें निकल जाने के कारण, यहाँ के भीतरी भागों का बंदरगाहों से संबंध हो गया। इससे योरपियन कारख़ानों के दलाल यहाँ के दूर-दूर के देहातों में पहुँचकर, अन्न तथा कच्चा माल बंदरगाहों पर सुगमता से लाकर विदेशों को भेजने लगे। इस प्रकार लगभग सन् १८७० ई० से भारतवर्ष विशेषतः कच्चे पदार्थों का निर्यात करनेवाला रह गया।

सन् १८८९ ई० के लगभग परिस्थिति में कुछ सुधार होने लगा। भारतवर्ष की जूट और रुई की मिलों की बदौलत यद्यपि हमारे तैयार माल के निर्यात तथा कच्चे पदार्थों के आयात में कुछ थोड़ी-सी वृद्धि हुई, तथापि अभी देश का अधिकाँश आयात तैयार माल का और अधिकाँश निर्यात कच्चे पदार्थों का ही होता है।

व्यापार का परिमाण—इस बात पर आगे विचार किया जायगा कि वर्तमान परिस्थिति में व्यापार की वृद्धि से भारतवर्ष को कैसे अधिक हानि हो रही है। यहाँ हम भारतवर्ष के विदेशों से होनेवाले समुद्री व्यापार के परिमाण के संबंध में कुछ बातों का उल्लेख करते हैं। अब से सौ वर्ष पहले विदेशी व्यापार (आयात तथा निर्यात) प्रति वर्ष कुल मिलाकर लगभग पच्चीस करोड़ रुपए के माल का होता था। विगत वर्षों में इसके मूल्य का परिमाण छः सौ करोड़ रुपए तक रह चुका है। यद्यपि किसी-किसी वर्ष उसके पहले वर्ष की अपेक्षा इस परिमाण में कुछ कमी भी हुई है, साधारणतया योरपीय महायुद्ध के समय तक इसमें क्रमशः वृद्धि ही हुई। महायुद्ध के समय यह व्यापार कम रह कर, उसके बाद फिर बढ़ा। किंतु इधर कई वर्षों से इसका परिमाण कम ही है, इसका कारण कुछ अंश में जनता की राष्ट्रीय जागृति है, जिससे स्वदेशी उद्योग-धंधों की उन्नति की ओर अधिक ध्यान दिया जा रहा है। इस समय यह व्यापार प्रति वर्ष लगभग ढाई-सौ करोड़ रुपए के माल का होता है।

व्यापार का स्वरूप—अब हम यह बतलाते हैं कि हमारे आधुनिक विदेशी व्यापार का स्वरूप क्या है। (क) पहले भारतवर्ष से खाँड़, नील, दुशाले, मलमल आदि तैयार माल विदेशों को जाता था; किंतु अब अन्न या रुई, सन, तेलहन आदि कच्चे माल का, जिसकी विदेशी कारख़ानों को आवश्यकता होती है, निर्यात बढ़ रहा है। विदेशों से आनेवाला माल प्रायः तैयार पदार्थों का होता है, अधिकतर हम कच्चा माल भेजते हैं, और तैयार माल मँगाते हैं। (ख) भारतवर्ष का निर्यात, आयात की अपेक्षा बहुत अधिक क़ीमत का होता है। हमारे निर्यात और आयात की क़ीमत में जो अंतर होता है, उसकी अपेक्षा

हमारे व्यापार की बाक़ी की रक़म बहुत कम होती है। (इसका कारण आगे बतलाया जायगा।) यह व्यापार की बाक़ी क़ीमती धातुओं के स्वरूप में आती है, जिसकी मात्रा बहुत मालूम पड़ने पर भी भारतीय जन-संख्या की दृष्टि से बहुत कम होती है। (ग) हमारे आयात का बहुत बड़ा भाग अकेले इँगलैंड से ही आता है, जो हमारे निर्यात का अपेक्षाकृत बहुत कम भाग लेता है। (घ) व्यापार का नफ़ा, जहाज़ का किराया तथा बीमे और साहूकारी आदि की आमदनी अधिकतर योरपियनों को मिलती है।

विशेषतः गत साठ-सत्तर वर्षों में विदेशी माल अधिकाधिक मँगाने और विनिमय में उससे भी अधिक कच्चे माल की निकासी करते रहने का परिणाम यह हुआ है कि भारतीय जनता को इस बात की और ज़्यादा ज़रूरत पड़ती जा रही है कि वह अपना निर्वाह खेती पर करे। पुनः विदेशी व्यापार की वृद्धि ने भारतवर्ष में धन की उत्पत्ति और उपभोग पर प्रभाव डालकर यहाँ एक बड़ी सामाजिक एवं आर्थिक हलचल मचा दी है।

आयात की वस्तुएँ—यों तो भारतवर्ष में बहुत-सी चीज़ों की आयात होती है, परंतु हमें यहाँ कुछ मुख्य-मुख्य वस्तुओं की ही आयात के संबंध में वक्तव्य है। ये वस्तुएँ विशेषतया निम्न-लिखित हैः—रुई और सूती माल, रेशमी और ऊनी माल, लोहे और फौलाद का सामान, मशीन, मिलों और रेल का सामान, मोटर, चीनी, कागज़, रंग, शराब और दवाएँ आदि।

रुई और सूती माल—भारतवर्ष की आयात में प्रमुख स्थान रुई और सूती माल का है। यहाँ रुई काफी पैदा होती है, तथापि हम कुछ रुई बाहर से मँगाते हैं। इसका कारण यह है कि भारतवर्ष में जो

कपास पैदा होती है, उसमें से अधिकाँश की रुई का रेशा छोटा होता है। कुछ वर्षों से यहाँ लंबे रेशे की रुई भी होने लगी है, पर वह काफी नहीं होती। इसलिए विदेशों से लंबे रेशे की रुई मँगाई जाती है। इसके अतिरिक्त यहां की रेलों की दर की घातक नीति ऐसी है कि बंबई की मिलों को पंजाब से रुई मँगाने की अपेक्षा कुछ अन्य देशों से मँगाना लाभ-प्रद रहता है। इसका सुधार करने के लिए आवश्यक है कि देश में लंबे रेशे की रुई की, काफी उत्पत्ति हो, तथा रेलों की दरों में भारतीय उद्योग-धंधों की दृष्टि से समुचित सुधार किया जाय।

भारतवर्ष में छोटे रेशेवाली रुई तो अब भी काफी मात्रा में होती है, उसमें से कुछ तो विदेशों में भी भेजी जाती है। ऐसी दशा में इँगलैंड और जापान आदि से सूती माल मँगाना बहुत अनुचित और हानिकर है। हमें अपनी रुई से स्वयं ही अपने लिए आवश्यक परिमाण में वस्त्र तैयार करना चाहिए। यों-तो मिलों में बननेवाले माल की वृद्धि हो सकती है, पर हाथ से बुने हुए वस्त्र का परिमाण बढ़ने की तो बहुत ही गुँजायश है। गत वर्षों में चर्खा-संघ ने खादी की उत्पत्ति बढ़ाने का जो उद्योग किया है, उसका उल्लेख पहले किया जा चुका है। राष्ट्रीय आंदोलन से अन्यान्य विदेशी वस्तुओं में कपड़े की आयात पर भी कुछ प्रभाव पड़ा है, तथापि अभी वह विदेशों से काफी परिमाण में मँगाया जाता है। इसे कम करने, और भारतवर्ष को अपने वस्त्र-व्यवसाय में स्वावलंबी बनाने में प्रत्येक देश-प्रेमी को भाग लेना चाहिए। इसके लिए आवश्यक है कि विदेशी वस्त्र की अपेक्षा स्वदेशी वस्त्र कुछ मोटा तथा कुछ मँहगा होने पर भी हम स्वदेशी वस्त्र को ही खरीदें। ऐसा करना अंततः अधिक लाभकारी होता है, यह 'उपभोग का विवेचन' शीर्षक परिच्छेद में बताया जा चुका है।

भारतवर्ष में विदेशी सूत की भी आयात होती है, कारण, यद्यपि

यहाँ की मिलों ने महीन सूत कातने में, गत वर्षों में, कुछ उन्नति की है, वे अभी तक यहाँ के महीन सूत की माँग की पूर्ति नहीं कर सकती। अखिल भारतीय चरखा-संघ के उद्योग से अब यहाँ हाथ से महीन सूत भी अधिक काता जाने लगा है, और उस सूत के, हाथ से कपड़े भी बुने जाने लगे हैं। परंतु अभी इस दिशा में और अधिक उद्योग होते रहने की आवश्यकता है।

रेशमी और ऊनी माल—भारतवर्ष में रेशमी और ऊनी माल भी बहुत परिमाण में आता है। गत वर्षों में जापान आदि से नक़ली रेशम का माल बहुत आने लगा है, वह देखने में तो चटकीला-भड़कीला होता है, वैसे बहुत कमजोर रहता है। जल्दी ही फट जाता है। उसमें उपभोक्ताओं की बहुत हानि होती है। आवश्यकता है कि इसकी आयात को कम किया जाय, और भारतवर्ष में रेशमी और ऊनी वस्त्र व्यवसाय को प्रोत्साहन दिया जाय। यहाँ रेशम और ऊन दोनों होते हैं, उद्योग करने पर वे और बढ़िया हो सकते हैं। शीत-निवारण के लिए ऊनी कपड़ों की बहुत आवश्यकता है। अखिल भारतीय चर्खा संघ तथा अन्य संस्थाएँ और व्यक्ति इस कार्य में लगे हैं। इसे बहुत बढ़ाया जाना चाहिए।

लोहे और फौलाद का सामान—भारतवर्ष में टाटा का कारख़ाना तथा अन्य कंपनियाँ लोहे और फौलाद का समान तैयार करती हैं। इस कार्य को संरक्षण मिलने से इसकी खासी उन्नति हुई है। पर अभी यहाँ की सब आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं होती। इसके अतिरिक्त सरकार और रेलवे कंपनियाँ बहुत-सा सामान इंगलैंड आदि से मँगाती हैं, यदि ये यहाँ के कारखानों को समुचित सुविधाएँ तथा प्रोत्साहन दें तो हमारी जरूरत की बहुत-सी चीज़ें यहाँ ही बन सकती

हैं। इस संबंध में भारतीय व्यवस्थापक सभा में अनेक बार कहा जा चुका है, पर इस बात पर यथेष्ट ध्यान नहीं दिया जाता। मशीनें आदि आना देश के औद्योगिककरण की दृष्टि से उपयोगी है, परंतु इस मद में भी हम कब तक अपना रुपया दूसरों को भेजते रहेंगे। आखिर हम कभी स्वावलंबी भी बनेंगे! भारतवर्ष में घरू उद्योग-धंधों की अनुकूलता के संबंध में पहले लिखा जा चुका है. उनका प्रचार तथा उन्नति होने से हमारी मशीनों की आयात घटने में भी सहायता मिल सकती है।

चीनी—गत वर्षों में, विशेषतया संरक्षण मिलने से यहाँ चीनी के व्यवसाय में खासी उन्नति हुई है, और चीनी की आयात बहुत घटी है। तथापि अभी यहाँ जर्मनी, जावा, मारिशश आदि से विदेशी चीनी आती ही है। इसके संबंध में पहले लिखा जा चुका है। यह भी बताया जा चुका है कि यहाँ अच्छा गुड़ अधिक परिमाण में बनाया तथा उपभोग किया जाना चाहिए, क्योंकि वह चीनी की अपेक्षा सस्ता होने के अतिरिक्त, अधिक पुष्टिकर भी है। अच्छे गुड़ का प्रचार अधिक होने पर चीनी की आयात कम होने में सहायता मिलेगी।

मिट्टी का तेल और पेट्रोल—भारतवर्ष में मिट्टी के तेल का ख़र्च क्रमशः बढ़ रहा है। अभी तक इस पदार्थ की अधिकाँश आयात अमरीका और रूस आदि से होती थी। अब बर्मा के भारतवर्ष से पृथक् हो जाने के कारण बर्मा से आने वाला तेल भी विदेशी समझा जायगा। यहाँ मोटरों आदि का प्रचार क्रमशः बढ़ता जारहा है, इस के फलस्वरूप पेट्रोल का ख़र्च एवं आयात भी बढ़ रही है।

काग़ज़—भारतवर्ष में पहले हाथ का बनाया हुआ स्वदेशी ही काग़ज़ काम आता था। अब काग़ज़ की मिलें भी स्थापित होगई हैं।

मिल के काग़ज़ के लिए बहुत-कुछ विदेशों से मँगाया हुआ 'पल्प' (लकड़ी का गूदा या लुगदी) आदि काम में लाया जाता है। हाथ से, तथा मिलों में यहाँ काफ़ी काग़ज़ नहीं बनता, अतः विदेशी कागज भी मँगाना होता है। ज्यों-ज्यों शिक्षा का प्रचार बढ़ेगा, अखबारों तथा किताबों आदि की आवश्यकता अधिक होगी, और परिमाण-स्वरूप काग़ज़ की माँग बढ़ेगी। भारतवर्ष के जंगलों में बाँस काफ़ी परिमाण में है, उससे काग़ज़ बनाया जा सकता है, उस के लिए यथेष्ट उद्योग हो तो हम विदेशी कागज की आयात के भार से सहज ही मुक्त हो सकते हैं।

आयात की अन्य वस्तुएँ—उपर्युक्त वस्तुओं के अतिरिक्त हम प्रतिवर्ष करोड़ों रुपए की मोटर, शराब, तमाखू (सिग्रेट) रंग, शीशे का सामान, दवाइयाँ आदि मंगाते हैं। साबुन, स्याही, छतरी, घड़ी आदि में भी काफ़ी रुपया विदेशों को जाता है। यदि हम तनिक ध्यान दें, तो इन में से कुछ पदार्थों के उपभोग की आवश्यकताओं को नियंत्रित कर सकते हैं। इस प्रकार इन वस्तुओं की आयात कम होने से एक तो हमारा रुपया बच सकता है, दूसरे अनेक आदमियों को आजीविका का साधन प्राप्त हो सकता है।

अब, उन पदार्थों की आयात का विचार करें, जिनके, इस देश में आने का कारण हमारी विशेष व्यापारिक परिस्थिति है। भारतवर्ष से विदेशों को जाने वाला माल आयात की अपेक्षा अधिक तो होता ही है; इसके अतिरिक्त, यह अधिकांश में कच्चा होता है। यह माल तैयार माल की अपेक्षा जगह ज़्यादह घेरता है, तथा वज़नी भी अधिक होता है। विदेशों से तैयार माल लाने के लिए जितने जहाज़ों की ज़रूरत होती है, यहाँ से कच्चा माल लेजाने के लिए उनसे अधिक जहाज़ चाहिए। जहाज़ों को खाली लाना कठिन है, अतः उन

अधिक जहाज़ों में कोयला, नमक, सिमेंट आदि वज़नी सामान नाम-मात्र के किराए पर यहां लाया जाता है। किराया बहुत कम होने से यह माल मूल्य में यहाँ के स्वदेशी सामान से भली-भांति प्रतियोगिता कर सकता है; उसे यहाँ के व्यापारी सहर्ष ले लेते हैं। हमारी इस माल की आयात में उस समय तक कमी होने की आशा नहीं, जब-तक इस का मूल कारण विद्यमान है, अर्थात् जबतक हमारी निर्यात कच्चे पदार्थों की, और आयात तैयार पदार्थों की है।

हमारे निर्यात के पदार्थ; जूट और उसका सामान—अब हम निर्यात के पदार्थों के संबंध में विचार करते है। इनमें प्रमुख स्थान जूट और उसके सामान का है। संसार भर में भारतवर्ष को इस का एकाधिकार है। यहाँ इसका केंद्र बंगाल है। विगत वर्षों में जूट की मिलों ने बहुत तरक्की की है, इससे इसके गृह-उद्योग को धक्का पहुँचा है। जूट की उपयोगिता बढ़ती जा रही है। टाट, बोरी, सुतली आदि पहले से ही बनती थीं, अब कालीन गलीचे आदि वस्त्रों में भी इसकी मिलावट की जाने लगी है। इससे इसकी माँग बढ़ रही है। मिलों के लिए तथ निर्यात के वास्ते बेचने से किसानों को जूट के दाम अधिक मिलते है, पर इससे उनके गृह-उद्योग का लोप हो जाने से उनकी हानि भी है। कुछ किसानों ने इसकी पैदावार का क्षेत्र बढ़ा कर, खाद्य पदार्थों की फसल का क्षेत्र कम कर दिया है। अब नक़ली जूट बनने लगा गया है, ज्यों-ज्यों उसका व्यवहार अधिक होगा, भारतवर्ष का जूट का एकाधिकार कम रह जायगा। अतः यह विषय चिन्तनीय है।

रुई और सूती माल—हम पहले कह चुके हैं कि भारतवर्ष में बहुत-सा कपड़ा विदेशों से आता है, तो भी हम खासे परिमाण में रुई की

निर्यात करते हैं। यदि उस रुई का कपड़ा यहाँ ही बना लिया जाया करे, तो हमारा रुई बाहर भेजने तथा विदेश से कपड़ा मँगाने, इन दोनों कामों से छुटकारा हो, और हमारे अनेक आदमियों को वस्त्र-व्यवसाय से आजीविका का साधन प्राप्त हो। इस ओर ध्यान दिया जाने लगा है, पर अभी बहुत उद्योग होना शेष है।

यद्यपि भारतीय मिलों में बना हुआ कपड़ा, विलायती कपड़े से कुछ मँहगा होता है, तथापि वह मोटा और मज़बूत होने से उसकी बाहर के कुछ देशों में माँग रहती है। यहाँ का कपड़ा विशेषतया लंका, मलाया प्रायद्वीप, फ़ारिस, ईराक़ और पूर्वी अफ्रीका में जाता है। यह निर्यात और बढ़ाई जा सकती है।

खाद्य पदार्थ—भारतवर्ष से खाद्य पदार्थों में विशेषतया गेहूँ और चावल की निर्यात होती है। धान की पैदावार अधिकतर बर्मा में होती है; अब बर्मा भारतवर्ष से पृथक् कर दिया गया है। बर्मा-रहित भारतवर्ष की चावल की निर्यात स्वभावतः कम हुआ करेगी। अस्तु, खाद्य पदार्थों की निर्यात होना उस दशा में तो बुरा नहीं है, जबकि यहाँ ये पदार्थ आवश्यकता से अधिक उत्पन्न होते हों, परंतु जैसा कि हम पहले बता चुके हैं, यहाँ के किसान अपनी निर्धनता के कारण गेहूँ चावल आदि बढ़िया अन्नों को बेच कर ज्वार, मकई, बाजरा आदि घटिया अन्नों पर निर्वाह करते हैं, और कुछ दशाओं में तो उन्हें ये घटिया अन्न भी पर्याप्त परिमाण में नहीं मिलते। हमारे व्यापारी इन पदार्थों की निर्यात इसलिए नहीं करते कि ये पदार्थ देश की आवश्यकता से अधिक हैं, वरन् इसलिए करते हैं कि उन्हें इन पदार्थों की जो क़ीमत यहाँ मिल सकती है, उसकी अपेक्षा विदेशों से अधिक मिलती है। इस प्रकार इन खाद्य पदार्थों की आयात भारतवासियों की निर्धनता की द्योतक है।

ऊपर हमने गेहूँ और चावल की निर्यात के संबंध में लिखा है, उनके अतिरिक्त जौ, चने, बाजरे आदि की भी कुछ निर्यात होती है। जौ शराब तथा दवाइयाँ बनाने के काम में आता है; जब विदेशों में जौ कम पैदा होता है, तो यहाँ से उसकी निर्यात अधिक होती है।

तेलहन—भारतवर्ष से कुछ तेल भी बाहर जाता है, पर उसकी अपेक्षा तेलहन की निर्यात कहीं अधिक होती है। इस में तीसी, तिल अंडी, सरसों और बिनौला आदि मुख्य हैं। यह निर्यात अधिक होना देश के लिए हानिकर है, कारण इससे खली यहाँ से चली जाती है जो खेती के खाद तथा पशुओं के भोजन के लिए बहुत उपयोगी होती है। यदि तेलहन की निर्यात कम करके उस से यहाँ ही तेल निकालने का धंधा बढ़ाया जाय तो एक तो उससे यहां के अनेक बेकार आदमियों को काम मिले; दूसरे, खली यहां रहने से खेती को, तथा पशुओं को भी लाभ हो।

चाय—चाय की खेती यहां विशेष रूप से, सौ वर्ष से ही होने लगी है। इस का व्यवसाय अधिकतर विदेशी कंपनियों ये हाथ में है। वे इसकी उत्पत्ति बढ़ाने, यहाँ इसका प्रचार करने, तथा इसकी विदेशों में निर्यात करने में खूब प्रयत्न-शील रहती है। चाय विदेशों में भेजने के लिए, डिब्बे बाहर से मँगाए जाते है। भारतवर्ष में होनेवाले इसके उपभोग के संबंध में हम अपना विचार पहले प्रगट कर चुके हैं।

चमड़ा और खाल—यद्यपि भारतवर्ष से चमड़े और खाल की जो निर्यात होती है, उस का कारण यह नहीं है कि उसकी आवश्यकता नही है, वरन् उसका कारण यह है कि यहाँ अनेक आदमी निर्धन होने के कारण जूते आदि का उपयोग नहीं कर पाते, दूसरे यहाँ चमड़े के काम को निम्न श्रेणी का समझा जाता है, यह काम अधिकतर

अ-कुशल व्यक्तियों के हाथ में है, वे चमड़े को अच्छी तरह 'कमाना' नहीं जानते, तथा वे अच्छा बढ़िया सामान कम बनाते हैं. भारतवर्ष में बहुत-सा चमड़े का सामान विदेशों से आता है। कुछ वर्षों से यहाँ चमड़े के अंगरेज़ी ढंग के कारखाने खुलने लगे हैं। यदि यहां चमड़े का कुशलता-पूर्वक और काफ़ी उपयोग किया जाय, और रबड़ के (विशेपतया जापानी) जूतों का इस्तेमाल कम हो तो हमें न तो चमड़े की इतनी निर्यात करने की आवश्यकता हो, और न बहुत-सा चमड़े का सामान बाहर से मँगाना पड़े।

ऊन—पहले कहा जा चुका है कि हम बहुत-सा ऊनी माल विदेशों से मँगाते हैं, ऐसी दशा में हमारा ऊन का निर्यात करना अनुचित है। हमें चाहिए कि ऊन से यहाँ ही वस्त्र तैयार करें, यदि हमारा तैयारकिया हुआ ऊनी वस्त्र हमारी आवश्यकता से अधिक हो तो हम ऊनी वस्त्र की निर्यात करें। यहां पर करघों से बने ऊनी वस्त्र चिर-काल से तैयार होते हैं, और यहां के शाल, क़ालीन आदि दूर-दूर के देशों तक प्रसिद्ध हैं, कुछ समय से ऊन की मिलों ने भी ख़ासी उन्नति की है। ऊनी वस्त्र के व्यवसाय को बहुत बढ़ाने की आवश्यकता है।

धातुएँ—भारतवर्ष में, साधारण घरों में काम आनेवाला, और मशीनों तथा रेलों संबंधी बहुत-सा लोहे आदि धातुओं का सामान विदेशों से आता है, यद्यपि यहाँ ये धातुएँ काफ़ी परिमाण में विद्यमान हैं, तथा खानों से निकाली भी जाती हैं। अधिकतर धातुएँ निकालने का काम विदेशी कंपनियाँ करती हैं, और यहाँ धातुओं के विविध पदार्थ न बनाए जाकर, वे धातुएँ ही विदेशों को भेज-दी जाती हैं। प्राचीन काल में भारतवर्ष लोहा ढालने तथा धातुओं की विविध वस्तुएँ बनाने के लिए विश्व-विख्यात था; पर पिछली शताब्दी में यह देश साधारण चीज़ों के लिए भी पर-मुखापेक्षी बन गया। अब कुछ समय से टाटा कंपनी तथा

बंगाल-स्टील-कंपनी आदि के उद्योग से कुछ सामान यहां बनने लगा है। परंतु, अधिकाँश में गार्टर, छड़, रेलिंग आदि ही बनाए जाते हैं; देश में नाना प्रकार की जो मशीनें यहाँ काम में लाई जाती हैं, वे अब भी प्रायः सभी विदेशी है। उनमें कितना ही रुपया विदेश भेजना होता है। मशीनों के अनेक छोटे-छोटे पुर्जों को भी यहाँ नहीं बनाया जाता। आवश्यकता है कि इस दिशा में बहुत तीव्र गति से बढ़ा जाय, और धातुओं की विदेशों में निर्यात न कर, उनका यहाँ ही अधिक-से-अधिक उपयोग हो।

व्यापार की बाक़ी—दो देशों के आयात और निर्यात की क़ीमतों के अंतर को "व्यापार की बाक़ी" कहते हैं। इसका भुगतान करने के लिए सोना-चांदी या सिक्का मँगाना, अथवा भेजना पड़ता है। इसलिए सब देशों की इच्छा रहती है कि व्यापार की बाक़ी अपने नाम न निकले, वरन् दूसरों के नाम। हम ऊपर लिख आए हैं कि भारत के आयात की अपेक्षा यहाँ का निर्यात बहुत अधिक होता है; परंतु हमारी लेन-देन की बाक़ी की रक़म इँगलैंड आदि देशों के नाम नाम-मात्र की ही निकलती है। इसके कई कारण हैं—(१) भारतवर्ष को होम-चार्जेज़ या इँगलैंड-स्थित इंडिया-ऑफ़िस आदि के ख़र्च तथा हिंदुस्थान से लौटे हुए अफ़सरों की पेंशन देनी पड़ती है। (२) अपने जहाज़ न होने के कारण विदेशी व्यापार के लिए अन्य देशों के जहाज़ों का किराया देना पड़ता है। (३) विदेशों से लिए हुए ऋण पर सूद देना पड़ता है। (४) विदेशी व्यापारियों का मुनाफ़ा भेजना पड़ता है। (५) विदेशों में गए हुए भारतीय विद्यार्थियों अथवा यात्रियों आदि का ख़र्च भेजना पड़ता है। (६) भारतवर्ष में रहनेवाले अँगरेज़ अपने परिवारों के लिए विलायत रुपए भेजते रहते हैं।

लेन-देन की बाक़ी का भुगतान सरकारी हुँडियों द्वारा किया जाता है; इसके संबंध में पहले 'विनिमय की दर'-शीर्षक परिच्छेद में लिखा जा चुका है।

सीमा की राह से व्यापार—ब्रिटिश भारत का जो विदेशी व्यापार समुद्र की राह से होता है, उसी का अब तक वर्णन हुआ। इसके अतिरिक्त भारतवर्ष का कुछ व्यापार सीमा-पार के निकटवर्ती राज्यों से भी होता है। इस व्यापार की उन्नति में मार्ग की कठिनाइयाँ, जंगली मनुष्यों और चोरों का डर, उन देशों की आर्थिक अवनति, शासकों की कर आदि से होनेवाली व्यापारिक रुकावटें आदि बाधक हैं। यह होते हुए भी पहले सीमा की राह से प्रतिवर्ष लगभग तीस से लेकर चालीस करोड़ रुपए तक का माल भारतवर्ष में आता था, और प्रायः इतनी-ही क़ीमत का यहाँ से बाहर जाता था। इस व्यापार में अब ह्रास हो गया है।

पश्चिमोत्तर-सीमा पर अफ़ग़ानिस्तान, दीर, स्वात, बजौर, मध्य-एशिया और ईरान से भारत का व्यापार होता है। उत्तर और उत्तर-पूर्व में नेपाल, तिब्बत, शिकम और भूटान से, तथा पूर्वी सीमा पर शान-राज्य, पश्चिम-चीन, और श्याम से भारत का व्यापारिक संबंध है। सबसे अधिक व्यापार नेपाल से होता है। उसके बाद क्रमशः शान-राज्य और अफ़ग़ानिस्तान का नंबर है। नेपाल से विशेषकर चावल, तेलहन, घी, चाय, गऊ, बैल, भेड़, बकरे आते हैं, और बदले में कपड़ा, चीनी, नमक, धातु के बर्तन इत्यादि जाया करते हैं। शान-राज्यों से घोड़े, टट्टू और ख़च्चर, और श्याम से लकड़ी, तिब्बत से पशम और ऊन, तथा अफ़ग़ानिस्तान से ऊन और फल इत्यादि सामान आते हैं; और बदले में सूती कपड़ा, चाय, चीनी, नमक, मसाला, धातु के बर्तन आदि जाया करते हैं।

आयात-निर्यात-संबंधी विशेष वक्तव्य—हमने यहाँ आयात और निर्यात के कुछ मुख्य-मुख्य पदार्थों के संबंध में ही विचार किया है। संक्षेप में, यह स्पष्ट है कि भारतवर्ष अधिकाँश में तैयार माल अन्य देशों से मँगाता है; इसके विपरीत, उसकी निर्यात अधिकतर कच्चे पदार्थों की होती है। यदि भारतवर्ष में घरू उद्योग-धंधों तथा कल-कारख़ानों की यथेष्ट उन्नति हो जाय तो कच्चे पदार्थों का यहाँ अधिक उपयोग होने लग जाय, उन्हें इतने परिमाण में बाहर भेजने की आवश्यकता न रहे, यहाँ की निर्यात कम हो जाय, और साथ-ही हमारी तैयार माल की आवश्यकताएँ यहाँ के बने पदार्थों से पूरी होने लगे, हमें इतनी आयात की आवश्यकता न रहे; इस प्रकार औद्योगिककरण से हमारी निर्यात और आयात दोनों का ही परिमाण घट जाय। विदेशी व्यापार के परिमाण का घटना कोई चिंताजनक बात नहीं है। कारण, व्यापार के अंकों के बढ़ने-मात्र से ही किसी देश की सुख-स्मृद्धि सिद्ध नहीं होती। यह बात भारतवर्ष के विषय में विशेष रूप से चरितार्थ होती है। सौ वर्ष पहले की अपेक्षा अब हमारे विदेशी व्यापार का परिमाण कितना अधिक है, यह पहले बताया जा चुका है। पर कौन यह कहने का दुस्साहस करेगा कि आज-दिन भारतवासी पूर्वापेक्षा अधिक सुखी हैं। हम अपना कच्चा माल सस्ते भाव से विदेश भेज देते हैं, और उस माल की तैयार की हुई मँहगी वस्तुएँ अन्य देशों से ख़रीदते हैं। इससे हमारे अनेक आदमी साल में कई-कई महीने बेकार रहते हैं, उन्हें अपने जीवन-निर्वाह के लिए भी यथेष्ट सामग्री नहीं मिलती, जैसा कि हम उपभोग के प्रसंग में लिख चुके हैं।

अस्तु, वर्तमान स्थिति में हमें अपनी आयात एवं निर्यात दोनों ही कम करनी चाहिए, इसके लिए देश में उद्योग-धंधों की वृद्धि करने के संबंध में तो पहले लिखा ही जा चुका है; इस के अतिरिक्त,

विशेष आवश्यकता के पदार्थों को छोड़कर, विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार का भी उपाय काम में लाया जाना चाहिए। इस उपाय के अवलम्बन में यदि सरकार का सहयोग मिल जाय तो विशेष सफलता हो सकती है। परंतु वह तो तभी हो सकता है, जब कि सरकार राष्ट्रीय हो। वर्तमान अवस्था में तो सरकार और जनता का दृष्टि-कोण व्यापार के विषय में भिन्न-भिन्न ही नहीं, एक दूसरे के बहुत-कुछ विरोधी है। तथापि, हताश होने की बात नही है। गत वर्षों में जनता के आंदोलन का महत्व-पूर्ण परिणाम हुआ है, विदेशी वस्तुओं की आयात में खासी कमी हुई है। जनता का यह आंदोलन ज्वार-भाटे की तरह समय-समय पर चढ़ने-उतरनेवाला न होना चाहिए, वरन् निरंतर बढ़ते रहना चाहिए। अतः इस आंदोलन का आधार शीघ्र मिटजाने वाली भावनाएँ न होकर दृढ़ और स्थाई होना आवश्यक है। उदाहरणवत् बहुधा यह कहा जाता है कि विदेशी वस्त्र इसलिए त्याज्य है कि उसमें चर्बी की माड़ी लगाई जाती है, या इंगलैंड के कपड़े का बहिष्कार इसलिए किया जाना चाहिए क्यों कि वहाँ की सरकार यहाँ राजनैतिक क्षेत्र में असंतोष-प्रद कार्यवाही कर रही है। ऐसी बातें जनता में कुछ समय के लिए तो बड़ा परिणाम दिखाती है, पर पीछे वे सहसा विलुप्त भी हो जाती हैं। वास्तव में हमें विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार इसलिए करना है कि हम अपने बेकार आदमियों को काम देना चाहते हैं, अपने भूखे-नंगे भाइयों को रोटी-कपड़ा देना चाहते हैं, हम अपने राष्ट्र के परावलंबन-रूपी कलंक को हटाकर उसे स्वावलंबी करना चाहते हैं।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि व्यापारिक जगत में हमारा विरोध केवल इँगलैंड से ही नहीं है, वरन् प्रत्येक ऐसे देश से है, जो हमारे उद्योग-धंधों को नष्ट करके हमें आर्थिक पराधीनता में जकड़ना चाहता है। इस दृष्टि से हमारा विरोध इँगलैंड की अपेक्षा जापान से कुछ

कम नहीं है, वरन् अधिक ही है। हमें अपने निकटवर्ती जापान से अधिक सावधान होना चाहिए, जो हमें चटक-मटक का, परंतु कमज़ोर और कम-टिकाऊ, कपड़ा आदि देकर हमारा धन खैंचता जा रहा है।

स्मरण रहे कि हमारा अभिप्रायः यही है कि साधारणतया भोजन वस्त्रादि रोज़-मर्रा की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए हम विदेशी पदार्थ न लें, इन्हें हम अपने यहाँ ही उत्पन्न करें और बनावें। विशेष दशाओं में हमें दूसरे देशों का माल लेने अथवा अपना माल देने में कोई आपत्ति नहीं है। हाँ, दूसरे देशों से हमारा व्यापारिक संबंध इस प्रकार का हो कि उससे हमारा और उनका, दोनों का हित हो, किसी का आर्थिक शोषण न हो।

विदेशी बहिष्कार की बात कुछ लोगों को बहुत अखरेगी, वे हमें विश्व-बंधुत्व के आदर्श का उपदेश करेंगे। हम भी उसे भूलते नहीं हैं। यदि संसार के विविध देश एक दूसरे के साथ एक परिवार के सदस्यों की भांति प्रेम और उदारता का व्यवहार करें तो कितना अच्छा हो! फिर, कोई देश दूसरे पर आक्रमण क्यों करे, कोई किसी को अपने अधीन क्यों करे? सर्वत्र स्वाधीनता और स्वतंत्र की पताका ही न फह-राए! इस समय जो राष्ट्र दूसरों को अपने अधीन करने के लिए नाना प्रकार के कलुषित प्रयत्न कर रहे हैं, उस का एक प्रमुख कारण यह है कि उन्हें अपने अधीन देशों में अपना तैयार माल खपाने, तथा उनका आर्थिक शोषण कर सकने की आशा है। जब उनकी यह आशा न रहेगी, जब उन्हें ज्ञात हो जायगा कि प्रत्येक देश स्वावलंबी है और विदेशी माल का तिरस्कार करता है तो उन राष्ट्रों की साम्राज्य-विस्तार की लालसा भी कम हो जायगी। संसार से बहुत-सी खून-खराबी और ज़ोर-ज़ुल्म हट जायगा। इस प्रकार विदेशी बहिष्कार में परा-धीन देशों की मुक्ति का संदेश है, और सब देशों के स्वाधीन और

सुखी होने पर ही सच्चे विश्व-बंधुत्व का आदर्श चरितार्थ हो सकता है; स्वामी और दासों में बंधुत्व की बात करना निरर्थक है।

विदेशों में भारतवर्ष का गौरव—यह इतिहास-प्रसिद्ध है कि देश का झंडा इतना तलवार के पीछे नहीं चलता, जितना व्यापार के पीछे चलता है। भारतवर्ष में अंगरेज व्यापार ही करने आए थे, पीछे उनका यहाँ राज्य ही स्थापित्त हो गया। इस समय भी ब्रिटिश साम्राज्य का मुख्य आधार व्यापार ही है। नेपोलियन ने तो कहा ही था कि अंगरेज़ जाति दुकानदारों की जाति है। खेद है कि भारतवर्ष में व्यापार के लिए शिक्षित, और योग्य व्यक्ति आगे कम आते हैं। हम पिछले परिच्छेद में लिख चुके हैं कि व्यापार में ईमानदारी आदि सद्गुणों की बहुत आवश्यकता है। विदेशों में यदि हम भारतवर्ष का गौरव स्थापित करना चाहते हैं तो यह हमारी ईमानदारी और सद्व्यवहार से ही हो सकता है। हमें ऐसा व्यापार करना चाहिए कि भारतवर्ष में बने हुए ('मेड-इन-इंडिया') का अर्थ शुद्ध, खरा, बे-मिलावट का, और बढ़िया हो जाय। जो आदमी अपने स्वार्थ के लिए बाहर खराब और घटिया, अथवा वजन या संख्या में कम माल भेजते हैं, वे अपनी साख तो खोते ही हैं, देश का नाम भी बदनाम करते हैं। हमारी देश-भक्ति का तकाज़ा है कि हम अपने शुद्ध और निष्कपट व्यवहार से देश-देशान्तर में भारतवर्ष का गौरव बढ़ानेवाले हों।

इक्कीसवाँ परिच्छेद

व्यापार-नीति

पिछले परिच्छेद में यह बताया जा चुका है कि विदेशी व्यापार क्यों होता है, तथा भारतवर्ष के लिए किन-किन पदार्थों की आयात तथा निर्यात हितकर है, तथा किन पदार्थों की आयात अथवा निर्यात कम की जानी चाहिए। इस परिच्छेद में भारतवर्ष की विदेशी व्यापार की नीति के संबंध में विचार किया जाता है।

व्यापार-नीति के दो भेद—साधारणतः व्यापार-नीति दो प्रकार की होती है—(१) संरक्षण-नीति और (२) मुक्त-द्वार-व्यापार-नीति। संरक्षण-नीति वह है, जिसमें विदेशी वस्तुओं पर कर लगाकर वे इतनी महँगी कर दी जायँ कि उनकी ख़रीद न हो सके, अथवा बहुत कम हो सके, और इस प्रकार स्वदेशी उद्योग-धंधों की उन्नति में सहायता पहुँचे। मुक्त-द्वार-व्यापार-नीति यह है कि कर लगाने में स्वदेशी या विदेशी वस्तुओं में कोई भेद-भाव न रक्खा जाय। जैसे अपना माल अन्य देशों को स्वतंत्रता-पूर्वक जाने दिया जाय, वैसे ही दूसरे देशों का माल अपने देश में बे रोक-टोक आने दिया जाय। इन दोनों प्रकार की नीतियों से होनेवाले लाभ-हानि के संबंध में भिन्न-भिन्न अर्थ-शास्त्रियों में मत-भेद है।

संरक्षण-नीति—इस नीति के पक्षवालों का मत है कि उन्नत विदेशी व्यापार के सामने स्वदेशी उद्योग-धंधे नष्ट हो जाते हैं, और देश के निवासी सस्ती विदेशी चीज़ें बरतने के आदी हो जाने के कारण साहस-हीन हो जाते हैं। इसका इलाज राष्ट्र की संरक्षण-नीति से ही हो सकता

है। इस नीति से स्वदेशी उद्योग-धंधेवाले उत्साहित होकर अपने यहाँ आवश्यक माल तैयार करते हैं, और वह, कुछ समय बाद क्रमशः सस्ता भी पड़ने लगता है। फिर स्वदेशी माल के व्यवहार से राष्ट्र स्वावलंबी हो जाता है—उसे परमुखापेक्षी नहीं रहना पड़ता।

मुक्त-द्वार-व्यापार-नीति—इस नीति के पक्षवालों का कहना है कि मुक्त-द्वार-व्यापार होने की दशा में व्यापारी विदेशी व्यापारियों से प्रतियोगिता करते हैं। इससे उनमें अपना माल सस्ता तैयार करने की शक्ति और योग्यता आ जाती है। संरक्षण-नीति में यह बात नहीं होने पाती। पुनः प्रकृति ने प्रत्येक देश को सभी आवश्यक सामग्री नहीं प्रदान की है; इसलिए यदि हम अन्य देशों से आनेवाले माल पर अधिक कर लगावेंगे, तो दूसरे देशवाले अपने यहाँ जानेवाले हमारे माल पर वैसा ही कर लगाकर हमसे बदला लेंगे। इससे हमारी-उनकी आपस में तनातनी रहेगी।

इन नीतियों का व्यवहार—ये बातें तो केवल सिद्धांत की हैं। वास्तव में प्रत्येक देश अपनी व्यापार-नीति, अपनी परिस्थिति के अनुसार स्थिर करता है, और उसे आवश्यकतानुसार बदलता भी है। योरप के जो बहुत-से राष्ट्र अब मुक्त-द्वार-व्यापार की प्रशंसा कर रहे हैं, वे ही कुछ समय पहले तक अपने व्यापार की, संरक्षण-नीति से रक्षा करते थे। महायुद्ध के समय में एक बार फिर उन्होंने संरक्षण-नीति से ही लाभ उठाया।

अमरीका के समृद्धिशाली होने की बात कौन नहीं जानता? योरप के प्रायः सब बड़े राष्ट्र उसके क़र्ज़दार हैं। फिर भी वह विदेशी माल को अपने यहाँ बे रोक-टोक नहीं आने देता। आवश्यकता होने पर वह अपने आयात पर १० से लेकर ४० फ़ी-सैकड़े तक कर बैठा देता

है। इसके सिवा, वह अपने यहाँ स्थापित और रजिस्ट्री-शुदा व्यापारिक कंपनियों को, विदेशों में माल लेजाने के लिए, बहुत ही सस्ते दाम पर जहाज़ देता है। फिर, जिस जहाज़ से जितना माल जाता है, उसे उसी अनुपात में नक़द इनाम भी मिलता है। संरक्षण-नीति की, यह एक आँखें खोलनेवाली बात है।

भारत की व्यापार-नीति—पराधीन देशों की कोई नीति नहीं हो सकती। उन्हें अपने स्वामी की इच्छा के अनुसार ही चलना पड़ता है। भारतवर्ष अन्यान्य बातों की तरह व्यापार-विषय में भी स्वाधीन नहीं। उसे अपना अनहित होने पर भी स्वार्थी अधिकारियों की आज्ञा शिरोधार्य करनी पड़ती है। जब इँगलैंड में कल-कारख़ानों से अच्छा माल तैयार नहीं होता था, और वह संरक्षण-नीति का समर्थक था, तब उसकी उस नीति से भारत का तैयार माल वहाँ जाने से रुका, और यहाँ के उद्योग-धंधे नष्ट हुए। पीछे, जब वहाँ विविध प्रकार का औद्योगिक माल तैयार होने लगा, और वह मुक्त द्वार-व्यापार का पक्षपाती हो गया तो उसकी मुक्त-द्वार-व्यापार-नीति से भारतवर्ष के कम उन्नत उद्योग-धंधों को धक्का पहुँचने लगा। इस प्रकार हर हालत में पराधीन भारत घाटे में ही रहा। योरपीय महायुद्ध के बाद सरकार ने भारतीय हित की ओर कुछ ध्यान दिया है। सन् १९२१ ई० की आर्थिक जाँच-समिति की रिपोर्ट के आधार पर यहाँ टेरिफ़-बोर्ड की नियुक्ति होने, तथा उसकी सिफ़ारिश के अनुसार लोहे, फौलाद के सामान, कागज, कपड़े और चीनी की आयात पर संरक्षण-कर लगाए जाने की बात हम उद्योग-धंधों के प्रसंग में कह आए हैं। (देखो पृष्ट १२४)

भारत का हित संरक्षण में है—अनेक भारतीय अर्थ-शास्त्र-

वेत्ताओं और निष्पक्ष अँगरेज़ लेखकों ने भी यह स्वीकार किया है कि भारत के हित की दृष्टि से यहाँ संरक्षण-नीति का ही व्यवहार होना चाहिए। इससे निम्न-लिखित कई लाभ होंगे—

(१) सौ वर्ष पहले इँगलैंड ही को भारतवर्ष से कपड़ा जाता था। पर इँगलैंड ने संरक्षण-कर लगाकर तथा 'डंपिंग' अर्थात् अपना माल घाटे पर भी निकाल देने की स्वार्थमय नीति से भारतवर्ष के कपड़े के व्यापार को चौपट कर दिया। अब तो भारतवर्ष अपने लिए ही कपड़े के वास्ते परमुखापेक्षी है। संरक्षण नीति से, हमारे लिए इस विषय में स्वावलंबी होने तथा शीशे, तेल और सीमेंट आदि के उद्योग में उन्नति करना कुछ भी कठिन न होगा।

(२) भारत से कच्चा चमड़ा बाहर जाता है, और आस्ट्रेलिया से कमाया हुआ चमड़ा यहाँ आता है। संरक्षण-नीति से इस व्यापार में बड़ी उन्नति होगी।

(३) भारत को जीवन-निर्वाह की सामग्री किसी से नहीं लेनी पड़ती। अतएव यदि अन्य देशवाले यहाँ आनेवाली आराम की वस्तुओं पर महसूल लगा दें, तो भी भारत को कोई हानि नहीं। और, वे यहाँ से जानेवाले कच्चे माल पर तो टैक्स लगा ही नहीं सकते; क्योंकि उन्हें अपने व्यापार के लिए इसकी आवश्यकता है। केवल जूट में डर की बात हो सकती है; क्योंकि जूट का तैयार माल यहाँ से बाहर जाता है। परंतु उसका उसका यहाँ क़रीब-क़रीब एकाधिकार होने के कारण, उस पर कर लगाकर कोई पार नहीं पा सकता।

अस्तु, भारतवर्ष में कच्चा माल यथेष्ट होता ही है, और दृढ़ उद्योग तथा साहस से यहाँ भी विविध प्रकार का शिल्पीय सामान तैयार हो सकता है। पिछली शताब्दी में कई देशों ने कल-कारख़ानों में उन्नति कर ली है। वे अब भारतवर्ष पर व्यापारिक आक्रमण कर रहे हैं। उनसे

अपनी रक्षा करने के लिए भारतवर्ष को इस समय संरक्षण-नीति के अमोघ शस्त्र की नितांत आवश्यकता है।

निर्यात-कर—हम ऊपर यह कह ही आए हैं कि भारत से विदेशों को केवल जूट का तैयार माल जाता है। इसके सिवा बाहर जानेवाला हमारा और सब माल कच्चा ही होता है। अब यह विचार करना चाहिए कि हमें अपने निर्यात पर कर लगाना चाहिए या नहीं, तथा इस कर का क्या परिमाण होगा। यह स्पष्ट है कि तैयार माल के निर्यात को उत्तेजित करने से देश में उद्योग-धंधों की वृद्धि होती है। इसलिए उन पर कर न लगना चाहिए। अब हम कच्चे माल के निर्यात का विचार करते हैं।

इँगलैंड का स्वार्थ इस बात में है कि भारतवर्ष में कच्चे माल की उत्पत्ति एवं निर्यात बढ़े। वह और अन्य औद्योगिक देश यहाँ के कच्चे माल को ऐसे ऊँचे भाव पर मोल ले सकते हैं जिस पर यहाँ उसकी उतनी बिक्री नहीं हो सकती। इधर, जितना रुपया हमें विदेशों के हाथ अपना कच्चा माल बेचने से मिलता है, उससे कहीं अधिक उनका तैयार माल ख़रीदने में देना पड़ता है। इस प्रकार इस देश को न-जाने कितनी हानि होती है। इसके अतिरिक्त, खाद्य पदार्थों के बाहर जाने से भयंकर दुर्भिक्षों की विकरालता और भी बढ़ जाती है। इनसे बचने के लिए यह आवश्यक है कि निर्यात पर यथेष्ट कर लगाया जाय। अन्य पदार्थों में अन्न रुई और तेलहन पर तो कर लगना नितांत आवश्यक है। अन्न के निर्यात पर कर लगने से यहाँ महँगी कम होगी। रुई के निर्यात पर कर लगने से हमारे स्वदेशी वस्त्र के व्यवसाय की उन्नति होगी, चर्खा चलानेवालों को यथेष्ट सामग्री तथा कार्य मिलेगा, असंख्य अनाथों, विधवाओं और दरिद्रों की आजीविका चलेगी, देश के जुलाहों और अन्य कारीगरों को स्वतंत्रता-पूर्वक निर्वाह करने का साधन प्राप्त होगा, तथा विदेशी वस्त्रों में व्यय

होनेवाला धन स्वदेश ही में रहकर यहाँ के निवासियों की सुख-समृद्धि में सहायक होगा। इसी प्रकार तेलहन को विदेश भेजकर वहाँ से तेल मँगाने में हमें इस समय जो हानि हो रही है, वह उसके निर्यात पर यथेष्ठ कर लगाने से दूर हो सकती है।

व्यापारियों का कर्तव्य—हमने बतलाया है कि यहाँ विदेशों से आनेवाले तैयार माल पर आयात-कर एवं यहाँ से बाहर जानेवाले कच्चे माल पर निर्यात-कर लगना बहुत ज़रूरी है। परंतु वर्तमान परिस्थिति में (यद्यपि हमें कहने को तो आर्थिक स्वराज्य प्राप्त है) इस कर का यथेष्ट मात्रा में लगाया जाना संभव नहीं दिखाई देता। इँगलैंड के सूत्र-धारों को और यहां की सरकार को भी इँगलैंड (अथवा साम्राज्य) के हितों की इतनी अधिक चिंता रहती है कि भारत के कल्याण का बहुधा बलिदान कर दिया जाता है। इसका समुचित प्रतिकार स्वराज्य प्राप्त होने पर ही हो सकेगा। उसके लिए जी-जान से उद्योग करना प्रत्येक नागरिक का प्रधान कर्तव्य है—धर्म है।

दुःख की बात है कि इस समय शासकों के अतिरिक्त, हमारे बहुत-से व्यापारी भी देश के प्रति अपना कर्तव्य बिलकुल भूले हुए हैं। तैयार माल यहाँ आने देने और कच्चा माल विदेशों को जाने देने में जहाँ सरकार उत्तेजना देती है, वहाँ हमारे व्यापारी भी, अपने स्वार्थ के वश होकर, इसका विरोध नहीं करते, प्रत्युत स्वयं इस घातक कार्य में सरकार के साथ सहयोग कर रहे हैं। उन्हें चाहिए कि अपने थोड़े-से नफ़े के लिए देश के आर्थिक पतन में सहायक न हों। यदि हमारे व्यापारी, राली ब्रादर्स आदि विदेशी कंपनियों की नौकरी या दलाली करते हुए, गाँव-गाँव में घूमकर अन्न और रुई आदि को कराची, या बंबई भेजने का बीड़ा उठाने से इनकार कर दें, एवं बबई, दिल्ली, कलकत्ता, कानपुर आदि नगरों के दूकानदार विलायती माल मँगाने का निंद्य

कर्म त्याग दें, तो हमारी आर्थिक उन्नति का मार्ग साफ़ होने में विशेष विलंब न लगे। आशा है, जागृति के इस होनहार युग में वे जननि-जन्म-भूमि के हितार्थ स्वार्थ-त्याग करने से मुँह न मोड़ेंगे।

साम्राज्यांतर्गत रियायत—कुछ अर्थ-शास्त्रज्ञ (अधिकाँश अँगरेज़) साम्राज्यांतर्गत रियायत ('इंपीरियल प्रेफरेंस') के पक्ष में रहते हैं। उनका अभिप्राय यह होता है कि ब्रिटिश-साम्राज्य के देशों में बनी हुई चीज़ों पर कर बिलकुल ही नहीं, अथवा अन्य देश की चीज़ों की अपेक्षा कम लगावें। संक्षेप में यह, साम्राज्य के लिए मुक्त-द्वार-व्यापार-नीति और बाहर के लिए संरक्षण-नीति है।

इस नीति के सिद्धांत सन् १९०२ ई० की औपनिवेशिक परिषद् में निश्चित हुए थे। तब से इँगलैंड को निरंतर यह चिंता रही कि उपनिवेशों और भारतवर्ष में जर्मनी, जापान और अमरीका के माल की खपत न होने पावे। महायुद्ध के पश्चात् उसकी यह इच्छा और भी प्रबल हो गई, और भारतवर्ष को इस नीति से जकड़ देने का प्रयत्न किया गया। उदाहरणवत् ओटावा (केनेडा) में होनेवाली सन् १९३२ ई० की साम्राज्य परिषद् की बात लीजिए।*

उसमें तीन वर्ष के लिए यह समझौता हुआ कि जो वस्तुएँ भारत से इँगलैंड अथवा किसी ब्रिटिश उपनिवेश को भेजी जायँ, उन पर कर

* इँगलैंड और साम्राज्य के स्वराज्य-प्राप्त भागों के प्रधान मंत्री, परतंत्र उपनिवेशों की ओर से ब्रिटिश सरकार का उपनिवेश-मंत्री और भारतवर्ष की ओर से भारत-मंत्री इस परिषद् के सदस्य होते हैं। इँगलैंड का प्रधान मंत्री इसका सभापति होता है। परिषद् में स्वराज्य-भोगी भागों के मंत्री अपने-अपने देशवासियों के प्रति उत्तरदाई होने के कारण उनका मत प्रकट करते हैं। परंतु भारत-मंत्री भारतवासियों के प्रति उत्तरदाई न होने के कारण भारतीय जनता का मत प्रकट नहीं करता।

में कुछ प्रतिशत के हिसाब से, अन्य (साम्राज्य से बाहर के) देशों की वस्तुओं की अपेक्षा रियायत दी जाय। इसी प्रकार इँगलैंड और उसके उपनिवेशों से जो चीज़ें भारत आवें, उन पर भारत-सरकार कुछ रियायत करे। इस समझौते का भारतवर्ष में बहुत विरोध हुआ। अंततः इसके प्रयोग की जाँच करने के लिए एक कमेटी नियुक्त हुई। उसकी रिपोर्ट से ज्ञात हुआ कि इस समझौते से कुल मिला कर भारत की हानि ही हुई। भारतीय व्यवस्थापक सभा ने इस समझौते को समाप्त करने के लिए बहुत आग्रह किया। अंततः सरकार ने यह समझौता समाप्त कर दिया। परंतु ब्रिटिश सरकार साम्राज्यांतर्गत-रियायत-नीति के आधार पर भारतवर्ष से समझौता करने की अत्यंत इच्छुक रहती ही है।

साम्राज्य-संबंधी व्यापार का स्वरूप—साम्राज्यान्तर्गत रियायत-नीति के प्रभाव को समझने के लिए भारतवर्ष के आयात-निर्यात के मूल्य और स्वरूप को जान लेना आवश्यक है। प्रायः ग्रेट-ब्रिटेन ही नहीं, समस्त ब्रिटिश साम्राज्य को भारतवर्ष से जितने मूल्य का माल जाता है, उसकी अपेक्षा यहाँ ब्रिटिश माल अधिक मूल्य का आता है। इसके विपरीत, साम्राज्य से बाहर के देश अपना माल यहाँ भेजते कम, और हमारा माल लेते अधिक हैं। इस प्रकार इन, साम्राज्य से बाहर के देशों के साथ ही व्यापार करने में भारतवर्ष को लाभ है, और इँगलैंड तथा उसके अधीन देशों से व्यापार करने में सरासर नुक़सान है। अस्तु, अब आयात-निर्यात के स्वरूप पर विचार किया जाता है।

जो देश अधिकतर कच्चा माल बाहर भेजता है, उसे विदेशी व्यापार में मुक़ाबले का डर नहीं रहता। कारण, कच्चे माल की आवश्यकता सबको रहती है। इस प्रकार मुक़ाबला न होने से कोई देश उस पर अन्य देशों की अपेक्षा अधिक कर नहीं लगा सकता। परंतु बना हुआ माल भेजनेवाले को सदा ही इस बात का भय बना रहता है कि कोई

उसके माल पर बहुत कर न बैठा दे। भारतवर्ष ऐसा देश है, जहाँ से प्रधानतया कच्चा माल ही बाहर जाता है। अतः भारत को प्रतियोगिता या विरोध का भय नहीं हो सकता।

साम्राज्यांतर्गत रियायत में भारतवर्ष का संबंध इँगलैंड और उसके अधीन देशों ही से है। उपनिवेशों से भारत का व्यापार बहुत कम होता है, इसीलिए उससे हानि-लाभ भी विशेष नहीं। इसके अतिरिक्त आयात-निर्यात की वस्तुएँ ऐसी हैं कि भारतवर्ष विशेष हानि उठाए बिना ही उपनिवेशों से स्वेच्छानुसार व्यवहार कर सकता है।

साम्राज्यांतर्गत रियायत से इंगलैंड का लाभ—यदि भारतवर्ष साम्राज्यांतर्गत रियायत की नीति मान ले, तो—(क) कर कम लगने से यहाँ इँगलैंड का माल अन्य देशों के माल से सस्ता पड़ेगा। और, तब यहाँ का बाज़ार पूर्ण रूप से इँगलैंड के हाथ चला जायगा। (ख) इँगलैंड को यहाँ का कच्चा माल अन्य देशों की अपेक्षा अधिक मात्रा में एवं सस्ते दाम पर मिलेगा, और उसके व्यापारिक (प्रकारांतर से राजनैतिक) बल की उत्तरोत्तर वृद्धि होती जायगी।

भारतवर्ष को कोई लाभ नहीं—भारतवर्ष की निर्यात की चीज़ों पर इँगलैंड में कर की रियायत तभी हो सकती है, जब वहाँ वे चीज़ें पर किसी अन्य देश से आती हों, और भारतवर्ष की चीज़ों से मुक़ाबला करना पड़ता हो। इँगलैंड के साथ कच्चे चमड़े के व्यापार में भारतवर्ष को किसी से मुक़ाबला नहीं करना पड़ता। ऊन में भारत उपनिवेशों से पीछे है, और चाय में सीलोन उसका प्रतिस्पर्द्धी है। इसीलिए भारतवर्ष को जिन-जिन देशों से किसी वस्तु में स्पर्द्धा की संभावना है, वे साम्राज्य के अंतर्गत ही हैं। अस्तु, इँगलैंड को साम्राज्यांतर्गत रियायत की नीति से सभी के साथ रियायत करनी पड़ेगी। अतः भारतवर्ष को विशेष लाभ नहीं होगा।

गेहूँ और कुछ खाद्य पदार्थ इँगलैंड में विदेशों से आते हैं। इन पर भारतवर्ष के गेहूँ और खाद्य पदार्थों की अपेक्षा कर अधिक लगाने से ये महँगे हो जायँगे। यह बात इँगलैंड की प्रजा कभी बर्दाश्त नहीं करेगी। साम्राज्यांतर्गत रियायत के सिद्धांत पर यदि इँगलैंड भारत की तंबाकू पर, अन्य देशों की तंबाकू की अपेक्षा, कर कम भी लगावे, तो भी इँगलैंड में यह कर वज़न के अनुसार लगता है, 'ऐड वेलोरम' या क़ीमत के हिसाब से नहीं। इसलिए भारतवर्ष को वह कर अधिक ही मालूम पड़ेगा। फिर यह व्यापार अल्प मात्रा में ही होता है। जूट का तैयार माल इँगलैंड जाता है। भारतवर्ष ही इसका एक-मात्र भंडार है। इसलिए यदि इस पदार्थ पर इँगलैंड कर कम कर दे, तो भारत को बड़ा लाभ हो सकता है। परंतु ऐसा होना असंभव है। कारण, जूट के तैयार माल में भारतवर्ष का एक-मात्र प्रतिस्पर्द्धी 'डंडो' है, और यह स्थान ब्रिटिश-द्वीपों में ही है। इससे स्पष्ट है कि चाहने पर भी इँगलैंड भारत को साम्राज्यांतर्गत रियायत की नीति से कोई लाभ नही पहुँचा सकता। साथ ही इस नीति के न होने पर भी इँगलैंड, भारतवर्ष के निर्यात-व्यापार पर संरक्षण-कर लगाकर, इस देश को हानि नहीं पहुँचा सकता; क्योंकि वह अपनी आवश्यकता के पदार्थों के लिए स्वावलंबी नहीं बन सकता। वह कच्चे माल पर कर नहीं लगा सकता, और संरक्षण-नीति का उपयोग भी नहीं कर सकता।

भारतवर्ष को हानि—(क) व्यापार का एक मोटा सिद्धांत है 'सदा महँगे बाज़ार में बेचना और सस्ते भाव में ख़रीदना'। इस समय भारतवर्ष के कच्चे माल के लिए सारे संसार का बाज़ार खुला हुआ है, इसलिए ख़रीदारों में बदाबदी होने के कारण यहाँ के माल के अच्छे दाम लगते हैं। पर 'रियायत' की नीति से इन चीज़ों के लिए एक ही

बाज़ार रह जायगा, और क़ीमत निश्चित करने में ख़रीदार का ही बोल-बाला रहेगा।

(ख) इसी प्रकार यहाँ जो माल बाहर से तैयार होकर आता है, उसमें भी बाहर के देशों में बदाबदी है, जिसके कारण हमें चीज़ें सस्ती मिलती हैं। पर 'रियायत' की नीति से इँगलैंड को बदाबदी का डर नहीं रहेगा, और हमें उसकी चीज़ें अधिक दाम पर ख़रीदनी पड़ेगी।

(ग) सबसे अधिक भय यह है कि जिन देशों के माल पर, इँगलैंड के लाभ के लिए, हम अधिक कर लगावेंगे, वे भी हमसे बदला लेने के लिए, भारत के निर्यात-व्यापार पर अधिक कर लगा देंगे, जिससे या तो हम यह कर देकर घाटा सहेंगे, या इँगलैंड के व्यापारियों की मनमानी क़ीमत पर उन्हीं के हाथ अपना माल बेचा करेंगे। इस प्रकार प्रत्येक दशा में हमारी हानि, और इँगलैंड का लाभ होगा।

(घ) अन्य देशों का जो माल यहाँ आवेगा, उस पर भी इँगलैंड की दलाली लगेगी। संभव है, जो चीज़ें इँगलैंड में नहीं बनतीं, उन्हें इँगलैंड के लोभी व्यापारी दूसरे देश से मँगाकर भारतवर्ष में अपने नाम से बेचने लगें। इससे निर्धन भारतवासियों को अपनी ज़रूरत की सब चीज़ों के लिए अधिक दाम देने पड़ेंगे।

(च) इस समय हमारी आयात का बड़ा भाग यहाँ इंगलैंड से ही आता है। कर कम हो जाने पर यह और भी अधिक आने लगेगा। और, तब आयात-कर की कमी से भारत-सरकार की आमदनी में बहुत घाटा होगा, और वह प्रजा पर अधिक टैक्स का भार लादने का विचार करेगी।

(छ) कच्चे माल की प्रधानता के कारण, इँगलैंड तथा उपनिवेश भारतवर्ष को अपने कच्चे माल का गोदाम समझेंगे, और भारत-

सरकार की लाचारी भारतीय उद्योग-धंधों को कभी पुष्ट न होने देगी। इस प्रकार राजनैतिक सुधार होते हुए भी भारत को आर्थिक स्वाधीनता नहीं मिलेगी।

व्यापारिक समझौते—साम्राज्यांतर्गत रियायत व्यापारिक समझौतों का ही एक रूप है। अतः व्यापार-संधियों के संबंध में भी कुछ विचार किया जाना आवश्यक है। बहुधा कोई देश भिन्न-भिन्न देशों से ऐसा समझौता किया करता है कि अगर तुम अमुक परिमाण में मेरा इतना सामान खरीदोगे तो मैं अमुक परिमाण में इतना माल तुम्हारा खरीदूंगा। ऐसी बातें स्वतंत्र देशों में ही होती है। भारतवर्ष को भी व्यापारिक विषय में कुछ स्वतंत्रता स्कीकार की गई है, अतः भारतवर्ष की, जापान आदि देशों से इस प्रकार की संधि होने लगी है। परंतु गत-दस, बारह वर्ष में यहाँ भारतवर्ष में जापान के कपड़े की आयात का बढ़ना, और इंगलैंड के कपड़े की आयात घटना ब्रिटिश सरकार के लिए बहुत चिंता का विषय हो गया है। वह चाहती है कि भारतवर्ष में जापानी वस्त्र की अपेक्षा ब्रिटिश कपड़े को तरजीह दी जाय, और इसी दृष्टि से ब्रिटिश व्यापारी भारतवर्ष के प्रमुख व्यापारियों से तथा भारत-सरकार से समझौता करने की फिक्र में रहते हैं। बहुधा समझौते की रूप-रेखा से भारतीय जनता तथा यहाँ के नेता बिलकुल अनजान रक्खे जाते हैं। समझौते करने के ढंग, तथा उनके इस प्रकार गुप्त रक्खे जाने की बात बहुत संदेह तथा असंतोष पैदा करनेवाली होती है। आवश्यकता है कि समझौते संबंधी सब बातों पर, अंतिम निर्णय से पूर्व, भारतीय व्यवस्थापक सभा का मत लिया जाया करे। भारतीय व्यापारियों का भी कर्तव्य है कि लोक-मत की उपेक्षा कर किसी गुप्त समझौते में भाग न लें। इस संबंध में यह भी स्मरण रक्खा जाना चाहिए कि गत वर्षों में जापान के माल पर अधिक चुँगी रहते हुए भी

वह अपना कपड़ा यहाँ इंगलैंड से कम दाम पर बेच सका है। अन्य देशों के माल के मुक़ाबले यहाँ इंगलैंड के माल पर चुंगी कम है। ब्रिटिश माल को इतनी अधिक तरजीह नहीं दी जा सकती कि भारतवर्ष को अनुचित हानि उठानी पड़े।

व्यापार-नीति और अंतर्राष्ट्रीयता—व्यापार-नीति-संबंधी पूर्वोक्त बातों को पढ़ कर कुछ व्यक्ति हम पर विश्व-बंधुत्व-विरोधी होने का आक्षेप कर सकते हैं। परंतु स्मरण रहे कि हमें किसी भी सुन्दर शब्द के मोह-जाल में न पड़ कर तात्विक विचार करना चाहिए। संक्षेप में, हमें वह विश्व-बंधुत्व या अंतर्राष्ट्रीयता अभीष्ठ नहीं है जो हमें परावलंबी बनाए। प्रत्येक व्यक्ति की भाँति राष्ट्र को भी जीवित जागृत रहना चाहिए, और इसलिए अपने जीवन-निर्वाह के आवश्यक पदार्थ स्वयं उत्पन्न तथा तैयार करने चाहिए, विशेषतया, जबकि उस देश में आवश्यक कच्चे पदार्थ काफ़ी उत्पन्न होते हों, या उत्पन्न होने की अनुकूलता हो। कोई भी राष्ट्र अपने जीवन-निर्वाह के लिए परमुखापेक्षी रह कर अंतर्राष्ट्रीय ऐक्य-स्थापन में विशेष उपयोगी नहीं हो सकता। हमारा किसी से द्वेष नहीं है, परंतु इसका आशय यह भी नहीं है कि हम अपने विकास की ओर नितांत उदासीन हो जायँ। हम किसी की क्षति या शोषण नहीं चाहते तो हम यह भी नहीं चाहते कि दूसरे राष्ट्र हमें अपने स्वार्थवाद या पूँजीवाद आदि का शिकार बनाकर हमारे विकास को रोकें, और. फिर हमें असभ्य और अवनत कहने का अवसर प्राप्त करें। अन्य क्षेत्रों की भाँति, व्यापार-क्षेत्र में भी हमारी नीति 'जीओ, और जीने दो' की होनी चाहिए।

षष्ठ खंड

वितरण

बाईसवाँ परिच्छेद

लगान

प्राक्कथन—भूमि, खेत, जंगल या खान आदि को व्यवहार में लाने का अधिकार प्राप्त करने के लिए उसके स्वामी को जो कुछ दिया जाता है, उसे लगान कहते हैं। सृष्टि की प्रारंभिक अवस्था में मनुष्य कम थे, और भूमि उनकी आवश्यकता से अधिक। उस समय प्रत्येक आदमी उसका अपनी इच्छानुसार उपयोग कर सकता था। किसी आदमी का किसी भूमि पर अधिकार नहीं था। जन-संख्या की वृद्धि के साथ भूमि की माँग भी बढ़ती गई। परंतु उसका क्षेत्र परिमित ही रहा। अतः जिसके अधिकार में जो भूमि आ गई वही उसका स्वामी बनने लगा। अब अगर किसी के पास आवश्यकता से अधिक भूमि हुई, तो उसने उसके उपयोग का अधिकार दूसरे को देकर उसके बदले में उत्पत्ति का कुछ हिस्सा, जिसे लगान कहते हैं, लेना आरंभ किया। इस प्रकार लगान लेने की रीति निकली।

लगान के भेद—अर्थ शास्त्र की दृष्टि से लगान के दो भेद हैं—(१) कुल लगान जिसे बोलचाल में केवल लगान ही कहते हैं; (२) आर्थिक लगान। कुल लगान में आर्थिक लगान के अतिरिक्त भूमि पर लगे हुए मूल-धन का सूद, और ज़मीन के मालिक का विशेष लाभ

सम्मिलित रहता है। किसी खेत के आर्थिक लगान का हिसाब इस प्रकार लगाया जाता है कि खेत की संपूर्ण उपज के मूल्य में से उसकी खेती के सब प्रकार के लागत-ख़र्च निकाल दिए जायँ; तदुपरांत जो रक़म शेष रहती है, वह उस खेत का आर्थिक लगान मानी जाती है।*

दस्तूर, आबादी और स्पर्द्धा का प्रभाव—भूमि के पास-पास के दो टुकड़ों में भिन्न-भिन्न गुण हो सकते हैं। अतः गुणों के अनुसार दोनों समान क्षेत्रवाले टुकड़ों का लगान भिन्न-भिन्न होता है। लगान में प्रतियोगिता कालांतर में काम करती है। जब आबादी या कारख़ानों की वृद्धि या रेल आदि के कारण ज़मीन की माँग बढ़ती है, तो लगान भी बढ़ता है; और जब कारख़ाने टूटने लगते हैं, आबादी कम होने लगती है, तो लगान कम हो जाता है। पहले यहाँ जब तक कोई कृषक दस्तूर के माफ़िक लगान देता रहता था, तब तक वह अपनी इच्छा के विरुद्ध बेदख़ल नहीं कराया जा सकता था। पीछे समय-समय पर युद्ध, महँगी और बीमारियों के कारण भारतवर्ष के उपजाऊ भागों की आबादी कम हो गई, और ज़मींदारों को दूर-दूर के कृषकों को अपनी भूमि की ओर आकर्षित करने के लिए, आपस में स्पर्द्धा और कृषकों के साथ रियायत करनी पड़ी। इस प्रकार लगान-संबंधी दस्तूर टूटने लगा। किंतु आज-कल एक दूसरे कारण से भी दस्तूर टूट रहा है। जनता की वृद्धि होने और उपज के बाज़ार का क्षेत्र बढ़ने से भूमि की माँग बढ़ गई

---

* भारतवर्ष में, ज़मींदारी-प्रथावाले प्रांतों में, किसान भूमि के उपयोग के लिए जो रक़म ज़मींदार को देता है, वह लगान कहलाती है, और सरकार जो रक़म जमींदार से लेती है, उसे मालगुज़ारी कहते हैं। रैयतवारी प्रांतों में किसान का संबंध सीधा सरकार से होता है, और वह जो रक़म सरकार को देता है, उसे मालगुज़ारी कहते हैं।

है। और, ज़मीन ऐसी चीज़ है, जिसकी पूर्ति नहीं बढ़ सकती। पिछली शताब्दी से लगान या तो क़ानून से निश्चित होता है, अथवा किसान और ज़मींदार के पारस्परिक समझौते से।

ज़मींदारी प्रथा की उत्पत्ति—भारतवर्ष के कई भागों में आज-कल भूमि की उपज के तीन हिस्सेदार होते हैं – किसान, जमींदार, और सरकार। क्या सदैव ऐसा ही होता रहा है? किसान और सरकार तो अति प्राचीन काल से हैं, परंतु इन दोनों के बीच में ज़मीदार कब और कैसे आ गए, यह विषय बहुत विचारणीय एवं महत्त्व-पूर्ण है। सुदीर्घ कालीन हिन्दू शासन में जमींदार-नामक व्यक्ति की चर्चा किसी भी ग्रंथ में नहीं मिलती, वेद श्रुति, स्मृति, पुराण या काव्य किसी भी प्राचीन कृति से यह सिद्ध नहीं हो सकता कि उस समय किसानों से कर वसूल करके उसका बहुत-सा भाग अपने पास रख कर शेष भाग सरकार को देनेवाला, तथा अपने-आपको ज़मीन का मालिक समझनेवाला 'ज़मींदार' रहा हो।

'ज़मींदार' शब्द का प्रयोग मुसलमानों के समय से होने लगा, पर उस समय इसका अर्थ यह नहीं था, जो आज-कल व्यवहार में समझा जाता है। सुप्रसिद्ध और प्रामाणिक ग्रन्थ 'आईन-ए-अकबरी' के अनुसार उस समय इस शब्द का अर्थ था, राजकीय या जागीर ज़मीन की माल-गुज़ारी वसूल करनेवाला। उस समय ज़मींदार वह सरकारी कर्मचारी होता था जो 'आर्थिक दृष्टि से, ज़िले भर के क़ानून के पालन का जिम्मेवार समझा जाता था।' यह कर्मचारी बादशाह से वेतन पाता था, उसे बादशाह की ज़रूरत के लिए कुछ सैनिक रखने होते थे। यह सरकारी नौकर था, न कि किसानों और सरकार के बीच का दलाल।

अच्छा, आधुनिक अर्थ में, जमींदारों तथा जमींदारी की उत्पत्ति

कब हुई ? इनकी सृष्टि ईस्ट-इंडिया कंपनी के समय में, कंपनी द्वारा हुई। पाठक जानते हैं कि अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में व्यापार-रत कंपनी यहाँ की परिस्थिति से लाभ उठाकर राजनैतिक विषयों में भी प्रभुत्व प्राप्त करने लगी। सन् १७६५ ई० में उसके कर्मचारी लार्ड क्लाइव ने दिल्ली के बलहीन बादशाह से बंगाल, बिहार और उड़ीसा की दीवानी प्राप्त की; इससे कंपनी को यह अधिकार मिल गया कि वह इन प्रांतों की मालगुज़ारी वसूल करे, और केवल उसका एक निर्धारित अंश (छब्बीस लाख रुपए) शाहआलम को दे दिया करे। यह व्यवस्था हो जाने पर उक्त प्रांतों के प्रत्येक ज़िले के किसी प्रधान नगर में नीलाम द्वारा ज़मीन का बंदोबस्त किया जाने लगा; जो व्यक्ति नीलाम में मालगुज़ारी की सब से अधिक बोली बोलता, उसे किसानों से लगान वसूल करने का अधिकार मिलने लगा। यह अधिकार केवल एक साल के लिए होता था। अगले साल फिर नए सिरे से ज़मीन का नीलाम होता था। इस प्रकार किसानों से लगान वसूल करने का अधिकार कुछ पैसेवालों के हाथ चला गया जो 'ज़मींदार' कहलाने लगे।

सन् १७७३ ई० के रेग्यूलेटिंग ऐक्ट में कंपनी को आदेश किया गया कि वह कोई भी व्यवस्था आरंभ करने से पूर्व यह विचार करले कि वह भारत के प्राचीन कानून और जनता के ज्ञात अधिकारों से मेल खाती है या नहीं। सन् १७८४ ई० के इंडिया-ऐक्ट के अनुसार ज़मीन के मालिकों में सर्व-प्रथम स्थान 'रैयत' को दिया गया। पर इन क़ानूनों के होते हुए भी किसानों के सिर पर ज़मींदार-नामक वर्ग लाद दिया गया। संभवतः इस का एक मुख्य हेतु यह था कि सर्वसाधारण पर अपनी सत्ता स्थापित करने के लिए सरकार भूमि पर कुछ लोगों का विशेष अधिकार स्वीकार करना आवश्यक समझती थी, जिससे यह लोग अपने विशेष स्वार्थों के कारण सरकार का साथ दें, तथा भारतवर्ष में अंगरेज़ी राज्य की जड़ जमाने में भरसक सहायक हों।

बंगाल में स्थाई बंदोबस्त—उपर्युक्त व्यवस्था में ज़मीदारों ने किसानों से लगान वसूल करने में खूब ज्यादतियाँ कीं। इसका परिणाम यह हुआ कि ज़मीन परती पड़ी रहने लगी, काश्तकार भूखों मरने लगे। तब अधिकारियों को यह ख़याल आया कि यह स्थिति अच्छी नहीं, जब ज़मीन जोती ही न जायगी, तो मालगुज़ारी कहाँ से ली जायगी! अंततः लॉर्ड कार्नवालिस ने सन् १७९३ ई० में सोचा कि जबतक ज़मींदारों को यह विश्वास न हो जायगा कि उनकी ज़मीन से आगे जो फ़ायदा होगा, उसका सब अंश उन्हीं को मिलेगा, तबतक वे ज़मीन का सुधार न करेंगे, और ज़मीन जोतने या जुतवाने में भी उत्साह न दिखाएँगे। इसलिए उन्होंने बंगाल में (जिसमें उस समय बिहार और उड़ीसा भी सम्मिलित थे) में मालगुज़ारी का स्थाई बंदोबस्त कर दिया। सरकार को इतनी मालगुज़ारी मिलने का क़ानून बन गया जो उस समय के वसूल किए जानेवाले लगान का ९० फ़ी-सैकड़ा थी। हाँ, यह निश्चय हो गया कि ज़मीन के सुधार से अधिक आमदनी होने पर सरकार का हिस्सा बढ़ाया न जा सकेगा; उसका सब लाभ ज़मींदारों को होगा।

स्मरण रहे कि उपर्युक्त व्यवस्था में बंदोबस्त ज़मींदारों से किया गया, जब कि वास्तव में होना चाहिए था किसानों से। जस्टिस-फ़ील्ड के शब्दों में 'रैयत को बाध्य किया गया कि वे अपना अधिकार त्याग दें, या यदि उन अधिकारों की रक्षा करना चाहें, तो अपने से कहीं अधिक शक्तिशाली और विवेकहीन लोगों (ज़मींदारों) से खर्चीली मुकद्दमेबाज़ी करें। बंगाल के किसानों को अपना अधिकार खो देना पड़ा क्योंकि वे बहुत ही ग़रीब और हम लोगों की (अंगरेज़ी) क़ानूनी कार्रवाइयों के अनुसार सबूत पहुंचाने के तरीकों से सर्वथा अनजान थे; यहाँ तक कि उनके हक़ साबित करनेवाले कागज़ात

जिन पटवारियों के हाथ में रहे थे उनका पद तोड़ दिया गया था और जिन ज़मींदारों के हाथ में थे, उन्होंने उन कागज़ात को दबा दिया था।'

स्थाई बंदोबस्त के गुण दोष—स्थाई बंदोबस्त के पक्ष में ये बातें कहीं जाती हैं:—(१) राजस्व की दृष्टि से यह लाभ है कि इससे सरकार को निश्चित और स्थाई आय हो जाती है, तथा उसे बार-बार लगान निश्चित करने तथा वसूल करने की आवश्यकता नहीं होती। (२) राजनैतिक दृष्टि से, इससे सरकार को ज़मींदारों की राज-भक्ति प्राप्त हो गई है। (३) सामाजिक दृष्टि से ज़मींदार रैयत के स्वाभाविक नेता बनने और उनकी शिक्षा, स्वास्थ आदि के कार्यों में सहायता करने योग्य हो गए हैं। (४) आर्थिक दृष्टि से इससे कृषि संबंधी उन्नति और जनता की सुख-समृद्धि की वृद्धि हुई है, इससे आदमी अकाल आदि के संकट का सामना करने में अधिक क्षमतावान हो गए हैं। (५) इससे, अस्थाई बंदोबस्त की दशा में होनेवाली बुराइयां दूर हो गई हैं, उदाहरणवत् नए बंदोबस्त में होनेवाला अपरिमित व्यय और किसानों की परेशानी, बंदोबस्त की अवधि के अंतिम दिनों में लगान-वृद्धि से बचने के लिए किसानों की उदासीनता के कारण होनेवाली कृषि-हानि, मालगुज़ारी-विभाग के कर्मचारियों की स्वेच्छाचारिता, आदि।

अब स्थाई बंदोबस्त के विपक्ष की बातें लीजिए:—(क) इससे सरकार को मिलनेवाली आय स्थाई और निश्चित तो रहती है, पर कृषि से होनेवाली आय बढ़ने के साथ सरकार अपने हिस्से की आय को बढ़ा नहीं सकती, जैसा कि वह अन्य आय के संबंध में करती है। इस प्रकार सरकार बहुत-सी आय से वंचित रहती है, और इसके फल-

स्वरूप वह सार्वजनिक उपयोगिता के कामों में भी उस सीमा तक ख़र्च करने में असमर्थ रहती है।

(ख) स्थाई बंदोबस्त से ज़मींदारों की राज-भक्ति प्राप्त होने की बात में यदि पहले कुछ तथ्य था भी, तो इस समय उसका कुछ महत्व नहीं है। अस्थाई बंदोबस्त वाले प्रांतों के जमींदार भी वैसे ही राज-भक्त हैं।

(ग) यद्यपि कुछ ज़मींदार व्यक्तिगत रूप से उदार और परोपकारी हैं, परंतु स्थाई बंदोबस्त से जो यह आशा की गई थी कि ज़मींदार सामुहिक रूप से समाज का नेतृत्व, और सार्वजनिक शिक्षा, स्वास्थ आदि की उन्नति करनेवाले होंगे, वह आशा पूरी नहीं हुई।

(घ) बंगाल की सुख-समृद्धि का श्रेय स्थाई बंदोबस्त को न होकर अन्य बातों को है, यथा किसानों की, काश्तकारी (टिनैंसी)-क़ानूनों द्वारा रक्षा; जल-वायु की अपेक्षाकृत निश्चितता; आमोदरफ्त के साधनों की विद्यमानता; ज्यूट का प्रायः एकाधिकार, और कलकत्ते से होने वाला व्यापार-व्यवसाय आदि।

(च) अब इतने वर्षों के अनुभव और कार्य के बाद नया बंदोबस्त करने में पहले की तरह बेहद ख़र्च, तथा कृषक-जनता की उतनी अ-सुविधा नहीं होती। स्थाई बंदोबस्त की दशा में लगान जितना कड़ाई से लगाया जाता है, अस्थाई बंदोबस्त की दशा में उतनी सख्ती नहीं की जाती।

सरकार को राष्ट्र-हित-संबंधी नए-नए कार्य करने हैं, और उनके वास्ते अधिकाधिक द्रव्य की आवश्यकता होती है। अतः कितने-ही विद्वानों का मत है कि जनता पर कर-भार उचित मात्रा में होने के लिए एवं सरकार को यथेष्ट आय प्राप्त होने के लिए आवश्यकता इस बात की है कि स्थाई बंदोबस्त का संशोधन कर नया बंदोबस्त किया जाय। यद्यपि ऐसा करने में सरकार की पूर्व प्रतिज्ञा की बात बाधक

है, तथापि किसी श्रेणी विशेष के स्वार्थ के लिए जन साधारण के हितों की चिरकाल तक बलि नहीं दी जानी चाहिए। आर्थिक सिद्धांत से, स्थाई बंदोबस्त का बिलकुल समर्थन नहीं होता, इसका जितनी जल्द संशोधन कर दिया जाय, अच्छा है।

अस्थाई बंदोबस्त—पहले कंपनी का विचार था कि बंगाल की तरह अन्य प्रांतों में भी स्थाई बंदोबस्त कर दिया जाय। परंतु जब उसने स्वार्थ-भाव से यह सोचा कि ज़मीन की उपज दिन-दिन बढ़ती जाती है, और उसके साथ सरकारी मालगुज़ारी भी बढ़ाई जा सकती है, तो उसने अपना वह विचार त्याग दिया, और अस्थाई प्रबंध ही जारी रक्खा। उत्तर-भारत में यह निश्चय किया गया कि ज़मीन से मालगुज़ार को लगान के रूप में जो आमदनी हुआ करे, उसका ८३ फ़ी-सदी सरकार ले, और शेष केवल १७ फ़ी-सदी ज़मींदार को मिले। जब ज़मींदार इतनी ज़्यादा मालगुज़ारी देने में असमर्थ रहे, तो सरकार ने अपना हिस्सा ८३ से घटाकर ७५ फ़ी-सदी कर दिया। और, जब इस के भी वसूल होने में कठिनाई हुई, तो उसे और घटाकर ६६ कर दिया। परंतु इससे भी काम चलता न देख, सरकार को लाचार होकर सन् १८५५ ई० में अपना हिस्सा ५० फ़ी-सदी ठहराना पड़ा। सन् १८६४ ई० में यही नियम भारतवर्ष के कुछ अन्य प्रांतों में कर दिया गया। इस समय सरकार लगान की रकम का ४० से ५० प्रति शत तक माल-गुज़ारी के रूप में लेती है, और शेष ज़मींदार के लिए छोड़ती है।

मालगुज़ारी का परिमाण निश्चित होने से लाभ ज़मींदारों को, और उनमें भी केवल बड़े-बड़े ज़मींदारों को हुआ।* अब, किसानों के बारे में

* बड़े ज़मींदारों को अपनी आय में से ४०-५० प्रति शत देना कुछ कठिन नहीं होता, परंतु छोटे ज़मीदारों को इतने परिमाण में मालगुज़ारी देना बहुत कष्ट-प्रद है।

सुनिए। क्रमशः जन-संख्या-वृद्धि और औद्योगिक ह्रास के कारण अधिकाधिक भूमि में खेती होने लगी, और भूमि की माँग बढ़ती गई। परंतु भूमि की मात्रा परिमित ही थी। अतएव ज़मींदारों ने अपनी भूमि का लगान बढ़ाना शुरू कर दिया। इससे किसान बहुत दुःखी होने लगे। इस पर सन् १८४६ ई० में सरकार ने इस विषय की ओर पहले-पहल ध्यान दिया। सन् १८८५ ई० में बंगाल-टिनेंसी (काश्तकारी)-ऐक्ट पास हुआ। इससे पहले के नियमों की त्रुटियाँ दूर की गईं, और सब प्रकार के काश्तकारों के दर्जों और अधिकारों की रक्षा की गई। इस ऐक्ट में यह व्यवस्था की गई कि जो किसान किसी भूमि में १२ वर्ष तक काश्त कार ले, उसे उस भूमि पर मौरूसी अधिकार प्राप्त हो जायँ। पश्चात् विविध क़ानूनों से इसमें आवश्यक संशोधन किया गया, और विगत वर्षों के अनुभव से जो त्रुटियाँ मालूम हुईं, वे दूर की गईं। लगान के बहुत अधिक न बढ़ाए जाने की भी व्यवस्था की गई। अन्य प्रांतों में भी समय-समय पर काश्तकारी-क़ानून बनाया गया।

अस्थाई बंदोबस्त वाले प्रांतों में सरकारी मालगुज़ारी एक बार केवल तीस, बीस या इससे कम सालों के लिए निश्चित की जाती है। इस अवधि के उपरांत हर समय नया बंदोबस्त होता है, जिसमें बहुधा मालगुज़ारी का भार बढ़ता ही रहता है। अस्थाई बंदोबस्त दो प्रकार का है—

(क) ज़मींदारी, ताल्लुक़दारी या ग्राम्य—इसमें ज़मींदार या ताल्लुक़दार अपने हिस्से की, अथवा गाँववाले मिलकर कुल गाँव की, मालगुज़ारी सरकार को चुकाने के लिए उत्तरदाई होते हैं।

(ख) रैयतवारी—इसमें सरकार सीधे काश्तकारों से संबंध रखती है।

बंदोबस्त का हिसाब—बंदोबस्त की भिन्न-भिन्न प्रणालियों

का मोटा हिसाब इस प्रकार है :—(१) स्थाई बंदोबस्त; बंगाल में, बिहार के ५/६ भाग में, एवं आसाम के आठवें और संयुक्त प्रांत के दसवें भाग में। (२) ज़मींदारी या ग्राम्य बंदोबस्त, संयुक्तप्रान्त में ३० वर्ष, और पंजाब तथा मध्य-प्रान्त में २० वर्ष के लिए मालगुज़ारी निश्चित कर दी जाती है। गाँववाले मिल कर इसे चुकाने के लिए उत्तरदाई होते हैं। (३) रैयतवारी बंदोबस्त; बंबई, सिंध, मदरास, और आसाम में, एवं बिहार के कुछ भाग में। इन स्थानों में सरकार सीधे काश्तकारों से संबंध रखती है। बंबई, मदरास में ३० वर्ष में, तथा अन्य प्रांतों में जल्दी-जल्दी बंदोबस्त होता है। सरकारी मालगुज़ारी नक़दी में ली जाती है, जिंस (उपज) के रूप में नहीं। अति-वृष्टि या अनावृष्टि आदि से फ़सल ख़राब हो जाने पर जब पैदावार कम हो जाती है, तो मालगुज़ारी का कुछ अंश छोड़ने का नियम है। परंतु प्रायः यह शिकायत रहती है कि यह छूट नुकसान के हिसाब से कम होती है, और वैसे भी मालगुजारी वास्तविक उपज की दृष्टि से अधिक ही ली जाती है। भारतीय किसानों की दरिद्रता और ऋण-ग्रस्तता का एक मुख्य कारण यही माना जाता है।

बंदोबस्त की अवधि—इस विषय में बहुत मत-भेद है कि बंदोबस्त अल्पकाल के लिए हुआ करे, अथवा अधिक से अधिक समय के लिए। कुछ लोगों का मत है कि वह दस साल के लिए ही हुआ करे, दूसरों का मत है कि वह निन्यानवे साल तक के लिए होजाया करे। अल्पकाल के पक्ष में एक बात तो यह है कि इससे राज्य और समाज को उस आमदनी का उचित हिस्सा मिल जाता है, जो साधारण उन्नति के कारण, बिना प्रयास ही हो जाती है। यह बात विशेषतया उन स्थानों के लिए लागू होती है, जहाँ आर्थिक साधनों का तेज़ी से विकास हो रहा हो। इस पक्ष में दूसरी बात यह भी है कि

उत्पत्ति का परिमाण या उसका मूल्य कम हो जाने की दशा में, लगान की दर कम करना और इस प्रकार कृषकों का भार हलका करना सुगम होता है। एक बात यह भी है कि इससे समय-समय पर लगान की थोड़ी-थोड़ी वृद्धि होने से किसानों को उसका अभ्यास हो जाता है, और उनमें असंतोष कम होता है, बनिस्पत इसके कि सुदीर्घ काल में लगान की एक दम बहुत वृद्धि हो जाय। इसके विरोध में यह कहा जाता है कि सुदीर्घ काल के लिए बंदोबस्त हो जाने की दशा में, लगान देने-वाला बार-बार के परिवर्तनों से बच जाता है, वह अपने साधनों की वृद्धि कर सकता है, वह लगान-वृद्धि की आशंका से मुक्त रहते हुए कृषि की उन्नति करता है। अस्तु, यदि लगान विचार-पूर्वक वैज्ञानिक पद्धति से निश्चित किया जाय तो बंदोबस्त की अवधि उपर्युक्त दोनों प्रकार के विचारों के संतुलन पर निर्भर रहेगी। साधारणतया तीस-चालीस वर्ष में नया बंदोबस्त होते रहना ठीक ही है।

ज़मींदार और किसानों का संबंध—भारतवर्ष में जहाँ स्थाई बंदोबस्त है, और जहाँ बीस-तीस वर्ष के बाद बंदोबस्त होता है, वहाँ मौरूसी काश्तकारों की हालत मामूली तौर से ठीक समझी जाती है। उनसे ज़मींदार मनमाना लगान वसूल नहीं कर सकते। परंतु ग़ैर-मौरूसी और शिकमी-दर-शिकमी (Sub-tenants) काश्तकारों की दशा सभी प्रांतों में शोचनीय है। प्रायः ज़मींदार यही समझते हैं कि कृषकों से लगान अधिक-से-अधिक, जितना कानून के अंदर रहते संभव हो, वसूल कर लिया जाय। वे आरामतलबी और कुछ दशाओं में तो बिलासिता का जीवन बिताते हैं। कितने-ही ज़मींदार तो नगरों में आ बसते हैं, ग्रामों में रहना उन्हें अरुचिकर प्रतीत होता है। यह ठीक है कि हमारे अधिकाँश ग्रामों का जीवन बहुत निम्न प्रकार का है,

वहाँ स्वास्थ, चिकित्सा और मनोरंजन के साधनों का अभाव है । परंतु इसका दाइत्व भी बहुत-कुछ स्वयं ज़मींदारों पर है. यदि वे चाहें तो ग्राम-जीवन को सुधारने में बहुत भाग ले सकते हैं । ज़मींदारों को केवल सेवा और परोपकार की दृष्टि से ही नहीं, अपने स्वार्थ के विचार से भी कृषि की उन्नति करनी चाहिए; किसानों की आय बढ़ने से ज़मींदारों की भी आय बढ़ेगी । कृषकों को दुखी रखकर ज़मींदारों को क्षणिक लाभ भले ही हो, अंततः तो किसानों के हित में ही उनका भी हित है । अतः उन्हें दूरदर्शिता से काम लेना चाहिए । किसानों की, ज़मींदारों के विरुद्ध मुख्य शिकायतें ये हैं—

१—वे इनसे दशहरा और अन्य त्योहारों पर नज़राना तथा अन्य तरह-तरह के अनेक कर वसूल करते हैं ।

२—वे ग़ैर-मौरूसी काश्तकारों को पट्टे की समाप्ति के समय बे-दख़ली की धमकी देते रहते हैं ।

३—वे किसानों से रसद और बेगार लेते हैं (राष्ट्रीय जागृति से यह बात अब बहुत कम हो गई है) ।

४—उनके नौकर इन पर बहुत अत्याचार करते हैं; किसानों की शिकायतों पर ध्यान नहीं दिया जाता ।

अस्तु, जहाँ बेदख़ली का भय है, वहाँ किसान काफ़ी रक़म लगाकर ऐसी खेती अच्छी तरह नहीं करते, जैसी मौरूसी काश्तकार । इससे देश में उपज काफी नहीं बढ़ती, और किसानों की दशा दिन-पर-दिन ख़राब होती जाती है । अतः ज़मींदारों से बे-दख़ली का अधिकार वापस लेकर इस कुप्रथा का अंत किया जाना चाहिए । काश्तकारी-क़ानून में ऐसा परिवर्तन कर दिया जाय कि ग़ैर-मौरूसी काश्तकारों को, जो तीन साल खेती कर चुके हों, मौरूसी हक़ प्राप्त हो जायँ । और, जिन्हें खेती करते कम

समय हुआ हो, उन्हें उस अवधि के पूरी होने पर मौरूसी हक़ प्राप्त हो जायँ। बे-दख़ली का नियम हटाने के लिए किसानों को भी संगठित रूप से आंदोलन करना चाहिए। आजकल जगह-जगह किसान-सभाएँ स्थापित हैं। वे किसानों के विविध कष्टों को दूर करने का बीड़ा उठा सकती हैं। देश-हितैषियों को इनकी वृद्धि और विस्तार में योग देना, और ज़मींदार-सभाओं के अनुचित प्रयत्नों को असफल करना, चाहिए।

क्या ज़मींदारी-प्रथा उठा दी जानी चाहिए ?—कुछ समय से, विशेषतया ज़मींदारों की प्रतिगामी नीति के कारण देश में लोकमत ज़मींदारी-प्रथा के विरुद्ध बढ़ता जा रहा है। यद्यपि ज़मींदारों की ज़्यादती और अनीति के उदाहरणों का अभाव पहले भी नहीं रहा, अब से कुछ वर्ष पहले तक सामुहिक रूप से उनके, अथवा ज़मींदारी-प्रथा के विरुद्ध आवाज़ नहीं उठाई जाती थी। इस समय भी अनेक आदमी ज़मींदारों से यह आशा करते हैं कि वे अपने रंग-ढंग का सुधार कर, किसानों को अपने परिवार का अंग समझेंगे, और देश-हित की ओर समचित ध्यान देंगे। परंतु खेद है कि अधिकाँश ज़मींदारों ने अल्प-संतोषी, सहिष्णु और स्वामि-भक्त किसानों के प्रति वफ़ादारी, और समाज के लिए अपनी उपयोगिता का परिचय नहीं दिया। इससे उनके विरोधियों का बल बढ़ने का अवसर मिला। अब अनेक व्यक्ति और संस्थाओं का यह मत है कि ज़मींदारी-प्रथा हटा दी जाय। इनके मार्ग में मुख्य कठिनाई यह है कि अभी तक ज़मींदारी हटाने के किसी सरल और सर्व-सम्मत उपाय का विचार नहीं हो सका है। यदि ज़मींदारों ने समय की गति को नहीं पहचाना और अपने व्यवहार में विशेष सुधार नहीं किया तो ज़मींदार-विरोधी दल की विजय के ही लक्षण हैं।

इस समय ग्राम-सुधार, और किसानों की उन्नति की ओर अधिकाधिक ध्यान दिया जा रहा है। इसके लिए मुख्य उपाय यह बतलाए जाते हैं कि लगान काफ़ी कम किया जाय, और ज़मींदारी-प्रथा उठा दी जाय। लगान कम करने की आवश्यकता सर्व-मान्य है; जब तक लगान कम न किया जायगा, किसानों की दशा में विशेष सुधार होने की आशा नहीं है। अब ज़मींदारी-प्रथा की बात लीजिए। इस के विषय में निम्नलिखित बातें हैं:—

(१) जैसा कि पहले कहा जा चुका है, यह प्रथा यहाँ अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में स्थानीय शासकों की निर्बलता, जनता की सुशुप्ति और ईस्ट-इंडया-कंपनी की अत्यधिक स्वार्थ-परता के कारण स्थापित हुई। अब परिस्थिति बदल गई है, जनता स्वराज्य के लिए प्रयत्न-शील है, शासक भी इस ओर बढ़ने का दम भरते हैं।

(२) ज़मींदारी-प्रथा से ज़मींदार बिना श्रम किए धन को उपयोग करने का अवसर पाते हैं, जब कि अनेक किसानों को अत्यधिक श्रम करना पड़ता है।

(३) वर्तमान अवस्था में किसान लगान के भारी बोझ से दबे होने पर भी, सरकार को राष्ट्र-निर्माण के कार्यों के लिए द्रव्य की कमी रहती है, और वह आबकारी आदि की कुत्सित आय का सहारा लेती है। ज़मींदारी-प्रथा हटने से लगान का परिमाण कम किए जाने पर भी ख़ज़ाने में इस समय की अपेक्षा अधिक आय प्राप्त हो सकती है। उदाहरणार्थ यदि किसी तहसील में ज़मींदारी-प्रथा है, और वहाँ से इस समय एक लाख रुपया लगान में वसूल होता है तो इसका लगभग आधा अर्थात् पचास हज़ार रुपया ज़मींदारों के पास रहकर इतने के करीब ही सरकारी ख़ज़ाने में पहुँचता है। ज़मींदारी-प्रथा हटने पर, किसानों पर लगान का परिमाण

साठ-सत्तर हज़ार रुपए किया जा सकता है, फिर भी यह सब रुपया सीधा सरकार को मिलने से, इसका परिमाण इस समय की अपेक्षा अधिक होगा

(४) ज़मींदारी-प्रथा में प्रायः किसान ज़मीदारों के अत्याचारों के शिकार रहते हैं, तथा उन्हें बहुत मुकदमेबाजी और झंझटों में फंसना होता है। इस प्रथा को हटाने से किसानों को इन बातों से छुटकारा मिलेगा; दूसरे शब्दों में, देश के बृहदंश की सुख-शांति बढ़ेगी।

(५) अनेक ज़मींदार ब्रिटिश साम्राज्यवाद के समर्थक और पोषक है, तथा जनता के स्वराज्य-आंदोलन में बाधक है, जैसा कि केंद्रीय और प्रांतीय निर्वाचनों में तथा अन्य अवसरों पर प्रगट हो चुका है।

अस्तु; सब निस्पक्ष व्यक्ति इस बात में तो सहमत है कि ज़मींदारी-प्रथा बहुत हानिकर है, इसे हटाया जाना चाहिए।* परंतु प्रश्न यह है कि यह प्रथा किस प्रकार हटाई जाय, ज़मींदारों को किस प्रकार और कितना मावज़ा (प्रतिफल) दिया जाय, मावज़े की रक़म का प्रबंध किस प्रकार किया जाय। इन प्रश्नों का एक सरल सीधा उत्तर नहीं दिया जा सकता, प्रत्येक प्रकार की ज़मींदारी के संबंध में पृथक्-पृथक् देश काल के अनुसार विचार किया जाना आवश्यक होगा। राष्ट्र-पति जवाहरलाल नेहरू ने ठीक ही कहा है कि 'मेरी राय में जब भी यह मालगुज़ारी प्रथा जावे तो वह इतनी शांति-पूर्वक और इस तरीके से, जिसमें किसी दल को नुकसान न पहुँचे। मैं माकूल मावज़ा दिलाने के लिए पूरी तौर से तैयार हूँ। उसका तरीक़ा और विस्तार उस समय की परिस्थिति पर सावधानी से विचार कर निश्चय किया जाना चाहिए,

---

* ज़मींदारों की 'खुदकाश्त' या 'सीर' ज़मीन में उन्हें खेती करने का अधिकार जैसा इस समय है, वैसा ही बना रहे।

जिसमें कृषकों पर इसका भार न पड़े। अवश्य ही इस प्रश्न का हल आपसी समझौते से हो सकता है। मैं इस प्रकार के समझौते के पक्ष में हूँ, क्यों कि इसके अलावा और कोई तरीक़ा अधिक खर्चीला और दुःख-प्रद होगा। अगर कहीं बड़े भारी संघर्ष के बाद यह हुआ तो कोई नहीं कह सकता कि निपटारा किस प्रकार का होगा। मैं तो सदा प्रजा-तन्त्र के तरीके ही की दृष्टि से इसका निपटारा चाहता हूं; अर्थात् जो जनता का बहुमत चाहे, वही किया जावे।'

ज़मीन का मालिक कौन; सरकार या प्रजा ?—लगान संबंधी प्रश्नों में से एक महत्व-पूर्ण प्रश्न यह है कि भूमि का मालिक कौन, सरकार या प्रजा। भारतवर्ष में सरकार स्वदेशी न होने से, इस प्रश्न का महत्व और भी अधिक है। अतः इस पर कुछ विशेष विचार किया जाना आवश्यक है। प्राचीन काल में जिस भूमि को जो आदमी जंगल काट कर साफ़ करता तथा जोतता-बोता, वह भूमि उसी की मानी जाती थी। हिन्दुओं के प्राचीन धर्म-ग्रंथों के अनुसार राजा को केवल इतना अधिकार होता था कि प्रजा की रक्षा आदि के प्रबंध का ख़र्च चलाने के लिए, अन्यान्य करों की भाँति ज़मीन की आमदनीवालों से भी कुछ निश्चित कर ले। पहले हिंदू राजा ज़मीन की पैदावार के दसवें हिस्से से लेकर छठे हिस्से तक लिया करते थे। कौटिल्य के अर्थशास्त्र से भी सिद्ध होता है कि राजा को दिया जानेवाला अन्न का भाग, उसके रक्षा कार्य का प्रतिफल था, राजा भूमि का स्वामी नहीं माना जाता था। हां, क्रमशः कुछ थोड़ी सी भूमि ऐसी होने लगी, जिस पर राजा दासों, वतन-भोगी श्रमियों, या दंडित अपराधियों द्वारा खेती कराता था। इस थोड़ी सी भूमि पर राजा का व्यक्तिगत अधिकार रहता था। अन्य सब भूमि जनता की होती थी।

टॉड साहब अपने 'राजस्थान' में मेवाड़ का वर्णन करते हुए लिखते हैं कि किसान ही भूमि का स्वामी है। सारे राजपूताने में यह कहावत प्रचलित है कि 'भोग रा धनी राज हो, भोम रा धनी मा छो।' अर्थात् कर का अधिकारी राजा है, और ज़मीन के मालिक हम हैं। राजस्थान में ही क्यों, भारतवर्ष के प्रत्येक प्रांत की हिंदू-जाति के विधान-पत्र में उक्त पवित्र वाक्य स्वर्णाक्षरों में लिखा हुआ है।

मुसलमान बादशाह भी अपने को जमीन का मालिक नहीं समझते थे। क़ुरान के टीकाकार हिडाया तथा मोहम्मदी क़ायदे जाननेवाले अन्य विद्वानों का मत है कि प्रजा ही ज़मीन की मालिक है। औरंगज़ेब ने भी एक विज्ञप्ति में प्रजा का भूमि-स्वामित्व स्वीकार किया था। सन् १७१९ ई० में ईस्ट-इंडिया-कंपनी ने अपनी कलकत्तेवाली कोठी के पास, ३८ गाँवों की ताल्लुक़दारी ख़रीदने के लिए, एक प्रार्थना-पत्र भेजा था। बादशाह ने कंपनी को गाँव प्रजा से ख़रीदने की आज्ञा दी थी। पेशवा भी क़ीमत देकर ही ज़मीन ख़रीदते थे। सन् १८४७ ई० में बंबई-हाईकोर्ट के 'कानड़ा लैंड असेस्मेंट' के मुक़दमे में जस्टिस वेस्ट्राप और जस्टिस वेस्ट ने इस प्रश्न पर खूब विचार कर, हिन्दू-धर्म के आधार पर, प्रजा का भूमि-स्वामित्व सिद्ध किया था। प्रिवी-कौंसिल ने भी इसी का अनुमोदन किया था।

अस्तु, हिन्दुओं के, एवं मुसलमानों के शासन में सरकार का भूमि पर स्वमित्व न था। वह उस पर लोगों का अधिकार मानती रही। राजा या बादशाह के विजेता होने की दशा में भी इसमें कोई अंतर न होता था; विजेता अपने पूर्वाधिकारी की व्यक्तिगत संपत्ति का ही अधिकारी होता था, राज्य में जनता की स्थिति पूर्ववत बनी रहती थी। मुग़ल-शासन में राज्य-मंत्री राजा टोडरमल ने केवल इतना किया कि समस्त भूमि की पैमायश कराई, फिर उसने मालूम किया कि किस

भूमि की उपज में से कितनी राज-कर के रूप में देने का रिवाज है, और इस राज-कर की क़ीमत नकदी में मालूम की तथा भविष्य में भू-कर जिंस के बजाय नकदी में देने का नियम कर दिया। यह स्पष्ट ही है कि जब तक भू-कर जिंस में दिया जाता था, तो वह उपज का निर्धारित भाग रहने के कारण, उसके लिए भूमि की पैमायश की आवश्यकता नहीं होती थी। अस्तु, टोडरमल ने भू-कर, या भूमि-स्वामित्व के मूल सिद्धांत के संबंध में कोई परिवर्तन नहीं किया।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, औरंगजेब की मृत्यु के बाद से, ब्रिटिश राज्य की सुदृढ़ स्थापना होने तक के समय में प्रांतीय शासकों या अधिकारियों ने भूमि पर तरह-तरह के अधिकार जताए। इस उथल-पुथल के समय भूमि का अधिक-से-अधिक लगान वसूल करने की प्रवृत्ति रही। जनता भूमि पर अपना अधिकार बताने के कार्य में उदासीन रही; लोगों की मुख्य चिंता यह हो गई कि किस प्रकार ज़मीन को छोड़ दें, और उसका लगान देने के भार से मुक्ति पावें। इस प्रकार सरकार भूमि पर अपना स्वत्व रखने लगी, और जनता ने उसका विरोध न किया। तथापि जहाँ तक ऐतिहासिक अनुशीलन से पता चलता है, यह निष्कर्ष निकलता है कि यदि ब्रिटिश राज्य की स्थापना से तत्काल पूर्व की राजनैतिक अव्यवस्था के समय की बात छोड़ दें तो भूमि पर लोगों का अधिकार निश्चित रूप से था, और सरकार उसे मान्य करती थी। ब्रिटिश सरकार की इस विषय की नीति सब समय और सब दशाओं में समान नहीं रही, तथापि साधारणतया उसकी, भूमि पर लोगों का स्वामित्व मानने की प्रवृत्ति रही है। वास्तव में इस संबंध में यहाँ परंपरा इतनी प्रबल है कि किसी सरकार का, उसकी स्पष्ट रूप से अवहेलना करना बहुत असंतोष-प्रद ही होता है।

लगान और मालगुज़ारी निर्धारित करने की विधि— अब हम संक्षेप में यह बतलाते हैं कि उन प्रांतों में जहाँ स्थाई बंदोबस्त नहीं है, लगान और मालगुज़ारी किस प्रकार निश्चय की जाती है। सरकारी मालगुज़ारी, और मौरूसी काश्तकारों का लगान बंदोबस्त के समय सरकारी अफ़सरों द्वारा निश्चय किया जाता है, और किसी विशेष कारण, बिना, अगले बंदोबस्त तक उसमें कोई कमी-बेशी नहीं की जाती। भारतवर्ष के भिन्न-भिन्न भागों में मालगुज़ारी निर्धारित करने के तीन तरीके हैं। (१) संयुक्त-प्रांत में मौरूसी काश्तकारों का लगान उस लगान के आधार पर निश्चित किया जाता है जो गैर-मौरूसी काश्तकार ज़मींदारों को पिछले बंदोबस्त में दे चुके हैं। (२) मध्य-प्रांत में लगान का निश्चय भूमि के गुण और स्थिति की जाँच करके किया जाता है। (३) बंबई प्रांत में बंदोबस्त-अफ़सर यह जानने का प्रयत्न करते हैं कि प्रत्येक खेत में पिछले बंदोबस्त के समय जो उपज हुई, उसकी क़ीमत क्या थी, और उसमें लागत-ख़र्च क्या हुआ था। उपज की क़ीमत से, लागत-ख़र्च निकाल देने पर जो रक़म शेष रहती है, साधारणतया उसका लगभग आधा भाग आगामी बंदोबस्त तक के लिए मालगुज़ारी निश्चित की जाती है।

भारतवर्ष के सब प्रांतों में मालगुज़ारी की दर एक ही प्रकार से निश्चित होना ठीक है, और उसके लिए अंतिम अर्थात् बंबई प्रांतवाली विधि सर्वोत्तम है। परंतु उसमें कुछ सुधार भी होना आवश्यक है। वर्तमान समय में उसका व्यवहार, जैसा चाहिए, नहीं होता। प्राय: किसानों को यह शिकायत रहती है कि उपज का मूल्य बढ़ाकर, और लागत-खर्च घटाकर हिसाब लगाया जाता है। इस प्रकार जो मालगुज़ारी निश्चित की जाती है, वह आर्थिक लगान की अपेक्षा बहुत अधिक होती है, और किसानों को मालगुज़ारी अपनी मज़दूरी में से देनी

पड़ती है, इसलिए उनको कई महीनों तक भूखे रहना पड़ता है।*

सन् १९२६ ई० की कर-जाँच-समिति ने यह स्वीकार किया है कि 'खेती के लागत-ख़र्च में किसान और उसके कुटुंब के उन लोगों की मज़दूरी सम्मिलित नहीं की जाती, जो खेती पर काम करते हैं।' यदि लागत-खर्च ठीक लगाया जाय तो बहुत-से खेत ऐसे निकलेंगे, जिनकी आमदनी लागत-खर्च से कम होगी। इस प्रकार के खेत जोतनेवालों से तो मालगुज़ारी या लगान लिया जाना किसी भी दशा में उचित नहीं कहा जा सकता।

पुनः सब किसानों से (रैयतवारी प्रांतों में), और सब ज़मींदारों से (ज़मींदारी-प्रथा वाले प्रांतों में), बिना उनकी हैसियत का विचार किए, लगान का ५० % मालगुज़ारी लिया जाना अनुचित है। जैसे-जैसे लगान की आमदनी अधिक हो, वैसे-वैसे मालगुज़ारी का दर बढ़ना चाहिए। उदाहरणार्थ एक हज़ार की आमदनी तक कुछ मालगुज़ारी न ली जाय; और उससे अधिक पर निम्नलिखित दर से ली जायः—

१०००) से २०००) तक की आय पर	...	१० %
२०००) ,, ३०००) ,, ,,	...	१५ %
३०००) ,, ५०००) ,, ,,	...	२५ %
५०००) ,, १०,०००) ,, ,,	...	५० %
१०,०००) ,, अधिक आय पर	...	७५ %

* ऐसी दशा में किसान भूमि को रखते ही क्यों है? इसका उत्तर यह है, कि उनके पास स्थाई आजीविका का और कोई साधन न होने से वे भूमि के थोड़े-बहुत सहारे को छोड़ना नहीं चाहते। बिलकुल भूखे रहने से आधे-पेट रहना ही अच्छा है। फिर, भूमि के, पैत्रिक-संपत्ति होने के कारण भी किसानों को उसका मोह रहता है।

ऐसा करने से किसानों और छोटे ज़मींदारों की आर्थिक दशा में बहुत सुधार होगा; इनकी संख्या कुल जनता में काफ़ी अधिक होने से, इससे देश में सुख और संतोष की वृद्धि होगी।

लगान पर व्यवस्थापक सभाओं का नियंत्रण—यद्यपि समय-समय पर लगान वसूल करने आदि के संबंध में व्यवस्थापक सभाओं ने कुछ क़ानून बनाए हैं, प्रायः उनका इस विषय में बहुत ही कम नियंत्रण हैं; शासन-अधिकारियों को बहुत-कुछ स्वेच्छाचार-पूर्वक व्यवहार करने की गुंजायश है। इससे जनता को बहुत कष्ट और असुविधा होती है। इस बात की बहुत आवश्यकता है कि क़ानून द्वारा यह निर्धारित किया जाय, कि लगान निश्चय करने के सिद्धांत क्या हों, लगान की मात्रा का हिसाब किस प्रकार लगाया जाय, कितने-कितने समय बाद भिन्न-भिन्न स्थानों में नया बंदोबस्त हो, नए बंदोबस्त में वह किस हिसाब से घटाया-बढ़ाया जाय, आदि। इन बातों का संबंध सर्व-साधारण के हित से है, अतः ये प्रबंधक वर्ग के स्वेच्छाचार पर निर्भर न रह कर व्यवस्थापक सभाओं के नियंत्रण में रहनी चाहिए।

तेईसवाँ परिच्छेद

मज़दूरी

प्राक्कथन—श्रम करनेवाले को उसके श्रम के बदले में जो धन दिया जाता है, उसे 'मज़दूरी' कहते हैं। मासिक मज़दूरी प्रायः वेतन कहलाती है। सर्व-साधारण में 'वेतन'-शब्द अधिक आदर-सूचक है; परंतु अर्थ-शास्त्र में ऐसा कोई भेद नहीं। अपनी भूमि पर, अपने ही औज़ारों से काम करनेवाले बढ़ई, लुहार आदि को जो मज़दूरी दी जाती

है, वह सब वास्तव में केवल मज़दूरी ही नहीं होती, उसमें उनकी भूमि का लगान तथा उस मूलधन का सूद भी मिला होता है, जो इन कारीगरों का अपने औज़ार ख़रीदने में लगा है।

नक़द और असली मज़दूरी—पहले बताया जा चुका है कि उत्पादकों को आज-कल प्रायः उत्पन्न पदार्थ का कोई हिस्सा न देकर ऐसी रक़म दी जाती है, जो उनके हिस्से के पदार्थ की क़ीमत हो। इस प्रकार श्रमजीवियों के श्रम से जो वस्तु पैदा होती है, वही वस्तु उन्हें नहीं दी जाती; यदि दी जाय, तो बड़ी असुविधा हो। मान लो, कोई श्रमजीवी लोहे या कोयले की खान में काम करता है। यदि उसे उसके श्रम के बदले लोहा या कोयला ही दिया जाय, तो वह उसका क्या करेगा? उसे इनके बदले अपनी आवश्यकता के पदार्थ—अन्न-वस्त्र आदि—प्राप्त करने होंगे। और, यह काम हर समय और हर स्थान में सहज ही नहीं हो सकता। इसलिए आजकल श्रमजीवियों को उनके श्रम का प्रतिफल प्रायः रुपए-पैसे में चुकाया जाता है। इसे नक़द मज़दूरी कहते हैं। यदि मज़दूरी अन्न-वस्त्र आदि पदार्थों में दी जाय, तो इन पदार्थों के परिमाण को मज़दूरों की असली मज़दूरी कहा जाता है। इसमें मकान, शिक्षा, या मनोरंजन आदि वे विशेष सुविधाएँ भी सम्मिलित होती हैं, जो मज़दूरों को उनके मालिकों की ओर से प्राप्त होती हैं।

नक़द मज़दूरी से श्रमजीवियों की दशा का ठीक अनुमान नहीं होता। उदाहरणार्थ अगर मोहन को रोज़ाना ॥) मिलते हैं, और उसके नगर में गेहूँ का भाव दस सेर का है। तथा सोहन को रोज़ाना ॥=) आने मिलते हैं, और उसके नगर में गेहूँ का भाव छः सेर का है, तो सोहन की नक़द मज़दूरी अधिक होने पर भी, असली मज़दूरी मोहन

को ही अधिक मिलती है। इसी प्रकार अगर दोनों को अपनी विविध आवश्यकताओं का सामान बराबर ही मिले, परंतु मोहन को रहने का मकान आदि मुफ़्त मिलता है, अथवा काम करने के घंटों के बीच में अवकाश या मनोरंजन का ऐसा अवसर मिलता है, जो सोहन को नहीं दिया जाता, तो भी मोहन की ही असली मज़दूरी अधिक मानी जायगी। यह स्पष्ट है कि दो श्रमजीवियों में, जिसे असली मज़दूरी अधिक मिलती है, उसकी दशा दूसरे की अपेक्षा अच्छी होगी।

भारतवर्ष में पहले अधिकतर मज़दूरी अन्न में चुकाई जाती थी। कौटिल्य ने अपने अर्थ-शास्त्र में नक़द और असल दोनों प्रकार के वेतन की व्यवस्था की है। वह साधारणतया प्रत्येक ऐसे श्रमी के लिए जो एक ही व्यक्ति या संस्था का कार्य करे, कुछ नक़द वेतन निश्चित करता है तो साथ ही कुछ भोजनादि भी ठहराता है। उसकी व्यवस्था के अनुसार, श्रमी अपने खाने-पीने की आवश्यकता से निश्चिंत रहता था, और नक़द वेतन से अपनी अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकता था। इस दशा में पदार्थों के मूल्य के घटने-बढ़ने का श्रमजीवियों की आय पर बहुत कम प्रभाव पड़ता था। बहुत-से देहातों में अब भी यही दशा है। कृषि-श्रमजीवी अपनी मज़दूरी अन्न के रूप में ही पाते हैं। परंतु आधुनिक सभ्यता के विकास से, नगरों या औद्योगिक गाँवों में, मज़दूरी नक़द या रुपए-पैसे के रूप में ही दी जाती है। इससे श्रमजीवियों पर जीवन-रक्षक पदार्थों की तेज़ी-मंदी का प्रभाव पड़ता है।

नक़द वेतन में प्रायः न तो इस बात का विचार किया जाता है कि वह श्रमजीवी के भरण-पोषण के लिए पर्याप्त है या नहीं, और न इसी बात का कुछ नियंत्रण रहता है कि श्रमजीवी अपने वेतन के द्रव्य का किस प्रकार उपयोग करते हैं। वह उससे भोजन-वस्त्र ख़रीदता है या

विलासिता की वस्तुएँ। अनेक मज़दूर सबेरे से शाम तक मज़दूरी करके अपने मालिक से कुछ गिने-गिनाए पैसे पाते हैं, जो प्रथम तो उनके निर्वाह के लिए पर्याप्त नहीं होते, फिर उन में से भी काफ़ी पैसे मदिरा आदि के अर्पण कर दिए जाते हैं।

मज़दूरी की दर—हम पहले कह आए हैं कि पदार्थों का मूल्य माँग और पूर्ति के नियम के अनुसार निश्चित होता है। यह नियम मज़दूरी के संबंध में भी लागू होता है। उदाहरण लीजिए। अँगरेज़ों ने जब भारतवर्ष में व्यापार करना आरंभ किया, तो यहाँ अँगरेज़ी जाननेवालों का अभाव था। उन्हें अपने दफ़्तरों में हिसाब-किताब रखने के लिए इँगलैंड से बड़े-बड़े वेतन पर आदमी बुलाने पड़ते थे। उस समय जो भारतवासी मामूली लिखना-पढ़ना सीख लेता था—मिडिल भी पास कर लेता था—उसे ७०-८० रु० मासिक वेतन मिलना तो बिलकुल सुगम था। तरक़्क़ी भी ख़ूब होती थी।※

पीछे अँगरेज़ों ने यहाँ अँगरेज़ी-भाषा सिखाने के लिए जगह-जगह स्कूल खोल दिए। फिर क्या था? उनसे हर साल सैकड़ों नवयुवक अँगरेज़ी जाननेवाले निकलने लगे। इनमें सिवा क्लर्की करने के और किसी काम की योग्यता न रहने लगी। अब मिडिल-पास की तो बात ही क्या, बहुधा बी० ए०-पास भी ४०-५० रु० मासिक नहीं पा सकते। कभी-कभी तो ऐसे भी उदाहरण मिले हैं कि ग्रेजुएट केवल ३०-३५ रुपए की नौकरी पाने को तरसते रहे। स्मरण रहे, रुपए का

※ लेखक के चचा रायबहादुर पंडित लछमीचंदजी केला नहर-विभाग में एग्ज़ीक्यूटिव इंजीनियर थे। सितंबर १९०१ में उनका स्वर्गवास हुआ। वह भत्ता और वेतन मिलाकर कोई छः सौ रुपया मासिक कमाते थे, और केवल मिडिल तक पढ़े थे। आजकल ऐसी बात स्वप्नवत् प्रतीत होती है।

मूल्य अब पहले की अपेक्षा बहुत कम रह गया है। इसलिए यदि अब नक़द वेतन पहले के समान भी हो, तो भी वह असली वेतन के विचार से बहुत कम माना जायगा।

माँग और पूर्ति के नियम के व्यवहार की दृष्टि से मज़दूरी और अन्य पदार्थों में कुछ अनिवार्य अंतर है। प्रथम तो यही स्पष्ट है कि अनेक पदार्थों की तुलना में मज़दूरी बहुत ही शीघ्र क्षय होनेवाली वस्तु है। श्रमजीवी का जो समय व्यर्थ चला जाता है, वह चला ही जाता है। इसलिए निर्धन श्रमजीवी अपने श्रम को जिस क़ीमत पर बने, बेच देना चाहता है। उसकी यह उत्सुकता मज़दूरी की दर घटाने में सहायक होती है।

पुनः अन्य पदार्थों की पूर्ति की तरह मज़दूरी की पूर्ति में जल्द परिवर्तन नहीं होता। माँग होने पर अन्य पदार्थ प्रायः शीघ्र ही बाज़ार में पहुँचाए जा सकते हैं। उनकी दर बहुत समय तक चढ़ी हुई नहीं रहती, परंतु श्रमजीवियों को अपना घर और गाँव (या नगर) तुरंत छोड़ने की इच्छा नहीं होती। इनकी पूर्ति होने में बहुधा विलंब भी लग जाता है। इसलिए नए कल कारख़ाने खुलने के समय, आरंभ में, कभी-कभी बहुत समय तक मज़दूरी की दर, अन्य स्थानों की अपेक्षा, चढ़ी रहती है। इसी के साथ यह भी बात है कि जो श्रमजीवी एक बार वहाँ आकर रहने लग जायँगे, वे सहसा वहाँ से जायँगे भी नहीं। अतः यदि बाद में, किसी घटना-वश, श्रमजीवियों की माँग कम रह जाय, तो वहाँ पूर्ति जल्दी न घटने से मज़दूरी की दर का, अन्य स्थानों की अपेक्षा, बहुत समय तक कम रहना संभव है।

अनुभव-शून्य और अशिक्षित श्रमजीवियों के संबंध में तो यह बात और भी अधिक लागू होती है। उन बेचारों को बहुधा यह

मालूम ही नहीं होता कि किस जगह उनके श्रम की माँग अधिक है, उन्हें अपने श्रम के बदले कितनी अधिक मज़दूरी कहाँ मिल सकती है। जब ठेकेदार आदि के द्वारा श्रमजीवियों को उनके श्रम की माँग का समाचार मालूम भी होता है, तो उन्हें उसके (ठेकेदार आदि के) स्वार्थ के कारण परिस्थिति का यथेष्ट परिचय नहीं मिलता। इसलिए कुछ हद तक सभी देशों में—भारतवर्ष में तो विशेषकर—बहुत-से मज़दूरों को, क्षमता के लिहाज़ से प्रायः कम मज़दूरी मिलती है (और ठेकेदार आदि प्रायः इस परिस्थिति से लाभ उठाते हैं)। बहुधा ऐसा हो सकता है कि एक मज़दूर किसी कार्य के लिए एक स्थान में जो मज़दूरी पाता है, उससे कहीं अधिक मज़दूरी दूसरे पास के स्थान में, वैसे ही कार्य के लिए, मिल रही हो। मज़दूरनियों के संबंध में यह बात और भी अधिक ठीक है। अज्ञान और स्थानांतर-गमन की कठिनाइयाँ उनके मार्ग में, मज़दूरों की अपेक्षा, बहुत अधिक होती हैं।

इस विवेचन से यह स्पष्ट है कि यदि सब श्रमजीवियों में स्वतंत्र रूप से प्रतियोगिता हो सके—अज्ञान और स्थानांतर-गमन आदि की बाधाएँ न हों—तो भिन्न-भिन्न स्थानों में एक ही काम के लिए असली मज़दूरी में ऐसा भेद-भाव न रहे। वह सब स्थानों में समान, या लगभग समान हो।

भिन्न-भिन्न व्यवसायों में वेतन न्यूनाधिक होने के कारण— किसी व्यवसाय में, दूसरे व्यवसाय की अपेक्षा मज़दूरी की दर कम या अधिक होने के कई कारण हो सकते हैं :—

(१) व्यवसाय की प्रियता, (२) व्यवसाय की शिक्षा, (३) व्यवसाय की स्थिरता, (४) व्यवसाय में विश्वसनीयता आदि विशेष गुण की आवश्यकता, (५) निश्चित वेतन के अतिरिक्त कुछ और

प्राप्ति की आशा, (६) व्यवसाय में सफलता का निश्चय, (७) मज़दूरों की संख्या। अब हम उपर्युक्त कारणों में से एक-एक पर विचार करते हैं। स्मरण रहे, कभी-कभी ऐसा भी होता है कि इन कारणों में दो या अधिक का प्रभाव एक-साथ इकट्ठा भी पड़ जाता है।

१--व्यवसाय की प्रियता—जिस व्यवसाय को लोग अच्छा समझते हैं, जिसके करने से समाज में प्रतिष्ठा होती है, उसके करनेवाले बहुत मिल जाते हैं। इसलिए उन्हें कम वेतन मिलता है। वे भी सोचते हैं कि वेतन कुछ कम मिला, तो क्या हुआ, समाज में हमारी प्रतिष्ठा तो होती है। इस प्रकार सामाजिक प्रतिष्ठा उनके वेतन की कमी को पूरा कर देती है। उदाहरण लीजिए। कुछ आदमी सरकारी दफ़्तरों की नौकरी इस विचार से अच्छी समझते हैं कि लोग उन्हें 'बाबूजी' कहा करें, और वे कुरसी पर बैठकर काम करनेवाले 'सभ्य पुरुषों' की गणना में आ सकें।* उन्हें वेतन कम मिलता है। इसके विपरीत महाजनों या साहूकारों के यहाँ काम करने से, जन-साधारण में प्रतिष्ठा कम होने के कारण, उनके यहाँ क्लर्क का काम करनेवाले अधिक वेतन चाहते हैं।

भारतीय समाज में शारीरिक श्रम का महत्त्व बहुत कम है। लकड़ी लोहे आदि का काम करनेवाले नीचे दर्जे के समझे जाते हैं। उनकी संख्या कम है। अतः वे अधिक आमदनी पैदा कर सकते हैं। टट्टी साफ़ करना, नालियाँ धोना आदि कार्य बहुत घृणित एवं अप्रिय हैं। उपर्युक्त विचार से ऐसे कार्य के लिए बहुत अधिक वेतन मिलना

---

* सरकार के यथेष्ट उत्तरदाई और लोक-प्रिय न होने के कारण कितने-हो देश-प्रेमी सज्जनों की दृष्टि में सरकारी नौकरी की प्रतिष्ठा बहुत कम है।

चाहिए। परंतु इसमें भारतवर्ष का जाति-भेद बाधक है। समाज मेहतर आदि को पैतृक कार्य छोड़कर और काम नहीं करने देता। इसलिए उनकी दूसरे श्रमजीवियों से कोई प्रतियोगिता नहीं रहती, और उन्हें कम वेतन पर ही संतोष करना पड़ता है।

२—व्यवसाय की शिक्षा—जिस काम की शिक्षा प्राप्त करने में कठिनाई अथवा ख़र्च अधिक होता है, उसे सीखनेवाले बहुत कम होते हैं। इसलिए उन कामों के करनेवाले अधिक वेतन पाते हैं। उदाहरण के लिए डॉक्टरी, इंजीनियरी आदि के पेशे हैं। इनके सीखने में कई-कई वर्ष लग जाते हैं, और रुपया भी बहुत ख़र्च होता है। किंतु बहुत-कम आदमियों की स्थिति ऐसी होती है कि इतने समय बे-रोज़गार रहकर और इतना ख़र्च करके ऐसा काम सीख सकें। यही कारण है कि डॉक्टर, इंजीनियर आदि का वेतन बहुत होता है।

३—व्यवसाय की स्थिरता—कारख़ानों में बहुत-से कारीगर ३०-३५ रु० मासिक पर काम करते हैं। परंतु यदि कोई गृहस्थ उन्हें (या उनकी योग्यतावालों को) दो-चार दिन के लिए अपने यहाँ काम करने को रक्खे, तो वे उपर्युक्त अनुपात से वेतन लेना कदापि स्वीकार न करेंगे। संभव है, डेढ़ रुपया रोज़ाना माँगे। कारण स्पष्ट है। उन्हें निरंतर ऐसा काम मिलने का निश्चय नहीं होता, इस विचार से वे अधिक वेतन लेते हैं।

४—व्यवसाय में विश्वसनीयता आदि विशेष गुण की आवश्यकता—डाकख़ाने, बैंक या ख़ज़ाने आदि का काम ऐसा है, जिसमें यद्यपि विशेष योग्यता की आवश्यकता नहीं होती, तथापि

विश्वसनीयता आदि गुणों की बहुत ज़रूरत होती है, और ये गुण बहुत कम लोगों में मिलते हैं।* अतः इन कार्यों के करनेवालों में जैसी योग्यता चाहिए, वैसी ही योग्यता के अन्य कार्यकर्ताओं की अपेक्षा ख़ज़ानची आदि को अधिक वेतन मिलता है।

५—निश्चित वेतन के अतिरिक्त, कुछ और प्राप्ति की आशा—देहातों की अथवा पुरानी परिपाटी से चलनेवाली शहरों की पाठशालाओं में अध्यापक अपेक्षाकृत कम वेतन पर कार्य करते हैं; कारण, उन्हें समय-समय पर विद्यार्थियों के यहाँ से "सीधा" (कुछ आटा, दाल, नमक और घी आदि) तथा मौसमी फल या अन्य कृषि-जन्य पदार्थ मिलते रहते हैं। शहरों की आधुनिक शैली के कारण स्कूलों में मास्टरों को ऐसी प्राप्ति नहीं होती। इसलिए वे अपेक्षाकृत अधिक वेतन लेते हैं। पुलीस-विभाग के निम्न पदाधिकारियों (कांस्टेबल आदि) का वेतन यद्यपि प्रायः कम होता है, तथापि कुछ लोग सोचते हैं कि जन-साधारण का हमसे काम पड़ेगा, उन पर हमारा रोब-दाब रहेगा, और समय-समय पर 'ऊपर की आमदनी' (जो भेंट या रिश्वत का एक सुंदर नाम है) मिलने के अवसर आते रहेंगे। इसलिए वे बहुधा अन्य कामों में २५-३० रु० मासिक की जगह छोड़कर पुलीस की १८-२० रु० की नौकरी स्वीकार कर लेते हैं।† कहावत प्रचलित है, 'छः के चार करदे, पर नाम दरोगा धर दे।'

---

* ज़मानत देने से विश्वसनीयता हो जाती है; परंतु ज़मानत देने की सामर्थ्य भी तो कम ही लोगों में होती है।

† ईमानदारी से, काम करनेवालों का इतने वेतन में निर्वाह होना कठिन है। अतः बहुत-से सज्जन ऐसी नौकरी पसंद नहीं करते।

यह भी देखने में आता है कि तीर्थों और यात्रा-स्थानों में रेलवे और पुलीस की नौकरी की इच्छा बहुतों को होती है। उन्हें कहने को तो यह हो जाता है कि हम तीर्थ-वास करना चाहते हैं (कुछ अंश में यह ठीक भी हो सकता है); परंतु वास्तव में बात यह होती है कि इन स्थानों में पारलौकिक सुख की अपेक्षा ऐहिक सुख के साधन प्राप्त करने की संभावना बहुत होती है। समय-समय पर मेले-तमाशों की भीड़ बनी रहने से यहाँ रहनेवाले उक्त कर्मचारियों का 'पौ बारह' रहता है। जब बहुत-से आदमी ऐसी धारणा रखकर इन स्थानों में आने के इच्छुक होते हैं, सिफ़ारिश कराते हैं, और हर तरह की कोशिश करते हैं, तो उनका वेतन अन्य स्थानों के ऐसे कर्मचारियों की अपेक्षा कम होनेवाला ही ठहरा, (कम वेतन होने से उन्हें अपनी 'ऊपर की आमदनी' का ध्यान रखने की प्रेरणा भी रहती है)।

६—व्यवसाय में सफलता का निश्चय—बहुत-से आदमी ३०-३५ रु० मासिक वेतन पर जीवन व्यतीत कर रहे हैं। ये लोग उद्योग करें, तो संभव है, किसी व्यापार में लगकर बहुत अधिक प्राप्ति कर सकें। परंतु इसका कोई भरोसा नहीं, यह जोखिम की बात है, कदाचित् व्यापार चले या न चले। इसलिए उसके बखेड़े में न पड़कर ये अपेक्षाकृत बहुत कम, परंतु बँधे हुए निश्चित वेतन पर ही, संतोष करते हैं।

७—मज़दूरी और आबादी—मज़दूरी की दर का देश की आबादी से घनिष्ठ संबंध है। सुदीर्घ युद्ध-काल या नए उपनिवेशों को छोड़कर साधारणतः मनुष्यों की संख्या जितनी अधिक होती है, मज़दूरी की दर उतनी ही कम हो जाती है। इसलिए विविध देशों में, समय-समय पर, जन-संख्या कम करने के उपाय किए जाते हैं।

अविवाहित रहकर, बड़ी उमर में विवाह करके, जान-बूझकर संतान कम पैदा करके, अथवा कुछ आदमी विदेशों में भेजकर जन-संख्या की वृद्धि रोकी जाती है। शिक्षा, सभ्यता और सुख की वृद्धि से संतानोत्पत्ति कम होती है।

भारतवर्ष की जन-संख्या पर्याप्त है। यद्यपि प्रकृति महँगी और रोगों द्वारा यहाँ संहार का कार्य खूब करती है, तथापि संतानोत्पत्ति भी अधिक होने के कारण यहाँ की जन-संख्या घटती नहीं है। जीविका-प्राप्ति के मार्ग कम और जन-संख्या अधिक होने के कारण, यहाँ मज़दूरी की दर, अन्य देशों की अपेक्षा, बहुत कम है। इसलिए मज़दूरों की दशा सुधारने के वास्ते यह बहुत ही आवश्यक है कि उनकी योग्यता बढ़ाने और उद्योग-धंधों की वृद्धि करने के अतिरिक्त, यहाँ की जन-संख्या यथा-संभव कम रहे। यह कार्य दो प्रकार से हो सकता है—उपनिवेशों में बसकर, और संतानोत्पत्ति कम करके। पराधीन होने के कारण यहाँ के आदमी एक बड़ी संख्या में बाहर नहीं जा सकते। फिर, जो जाते भी हैं, उनकी दुर्दशा देखकर दूसरे आदमी हतोत्साह हो जाते हैं। अतएव जहाँ तक हो सके, यहाँ संतानोत्पत्ति कम करने का प्रयत्न होना चाहिए। जो लोग आजीवन ब्रह्मचारी रहकर देश-सेवा में लगें, वे धन्य हैं। इसके अतिरिक्त (क) रोगी और दरिद्र यथा-संभव विवाह न करें, (ख) बाल-विवाह, वृद्ध-विवाह और बहु-विवाह न हों, (ग) विवाहित स्त्री-पुरुष भी यथा-शक्ति संयमी रहें। इस संबंध में विशेष पहले लिखा जा चुका है।

कृषि-श्रमियों की मज़दूरी—अब हम भिन्न-भिन्न प्रकार के श्रमियों की मज़दूरी के संबंध में विचार करते हैं। कृषि-श्रमियों के विषय में कुछ बातों का उल्लेख तीसरे परिच्छेद में हो चुका है, इन्हें मजंदूरी अधिकतर जिंस में मिलती है; और प्रायः फ़सल के दिनों में

अपेक्षाकृत अच्छी मिलती है। कुछ कृषि-श्रमियों को तो उन दिनों में भी इतनी मजदूरी नहीं मिलती, जिससे वे अपना निर्वाह अच्छी तरह कर सकें। फिर अन्य दिनों में, जब कि खेतों में काम नहीं होता, इनकी दशा कैसी चिंतनीय होती है, यह सहज ही अनुमान किया जा सकता है। बेकारी की अवस्था में इन्हें जो भी काम मिल जाय, उसे करने के ये इच्छुक रहते हैं। इनमें से कुछ को निकटवर्ती मिलों या कारखानों में साधारण श्रम का कार्य मिल जाता है, कुशल श्रम की आवश्यकतावाले कार्य करने की इनमें योग्यता ही नहीं होती। अस्तु, साल भर का हिसाब लगाने पर इनकी कुल औसत मजदूरी बहुत ही कम रहती है।

इनकी मजदूरी बढ़ाने के लिए आवश्यक है कि ग्राम्य उद्योग-धंधों की वृद्धि की जाय, जिससे ये लोग अवकाश के समय का, अपने घर पर रहते हुए भी समुचित उपयोग कर सकें, और इस प्रकार अपनी आय को बढ़ा सकें।

खानों और कारखानों के श्रमजीवियों की मजदूरी—भिन्न-भिन्न खानों तथा कारखानों में, और एक ही खान या कारखाने संबंधी भिन्न-भिन्न कामों में, मजदूरी का परिमाण भिन्न-भिन्न होता है। हमारे अधिकतर श्रमी अकुशल होते हैं, उनसे इतना काम नहीं होता, जितना औद्योगिक देशों के कुशल श्रमी कर सकते हैं। फल-स्वरूप इन्हें वेतन भी साधारण ही मिलता है; हाँ, कृषि-श्रमियों की तुलना में, विशेषतया नक़दी की विचार से, इनकी मजदूरी बहुत अधिक होती है। परंतु शहरों में रहन-सहन तथा मकान-किराए आदि का ख़र्च भी बहुत अधिक होने से (एवं निम्न श्रेणी के वातावरण के कारण, मदिरापान आदि के व्यसन में फँस जाने से) इन्हें उतना लाभ नहीं होता।

इन की मज़दूरी बढ़ाने के लिए इन की कार्य-कुशलता का बढ़ना अत्यंत आवश्यक है। इस के वास्ते इन के काम के घंटे कम करने के साथ ऐसी व्यवस्था होनी चाहिए कि ये अपना कुछ समय अपना व्यावहारिक तथा मानसिक और नैतिक ज्ञान बढ़ाने में लगा सकें। जिन बातों से स्वास्थ्य की वृद्धि होती है, वे कार्य-कुशलता वर्द्धक ही हैं।

कारीगरों या स्वतंत्र श्रमियों की मज़दूरी—देश में अधिकतर लोगों की आर्थिक अवस्था अच्छी न होने के कारण यहाँ उनकी आवश्यकताएँ अपेक्षाकृत कम हैं। फिर, उन आवश्यकताओं में से अधिकाँश की पूर्ति मशीनों से बने सस्ते माल से होजाती है। फल-स्वरूप कारीगरी की वस्तुओं की माँग कम है। इससे कारीगरों की मज़दूरी कम होने वाली ठहरी। फिर, अनेक कारीगर भी ऐसे हीनावस्था में हैं कि वे जल्दी-से-जल्दी अपनी चीज़ तैयार करके उसके दाम उठाने की फिकर में रहते हैं, इससे उनकी कार्य-कुशलता का यथेष्ट उपयोग तथा विकास नहीं हो पाता। देश की आर्थिक अवस्था में सुधार होने तक कारीगरों की मज़दूरी बढ़ने की विशेष आशा नहीं है। हाँ, राजा-महाराजाओं या रईसों का आश्रय मिले तो वर्तमान अवस्था में भी हमारे कारीगर अपनी कुशलता का अच्छा परिचय दे सकते हैं।

शिक्षितों का वेतन—यहाँ शिक्षित व्यक्तियों को सरकारी नौकरी या दफ़्तर आदि का काम अधिक पसन्द होता है, और इसका क्षेत्र बहुत परिमित होने से नौकरी चाहनेवालों में बहुत प्रतियोगिता होती है। एक साधारण-सा पद खाली होने की सूचना निकलने पर सैकड़ों उम्मेदवार उसके लिए प्रार्थी हो जाते हैं। ऐसी दशा में वेतन कम हो तो क्या आश्चर्य! कुछ सरकारी पद ऐसे हैं जिनका वार्षिक वेतन कानून से निर्धारित और बहुत अधिक है, उदाहरणवत् गवर्नर-

जनरल २,४०,८००), कमांडरन-चीफ १,००,०००), गवर्नर ६६,०००) से १,२०,०००) तक, चीफ-कमिश्नर ३३,०००); ❀ परंतु इन में से अधिकांश के लिए नियुक्तियाँ करने में जाति और रंग का विचार किया जाता है। सरकारी नौकरियों की संख्या प्रत्येक देश में परिमित ही रहा करती है, किंतु स्वाधीन देशों में प्रत्येक नागरिक के लिए यथेष्ट योग्यता प्राप्त करने पर, उच्च से उच्च सरकारी पद प्राप्त करने का मार्ग प्रशस्त रहता है। इससे उनकी आकांक्षा महान और विचार-क्षेत्र विस्तृत होता है; जिसके सुप्रभाव से कोई इनकार नहीं कर सकता। किंतु क्या भारतवर्ष में कोई भी व्यक्ति यहां का वायसराय या जंगी-लाट होने की कल्पना करता है? अभी दिल्ली दूर है। भारतवर्ष में 'प्रांतीय-स्वराज्य' की स्थापना हो गई है, क्या देश की इतनी बड़ी जन-संख्या में एक दर्जन आदमी भी ऐसे नहीं, जो यहां के गवर्नरों के स्थानों की पूर्ति कर सकें! अभी तो और भी छोटे-छोटे पदों का झगड़ा है। अस्तु, शिक्षितों का वेतन बढ़ने के लिए यह आवश्यक है कि देश स्वराज्य-भोगी हो, और शिक्षा का ढंग इस तरह का हो कि शिक्षित व्यक्ति एक-मात्र नौकरी का आसरा न तकते हुए, अपने लिए विविध मार्ग प्रशस्त पावें।

घरेलू नौकरों का वेतन—घरों में नौकरी अधिकतर ऐसे आदमी करते हैं, जिन्होंने किसी विशेष कार्य करने की शिक्षा न पाई हो। इनमें से कुछ ख़ास-ख़ास कार्य करनेवालों को, कहीं-कहीं उनकी योग्यता के अनुपात से वेतन अधिक भी मिलता है। बात यह है कि अभी तक यहाँ जाति-पाँति का भेद-भाव बहुत है, घरों

❀ राष्ट्र-सभा कांग्रेस का प्रस्ताव है कि साधारणतया यहाँ किसी पदाधिकारी का मासिक वेतन ५००) अर्थात् वार्षिक ६०००) से अधिक न होना चाहिए।

के काम के लिए नौकर रखते समय आदमी उसकी जाति का विचार विशेष रूप से करते हैं। उदाहरणवत् भोजन बनाने के लिए हिन्दुओं में अधिकतर ब्राह्मण रसोइया रखने का चलन है; दूसरा आदमी कुछ कम वेतन पर भी रसोई बनाने को तैयार हो तो उसे न रखकर ब्राह्मण को कुछ अधिक वेतन पर भी रखना पसंद किया जाता है। इसी प्रकार झाड़ू-बुहारी या पानी भरने के लिए प्रायः कहार या अहीर आदि रखा जाता है; कोई हरिजन चाहे कम वेतन पर ही काम करना स्वीकार करता हो, उसे अनेक घरों में इस काम के लिए नौकर नहीं रखा जायगा। अस्तु, अधिकाँश घरेलू नौकरों का वेतन बहुत कम है। और, कितने ही नौकरों का तो एक जगह काम करने से निर्वाह नहीं हो सकता, वे दो-दो तीन-तीन जगह काम करके अपना निर्वाह करते हैं। इसका कारण यह है कि अधिकांश आदमियों की आर्थिक अवस्था उन्हें कोई नौकर रखने की अनुमति नहीं देती। निस्संदेह कुछ आदमी अपने 'उच्च घराने' के अभिमान के कारण, उसकी 'प्रतिष्ठा' बनाए रखने के विचार से, घर के साधारण कामों में हाथ नहीं लगाते, और अपनी अन्य आवश्यकताओं को कम करके, तथा कुछ आर्थिक कठिनाइयाँ सहन करके भी चौके-बर्तन आदि के कार्य के लिए नौकर रखते हैं; पर इनकी संख्या कुल जनता के हिसाब से बहुत कम ही होती है, और इनके कारण नौकरों की मांग में विशेष वृद्धि नहीं होती। अस्तु, उन थोड़े-से व्यक्तियों को छोड़कर जिन्हें किसी रईस या सेठ-साहूकार के यहाँ नौकरी मिल जाती है और जो समय-समय पर इनाम, उपहार, या कपड़ा आदि पाते रहते हैं, अन्य घरेलू नौकरों की कुल वेतन बहुत कम ही है।

कम-से-कम मज़दूरी—पाश्चात्य देशों में मज़दूरी का बाज़ार बहुत सुव्यवस्थित है। ख़ासकर जहाँ भिन्न-भिन्न प्रकार के धंधों में काम करनेवालों के संघ बन गए हैं, और निश्चित नियमों के अनुसार

काम होता है, वहाँ एक धंधे के मज़दूर एक नियत वेतन से कम पर मिल ही नहीं सकते। कुछ देशों में तो क़ानून द्वारा यह तय हो गया है कि मज़दूरों को कम-से-कम इतनी मज़दूरी अवश्य ही मिले। कुछ समय हुआ, 'दि ह्यूमन नीड्स ऑफ लेबर'—नामक एक अंगरेज़ी पुस्तक प्रकाशित हुई थी। उससे मालूम होता है कि इँगलैंड के राउंटी महाशय ने वहाँ, यार्क नगर में, नीचे-लिखे नियमों के अनुसार मज़दूरी निश्चित की है—

(१) यह मान लिया गया है कि प्रत्येक कुटुंब में प्रायः एक पुरुष, एक स्त्री और तीन लड़के रहते हैं।

(२) मज़दूरी इतनी होनी चाहिए कि मज़दूर उससे अपने कुटुंब का साधारण रीति से पालन-पोषण कर सकें। (राउंटी महाशय स्त्री और बच्चों की मज़दूरी को कुटुंब की आमदनी में शामिल नहीं करते। उनका कहना है कि कुटुंब के बढ़ने पर स्त्रियों को, अपने घरों का काम करने के बाद, न तो समय ही रहता है, और न शक्ति ही। इसलिए उनसे मज़दूरी नहीं कराई जानी चाहिए। और, लड़कों से तो स्कूलों में पढ़ने के अतिरिक्त मज़दूरी कराना बहुत ही अनुचित है।)

(३) मज़दूरों का निवास-स्थान काफ़ी हवादार होना चाहिए, और उसमें एक कुटुंब के लिए कम-से-कम एक बड़ा कमरा, तीन सोने के कमरे और एक रसोई-घर होना चाहिए।

(४) मज़दूरों के अन्य आवश्यक ख़र्चों का भी विचार किया जाना चाहिए।

इस प्रकार उन्होंने, सन् १९१४ ई० में, एक मज़दूर की मज़दूरी ९ शिलिंग या लगभग तीन रुपए नौ आने निश्चित की थी।*

---

* 'श्रीशारदा' के आधार पर।

फिर इस समय रुपए की क़ीमत अपेक्षाकृत कम होने से अब उक्त हिसाब से मज़दूरी की दर अवश्य ही अधिक होगी। भारतवर्ष में विशेषतया ग्रामों में रहन-सहन का दर्जा निम्न श्रेणी का है, जैसाकि आगे बताया जायगा, यहाँ एक श्रमी के साधारण भोजन-वस्त्र का न्यूनतम खर्च तीन आने अनुमान किया गया है। उसके परिवार के (उसके आश्रित) अन्य व्यक्तियों की आवश्यकताओं में कुछ भेद होते हुए भी उन के कुल परिमाण के मूल्य का अनुमान उतना ही अर्थात् तीन-तीन आने किया जा सकता है। इस प्रकार पाँच व्यक्तियों के कुटुंबवाले आदमी के भोजन-वस्त्र के लिए पंद्रह आने की आवश्यकता होगी। यदि अन्य आवश्यकताओं के लिए केवल एक आना भी और रक्खा जाय, तो पूर्वोक्त राउंटी महाशय के नियमों के अनुसार ग्रामवासी भारतीय श्रमी की दैनिक मजदूरी कम से कम एक रुपया, और नगर-निवासी की इससे अधिक होनी चाहिए। पर यहाँ की आर्थिक हीनता की अवस्था में ऐसी बात उठाना एक पागल का प्रलाप समझा जायगा।

ग्राम-उद्योग-संघ और चर्खा-संघ का सत्साहस—यहाँ वेतन या मजदूरी देनेवाले इस बात का विचार नहीं करते कि किसी मजदूर को वास्तव में कितना द्रव्य मिलना चाहिए। अधिकाँश मालिक केवल यह सोचते हैं कि कम-से-कम कितने पैसे देने से उनका काम हो सकता है। साधारणतया वे अपना क़ानूनी कर्तव्य पूरा कर देते हैं, इससे अधिक की उन्हें चिंता नहीं। रही सरकार, वह भी इस झंजट में क्यों पड़े! इस समय तो ऐसी भी व्यवस्था नहीं है कि कोई सज्जन यह जान सके कि यहाँ कितने आदमी अपने भरण-पोषण की आवश्यक वस्तुओं से वंचित रहते हैं, और कितनों को उनके पाने का सौभाग्य है।

मजदूरों के हित की ओर, सरकारी और ग़ैर सरकारी व्यक्तियों

तथा संस्थाओं की ऐसी उपेक्षा के वातावरण में किसी का इस दिशा में क़दम बढ़ाना निस्संदेह बड़े साहस का काम है। अखिल-भारत उद्योग-संघ और चर्खा-संघ के कार्यों का उल्लेख पिछले परिच्छेदों में प्रसगानुसार किया जा चुका है। सन् १९३५ ई० में उन्होंने महात्मा गांधी की प्रेरणा से कम-से-कम मजदूरी के प्रश्न का न केवल विचार करके, वरन् उसे व्यावहारिक स्वरूप देकर अपनी नीति में जो परिवर्तन किया, वह परिमाण में अल्प दिखाई देने पर भी बहुत महत्त्व-पूर्ण है। पाठकों को इस विषय का सम्यक् परिचय कराने के लिए, इन संस्थाओं के विवरण के आधार पर आवश्यक बातें नीचे दी जाती हैं।

ग्राम-उद्योग-संघ के प्रबंधकारी मंडल की ता० २२ अगस्त १९३५ की बैठक में यह महत्त्व-पूर्ण प्रस्ताव पास हुआ:—"चूंकि संघ के उद्देश्य में मृत और मृतप्राय उद्योगों को पुनर्जीवित करने के लिए प्रोत्साहन देकर ग्रामवासी जनता की नैतिक और आर्थिक उन्नति करने की बात आती है, इसलिए संघ का प्रबंधकारी मंडल चाहता है कि संघ की संरक्षता में तैयार होने या बेची जानेवाली तमाम चीज़ों के लिए हर कार्यकर्ता को, ८ घंटे के पूरे काम के हिसाब पर कम-से-कम इतनी मजदूरी तो मिलनी ही चाहिए जो उसकी शास्त्रीय (वैज्ञानिक) स्वास्थ्यप्रद खुराक के लिए काफ़ी हो। संघ से संबंध रखनेवाले सब लोगों का यह देखना कर्त्तव्य होना चाहिए कि जिन उद्योगों को प्रोत्साहन दिया जा रहा है, उनमें काम करनेवालों को कभी उक्त हिसाब से कम मजदूरी न मिले। साथ ही यह बात भी हमेशा ध्यान में रखनी चाहिए कि जैसे-जैसे और जब परिस्थिति अनुकूल हो तब मजदूरी की दर में उस दर्जे तक वृद्धि होती जानी चाहिए, जिससे कुटुंब के कार्यक्षम व्यक्तियों की कमाई से सारे कुटुंब की ठीक तरह से गुज़र-बसर हो सके।"

अ० भा० चर्खा संघ ने भी ११—१०—३५ में निम्न-लिखित प्रस्ताव स्वीकार किया है:—"इस कार्यकारणी-समिति की यह राय है कि कत्तिनों को अभी जो मज़दूरी दी जाती है, वह पर्याप्त नहीं है; इस लिए समिति निश्चय करती है कि मज़दूरी की दर में वृद्धि की जाय, और उसका एक ऐसा उचित पैमाना निश्चित कर दिया जाय कि जिस से कत्तिनों को उनके आठ घंटों के संतोषजनक काम के हिसाब से, कम-से-क़म इतना पैसा मिल जाय कि जिससे उन्हें कम-से-कम अपनी ज़रूरत भर का कपड़ा (सालाना २० गज़) और वैज्ञानिक रीति से नियत किए हुए आहार के पैमाने के अनुसार भोजन-ख़र्च मिलता रहे।"

नवीन कार्य-क्रम का प्रयोग—इन प्रस्तावों के अनुसार कार्य करना कुछ सरल काम न था। चार बातें आवश्यक थीं:— (१) यह मालूम करना कि साधारणतया किसी व्यक्ति के लिए कम-से कम आवश्यक भोजन क्या है, और भिन्न-भिन्न प्रांतों में उसकी क़ीमत क्या है। (वस्त्र की आवश्यकता का अनुमान करना कुछ कठिन नहीं होता)। (२) ऐसी व्यवस्था करना कि श्रमी अपनी मज़दूरी के पैसों को फ़जूल-ख़र्ची में न उड़ाएँ, वरन् उनसे आवश्यक भोजन, आरोग्य और शक्ति प्राप्त करें। (३) मज़दूरी बढ़ने से खद्दर का दाम बढ़ना और फल-स्वरूप खद्दर की मांग घटना स्वाभाविक था, इसका उपाय सोचना। (४) दूसरी और तीसरी बात के लिए, अन्यान्य उपायों में कत्तिनों को खादी व्यवहार करने के लिए तैयार करना।

पहले यह मालूम किया गया कि कताई-क्षेत्र में रहनेवाली जनता को किस प्रकार का भोजन अनुकूल होगा। फिर, इसके आधार पर योग्य डाक्टरों के साथ सलाह-मशवरा करके कम-से-कम आवश्यक भोजन का परिमाण निश्चित किया गया। एक आदमी के साधारण आवश्यक

दैनिक भोजन के मूल्य का, आहार की वस्तुओं के स्थानीय मूल्य के अनुसार हिसाब लगाया गया, और इसे आवश्यक खादी की क़ीमत के साथ जोड़कर, दैनिक आठ घण्टे के संतोषजनक कार्य की, कम-से-कम मज़दूरी निश्चित की गई। यद्यपि देश के विविध हिस्सों के रहनेवाले लोगों के आवश्यकीय आहारों में काफ़ी अन्तर है तो भी यह मालूम हुआ कि उक्त आधार पर हिसाब करके कम-से-कम दैनिक मज़दूरी =) से ≡) तक होनी चाहिये। इस आधार पर गिने हुए कताई के नए दर, पहले के दर से २५ से ७५ फ़ी-सदी पर्यंत बढ़ गए। यह बढ़ा हुआ दाम जुदा-जुदा सूबों में चालू साल के शुरू में ही दिया गया। अभी यह कहना कठिन है कि यह योजना कहां तक सफल होगी, किन्तु यह ज़रूर कह सकते हैं कि इस योजना के प्रयोग के संबंध में जो भय था वह काफी हद तक दूर हो गया है और इस कार्य को करनेवालों के अंदर अब आशा-पूर्ण भाव देखा जाता है। यह सच है कि कुछ केन्द्रों में प्रारंभ में कत्तिनों को खादी व्यवहार करने के लिए राज़ी कराना कठिन था, किंतु मज़दूरी की वृद्धि ने इन कठिनाइयों को दूर करने में मदद की और प्रर्याप्त संख्यक कात्तिनों ने नए कार्य-क्रम के अनुसार काम करने के लिए सम्मति दी। कताई की मज़दूरी में वृद्धि होने के कारण प्रायः खादी का दाम दस फ़ी-सैकड़ा बढ़ गया। खादी-बिक्री पर इसका कुछ असर भी पड़ा, परंतु खादी-प्रेमी जनता ने परिस्थिति को समझ कर खादी की बिक्री कम न होने देने का यथा-संभव प्रयत्न किया। इसके अतिरिक्त कत्तिनों की मज़दूरी बढ़ने से उन के काम में भी उन्नति हुई और खादी खरीदनेवाली जनता पर बहुत अधिक भार नहीं पड़ा।

कुछ पाठकों को भारतीय श्रमियों की कम-से-कम दैनिक मज़दूरी

तीन आने ठहराने की बात हास्यास्पद प्रतीत होगी।* परंतु वे देश की परिस्थिति से अपरिचित, और अपने असंख्य बंधुओं की निर्धनता से अनजान ही होंगे। अनेक स्थानों में स्त्रियों को, तथा लड़कों को डेढ़-दो आने ही मिलते हैं; और देश में अनेक बेकार व्यक्ति काम की खोज में रहते हैं, उन्हें इतना भी नहीं मिल पाता।

वेतन-संबंधी समस्या—किस प्रकार का श्रम करनेवाले को कितना वेतन मिले, और भिन्न-भिन्न श्रमियों के वेतन में क्या अनुपात रहे, यह समस्या बहुत जटिल है, और इस पर प्रायः बहुत कम विचार किया जाता है। यहाँ भारतवर्ष में वायसराय को मासिक वेतन बीस हज़ार रुपए से अधिक मिलता है (भत्ते और मार्ग-व्यय आदि की वृहत् रक़म अलग रही); उससे नीचे उतर कर भिन्न-भिन्न पदवालों को क्रमशः कम वेतन मिलता है, यहां तक कि अनेक निम्न कर्मचारियों को बारह रुपए महीने में संतोष करना पड़ता है। इस प्रकार यहाँ एक कर्मचारी दूसरे कर्मचारी की अपेक्षा सोलह सौ गुने से अधिक वेतन पाता है।

यह कहा जा सकता है कि भारतवर्ष एक पराधीन देश है, यहां शासन-संबंधी कुछ पदों का, अथवा अगरेजों का, वेतन जान-बूझ कर बहुत रक्खा गया है। अन्य कितने-ही देशों में निम्न पदाधिकारियों का वेतन इतना कम, और उच्च पदाधिकारियों का वेतन इतना अधिक नहीं होता। इस प्रकार, वहां नीचे-से-नीचे और ऊंचे-से-ऊंचे सरकारी पदाधिकारियों के वेतन में इतना अनुपात नहीं रहता।

---

* ग्राम-उद्योग-संघ के पूर्वोल्लिखित प्रस्ताव में परिस्थिति की अनुकूलता के अनुसार, मज़दूरी की दर में वृद्धि करने की बात है।

अच्छा, शासन के अतिरिक्त अन्य क्षेत्र की बात सोचें। मिल का मेनेजर दो-दो, तीन-तीन हज़ार रुपए मासिक वेतन क्यों पाता है, जब कि वहां ही दिन भर सख्त मेहनत करनेवाले अनेक मज़दूरों को बीस-बीस रुपए महीना, या इससे भी कम मिलता है। यह ठीक है कि मेनेजर की योग्यतावाले व्यक्तियों की संख्या बहुत कम होती है, इस योग्यता को प्राप्त करने में कई वर्ष का समय और हज़ारों रुपए की रक़म खर्च होती है; इसके विपरीत मज़दूर तो अनेक मिल सकते हैं, यहां तक कि कितने ही मज़दूरों को कुछ भी काम नहीं मिल पाता। इसलिए, माँग और पूर्ति के नियम के अनुसार मेनेजर की वेतन बहुत अधिक, और मज़दूर की बहुत-कम ही होती है। किंतु, क्या वेतन की इतनी विषमता उचित है? साधारणतः आदमी इसका विरोध नहीं करते, परंतु क्या नैतिक दृष्टि से विरोध नहीं होना चाहिए! क्या वेतन में मनुष्यों की आवश्यकताओं का कुछ विचार न रहे? और, क्या दो व्यक्तियों की, भोजन-वस्त्र आदि मूल अर्थात् प्राकृतिक आवश्यकताओं में इतना अंतर होता है? निपुणता-दायक पदार्थों तथा कृत्रिम या सामाजिक आवश्यकताओं का भी विचार करें तो भी वेतन में इतना अंतर न होना चाहिए।

वेतन का आदर्श—भिन्न-भिन्न श्रमियों के वेतन का आधार क्या हो? आर्थिक जगत में माँग और पूर्ति का नियम चल रहा है। क्या वह नीति-युक्त है? हमारी आदत ऐसी पड़ गई है कि जिस बात को नित्य होते देखते हैं, उसमें हमें कोई अनौचित्य नहीं जान पड़ता। हम कह देते हैं कि श्रमी को काम करने की स्वतंत्रता है, यदि उसे अपना वेतन कम जचता है तो वह काम छोड़ सकता है। इस कथन में सत्यता है, पर निष्ठुरता भी कम नहीं। उपर्युक्त श्रमी अवश्य ही उस कार्य को छोड़ने में क़ानून से स्वतंत्र है, पर अपनी

उदर-पूर्ति की बात से, अपनी भौतिक आवश्यकताओं की थोड़ी-बहुत पूर्ति से किस प्रकार मुक्त हो सकता है? अगर एक बेकार और भूखे आदमी को कोई पैसेवाला यह कहता है कि तू दिन भर काम कर, तुझे चार पैसे दिए जायँगे, तो श्रमी यह जानते हुए भी कि यह वेतन उसके निर्वाह के लिए नितांत कम है, उससे कैसे इनकार कर सकता है। वह सोचता है, कि कुछ न मिलने की अपेक्षा तो जो-कुछ मिल जाय, वही अच्छा है। इस प्रकार यदि वह लाचारी से चार पैसे स्वीकार करता है तो क्या उसका उचित वेतन है? क्या वेतन-संबंधी वर्तमान विषमता ही आधुनिक अशांति, असंतोष और समाजवाद-आंदोलन का एक मुख्य कारण नहीं है?

पाठकों के विचारार्थ वेतन संबंधी आदर्श के विषय में हम कुछ बातें नीचे देते हैं, हमारा पाठकों यह अनुरोध नहीं है कि वे उनसे सहमत ही हों, वास्तव में ऐसे विषय में सब का एक-मत होना भी कठिन है, तथापि विचार-विनिमय से लोकमत के निर्माण में तथा किसी निष्कर्ष पर पहुँचने में बहुत सहायता मिलती है। इसी दृष्टि से ये बातें यहाँ दी जाती हैं। स्मरण रहे कि ये बातें तुरंत ही पूर्ण रूप से कार्य में परिणत किया जाना कठिन है, तथापि इन्हें आदर्श मान कर इस दिशा में क्रमशः कदम बढ़ाया जाना हम उचित और आवश्यक समझते हैं।

१—जो व्यक्ति दिन भर में अधिक-से-अधिक आठ घंटे* और सप्ताह में छः दिन ईमानदारी से परिश्रम-पूर्वक कोई कार्य करे, उसे

---

*अनेक स्थानों में श्रमियों के काम करने के घंटों की औसत इससे बहुत कम है, अथवा बहुत कम करने का आंदोलन चल रहा हैं, हम भारतवर्ष में अभी अधिकाँश जनता के विचार से इसे ही उचित समझते हैं।

महात्मा गाँधी के शब्दों में "शुद्ध समाजवाद का रहस्य इसी में है कि निश्चित समय के लिए प्रत्येक व्यक्ति की आय एक-सी होनी चाहिए। सबकी कम-से-कम ज़रूरतें एक-सी ही होती हैं। संसार का अधिकाँश हिस्सा हमेशा हाथ से काम करनेवाला ही रहेगा। इसलिए यह मानना पड़ेगा कि उनका उद्धार इस तत्व को स्वीकार करने ही में है कि सबकी आय समान हो। सम्भव है यह सब स्वप्न-सृष्टि-निवासी की-सी बात मालूम हो। मगर मज़दूर इन सपनों को सच्चा करके नहीं दिखाएँगे तो उनकी वास्तविक सत्ता की बात भी आज ही की तरह हमेशा स्वप्नवत् ही बनी रहेगी।"

चौबीसवाँ परिच्छेद

सूद

प्राक्कथन—पूँजी का व्यवहार करने-देने के बदले में पूँजीवाले को जो द्रव्य आदि दिया जाता है, उसे सूद या ब्याज कहते हैं। कुछ आदमी अपने उत्पन्न धन में से सब ख़र्च न कर, यथा-शक्ति कुछ जमा करते जाते हैं। इस संचित धन से वे धनोत्पादन का कार्य अथवा भावी आवश्यकताओं की पूर्ति का प्रबंध करते हैं। असमर्थता, अज्ञान या अराजकता आदि की दशा में बहुधा आदमी अपना धन ज़मीन में गाड़-कर रखते हैं। परंतु जब कोई ऐसी अवस्था न हो, और साथ ही पूँजीवाला व्यापार-व्यवसाय की जोखिम भी न उठाना चाहे, तो वह अपनी पूँजी दूसरे लोगों को व्यवहार करने के लिए दे सकता है। ऐसा करने में उसे अपनी आवश्यकताओं की तत्कालीन पूर्ति से मिलनेवाले संतोष

का त्याग करना पड़ता है। इसके प्रतिफल-स्वरूप उसे पूँजी का सूद मिलता है।

सूद पर रुपया उधार देना साधारणतः उतना लाभदायक नहीं, होता जितना उसे व्यापार-व्यवसाय में लगाना। परंतु यह इससे तो अच्छा ही है कि वह व्यर्थ पड़ा रहने दिया जाय। सूद पर रुपया देनेवाला औरों की धन-संबंधी आवश्यकताओं की पूर्ति करता है। इससे उसका धन (सूद द्वारा) बढ़ता है, और जिन्हें वह उधार देता है, उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति होती है।

सूद के दो भेद—अर्थ-शास्त्र की दृष्टि से ब्याज के दो भेद हैं—कुल सूद, और वास्तविक सूद। कुल सूद में असली ब्याज के अतिरिक्त (क) पूँजी वाले के जोखिम उठाने का प्रतिफल, (ख) ऋण की व्यवस्था करने का ख़र्च और (ग) पूँजीपति की विशेष सुविधाओं का प्रतिफल मिला होता है। 'कुल सूद' को व्यावहारिक भाषा में प्रायः 'सूद' ही कहते हैं। इसकी दर उद्योग-धंधों के भेद के अनुसार घटती-बढ़ती रहती है।

ऋण-दाता—प्राचीन काल में प्रायः सभी देशों में सूद का विरोध किया गया है। इसका कारण यह मालूम होता है कि बड़े-बड़े उद्योग-धंधों के चलने के पहले, बहुत ही दुःखी और लाचार आदमी ऋण लेते थे, और उनसे सूद लेना निर्दयता-पूर्ण एवं आक्षेप-जनक कार्य समझा जाता था। भारतवर्ष में ऋण का असली उद्देश्य बहुत प्राचीन काल में ही समझा जाने के कारण, यहाँ उसका एकदम निषेध करने की जगह, सूद की दर नियमित करने की ओर ध्यान दिया गया। गिरवी आदि से सुरक्षित ऋण पर मनुजी ने प्रति-मास ऋण के अस्सीवें भाग अर्थात् १५ फ़ी सदी सालाना सूद की अनुमति दी है, और

अरक्षित ऋण के लिए दो फ़ी-सदी माहवार भी अनुचित नहीं ठहराया है। सूद की दर, ऋण लेनेवाले की जाति पर भी निर्भर रहती थी। नीच जातिवालों से सूद अधिक लिया जाता था।* कुछ शास्त्रकारों ने सूद की रक़म बढ़ाने की सीमा यह नियत कर दी है कि वह मूलधन के दुगने तक हो सके, उससे अधिक नहीं। सूदख़ोरी अर्थात् अत्यंत अधिक ब्याज का, धार्मिक दृष्टि से, यहाँ बहुत निषेध है; मुसलमानों के यहाँ तो बिल्कुल मनाई ही है। परंतु अब आर्थिक युग है। कितने-ही अच्छी स्थिति के मुसलमान भी ब्याज की कमाई प्राप्त करने में संकोच नहीं करते।

अस्तु, अब हम भिन्न-भिन्न ऋण-दाताओं के विषय में विचार करते हैं। बैंकों के विषय में पहले लिखा जा चुका है। यहाँ ग्रामों में बैंकों की व्यवस्था होने की बड़ी आवश्यकता है, जिससे ग्रामवालों को कम सूद पर रुपया उधार मिल सके। यदि मिश्रित पूँजी की कंपनियों का ऐसा संगठन हो जाय कि वे गाँववालों के ज़ेवर आदि गिरवी रखकर उन्हें महाजनों की तरह रुपया उधार दे सकें तो बहुत उत्तम हो।

देहातों में बनिए या महाजन कृषि के लिए पूँजी उधार देते हैं। कभी-कभी अनुत्पादक कार्य या फ़िज़ूलख़र्ची के वास्ते भी उनसे ऋण लिया जाता है। महाजन के विपक्ष में बहुत-सी बातें कही जाती हैं; इसमें संदेह नहीं कि उसकी कार्य-प्रणाली में कई दोष हैं, पर वह सर्वथा गुण-हीन भी नहीं है। अन्य अनेक संस्थाओं की भांति महाजन में गुण-दोष दोनों का मिश्रण है। विशेषतया प्राचीन काल में महाजन ने ग्रामों के आर्थिक जीवन में महत्व-पूर्ण कार्य किया है। कृषि

* इसका कारण यह प्रतीत होता है कि इन लोगों से रुपया वसूल होना अपेक्षाकृत अधिक कठिन होता है।

के धंधे को समय-समय पर पूँजी की आवश्यकता होती है, और महाजन ने इसकी विविध प्रकार से पूर्ति की है। वह निरा निर्दई भी नहीं होता था। वह किसान की सुख-समृद्धि में अपने हित को समझता था। पर क्रमश: स्थिति में परिवर्तन हो गया। सरकारी लगान जिंस की जगह, नक़दी में लिया जाने लगा। विगत शताब्दी की राजनैतिक उथल-पुथल में उसका परिमाण बढ़ गया, और उसे वसूल करने में सहृदयता का भाव कम रह गया। अन्य सरकारी कर भी बढ़ गए। उद्योग-धंधे नष्ट हो गए। आर्थिक आवश्यकताओं और पूँजीवाद के भावों ने महाजनों को लोभी बना दिया। इसके अतिरिक्त मालगुज़ारी और लगान अग्रदेय माने जाने, और सरकारी ऋण के बाद सहकारी समितियों के ऋण को मुख्य स्थान दिए जाने के कारण महाजन को अपना रुपया डूबने का भय बना रहता है, इसलिए भी वह सूद अधिक लेने लगा, तथा हिसाब गढ़ने और झूठा जमा-खर्च करने, आदि के और भी बुरे-भले उपायों से अपनी आय बढ़ाने लगा।

शहरों में सेठ-साहूकार जायदाद रहन करके अथवा ज़ेवर गिरवी रख कर ऋण देते हैं। ये लोग बहुधा अपने पास रहन रक्खी हुई ज़मीन को मोल लेकर ज़मींदार बन गए हैं। ये कभी-कभी व्यापारियों और दस्तकारों को भी रुपया उधार देते हैं। बहुत-से ज़मींदार, महंत आदि भी सूद की आमदनी पैदा करते हैं।

ऋण-दाताओं में काबुली पठान का एक विशेष परंतु चिंतनीय स्थान है। यह सौदागरी के साथ सूदख़ोरी करता है। उसके शिकार अधिकतर शहरों के मज़दूर तथा हरिजन आदि होते हैं। इनकी दशा प्रायः ऐसी रहती है कि महीना पूरा होने से पूर्व ही, इनका इतना खर्च हो चुकता है कि वेतन मिलते ही वह जहाँ-की-तहाँ ठिकाने लग जाती है।

फिर आगे के खर्च के लिए इन्हें रुपए की ज़रूरत होती है तो प्रायः अन्य कोई व्यवस्था न होने के कारण इनकी नज़र काबुली पठान पर ही जाती है। वह इन्हें एक आने, दो आने, या इससे भी अधिक फ़ी-रुपया प्रति मास सूद पर ऋण देता है, और अनेक बार सूद की रक़म को मूलधन के साथ मिलाकर उसका पक्का काग़ज़ लिखा लेता है। उसकी रक़म खूब बढ़ती रहती है। काबुली पठानों का लोगों पर इतना आतंक रहता है कि वे उसका रुपया जैसे-भी-बने चुकाते रहते हैं। फिर, पठान को क़ानूनी कार्रवाई से अधिक अपने डंडे का भरोसा रहता है, मार-पीट आदि क्रूर उपायों का अवलंबन करने में उसे कुछ संकोच नहीं होता। काबुली पठानों का संगठन भी बहुत व्यापक है और ये जनता के दीन-हीन लोगों का भयंकर शोषण करते हैं। इनका नियंत्रण किए जाने की अत्यंत आवश्यकता है।

सरकार अकाल के समय बहुधा किसानों को भूमि की उन्नति करने और पशु, बीज तथा अन्य आवश्यक वस्तुएँ ख़रीदने के लिए, सन् १८८३ ई० के ऐक्ट के अनुसार, 'तक़ावी' देती है, और इस रुपए को अच्छी फ़सल के अवसर पर वसूल कर लेती है। किंतु राज-कर्मचारियों का समुचित व्यवहार न होने के कारण इस तरीक़े में विशेष सफलता नहीं हो रही है। फिर रक़म भी, कृषकों की संख्या और आवश्यकता को देखते हुए, बहुत कम दी जाती है।

सूद की दर—सूद की दर माँग और पूर्ति के नियमानुसार निश्चित होती है। किसी स्थान में एक व्यवसाय के लिए आवश्यक पूँजी की दर वही होगी, जिस पर पूँजीपति उतना रुपया उधार दे सकें, जितने की माँग है। किसी ख़ास समय में भिन्न-भिन्न व्यवसायों की पूँजियों के कुल सूद की दर, ज़मानत आदि विविध कारणों पर निर्भर रहती है। बहुत-से लोग ज़मीन, मकान या ज़ेवर आदि

गिरवी रखकर रुपया उधार देते हैं। इसमें रुपया डूबने का डर नहीं रहता, इसलिए अपेक्षाकृत कम सूद पर ही संतोष कर लिया जाता है। दस्ती दस्तावेज़ लिखाकर दिए हुए ऋण का रुपया वसूल होने में ख़तरा जान पड़ता है। ख़तरा जितना अधिक होगा, उतना ही सूद अधिक लिया जायगा। सुरक्षा के विचार से कुछ आदमी अपना रुपया सरकारी अथवा सार्वजनिक संस्थाओं को उधार दे देते हैं, अथवा डाकख़ाने के सेविंग बैंकों में जमा कर देते हैं। इनमें सूद अपेक्षाकृत कम मिलता है।

देश में पूँजी अधिक होने पर सूद की दर घटती है, और कम होने पर दर बढ़ती है। अमरीका में इतना धन है कि वहाँ विविध व्यवसायों में ख़र्च होने पर भी वह बच रहता है, और दूसरे देशवाले ऐसे व्यवसाई उसे सूद पर ले लेते हैं, जिन्हें अपने यहाँ अधिक सूद देना पड़ता है। इँगलैंड में भी, पूँजी अधिक होने के कारण, सूद की दर कम है। इसके विपरीत भारतवर्ष में सूद की दर, पूँजी बहुत कम होने के कारण, अधिक है। साधारण उत्पादक के पास अपनी निजी पूँजी नहीं होती। उसे सूद की भयंकर दर पर रुपया उधार लेना पड़ता है। अनेक स्थानों में अधन्नी रुपए का साधारण नियम है। यह सूद ३७॥) सैकड़ा सालाना पड़ता है। बहुत-से महाजन दस के बारह करते हैं। वे दस रुपए उधार देकर प्रतिमास एक-एक रुपए की क़िस्त तय करते हैं जिसे वे साल-भर तक लेते रहते हैं। यदि किसी महीने में क़िस्त न चुकाई जाय, तो उसका सूद अलग पड़ता है। यह सूद भी बहुत अधिक बैठता है। सूद-दर-सूद (अर्थात् चक्र-वृद्धि ब्याज) से तो कभी-कभी, दो-चार साल में ही सूद की रक़म असल के बराबर होकर मूलधन को दुगना कर देती है। इस दशा में किसी ऋणी का ऋण-मुक्त होना कभी-कभी असंभव

ही हो जाता है। अतएव महाजनों का रुपया मारा जाता है। वे नालिश करते फिरते हैं। इससे ऋणी की साख जाती है, पर महाजन को भी विशेष धन-प्राप्ति नहीं होती। तो भी, खेद है, महाजन लोग लोभ-वश अधिक सूद लेने की आदत नहीं छोड़ते। उधर ऋणी किसानों या व्यवसाइयों की साख गिर जाने के कारण, सूद की दर के गिरने में बाधा होती है। जान-माल की रक्षा, शिक्षा-प्रचार और महाजनी, तथा बैंकों के विस्तार के कारण यहाँ, गत कुछ वर्षों से, सूद की दर साधारणतः धीरे-धीरे गिरने लगी है। सूद की दर घटने का एक कारण यह भी है कि यहाँ ब्रिटिश पूँजी की मात्रा बढ़ रही है। सहकारी-साख-समितियों की स्थापना से भी इस कार्य में सहायता मिली है। तथापि अन्य अनेक औद्योगिक देशों की अपेक्षा यहां सूद की दर साधारणतया अधिक ही है। भिन्न-भिन्न भागों में, तथा पृथक्-पृथक् परिस्थितियों में यहां किसानों और मज़दूरों से प्रायः ६०% से लेकर ३००% तक वार्षिक सूद लिया जाता है।

ऋण-ग्रस्तता—भारतवासियों की ऋण-ग्रस्तता पर विचार करने से पूर्व यह जान लेना ठीक होगा कि क्या ऋण-ग्रस्तता सदैव ही बुरी होती है। अवश्य ही एक समय ऐसा था कि जब ऋण लेना बहुत बुरा समझा जाता था, ऋण लेनेवाले को समाज में अप्रतिष्ठा की दृष्टि से देखा जाता था; कारण, उस समय वे ही आदमी ऋण लेते थे, जो आर्थिक दृष्टि से बहुत हीन अवस्था में होते थे। अब वह बात नहीं। अब तो अच्छे-अच्छे धनवान और पूँजीपति ऋण लेते हैं। अनेक संस्थाएँ, कंपनियाँ और सरकार तक ऋण लेती है, इसमें उनकी प्रतिष्ठा नहीं जाती। प्राचीन काल और आधुनिक काल के ऋण-संबंधी इस भेद

का रहस्य यह है कि अब आदमी अपने जीवन-निर्वाह के अतिरिक्त, धन कमाने के लिए भी ऋण लेते हैं। व्यवसाय-कुशल आदमी अपनी ही पूँजी से संतोष न कर व्यक्तिगत या सामुहिक रूप में, अन्य व्यक्तियों या संस्थाओं से रुपया उधार लेते हैं, कल-कारखानों की स्थापना करते हैं, जिनसे कुछ समय बाद अपना सब ऋण भी चुका देते हैं, तथा द्रव्य-उपार्जन भी करते हैं। इसी प्रकार अनेक देशों की सरकार अपने-अपने क्षेत्र में औद्योगिक उन्नति करने के लिए करोड़ों रुपयों का ऋण लेने में संकोच नहीं करती। यह रुपया क्रमशः चुकाया जाता है, और कुछ दशाओं में इसके लिए कई-कई दशाब्दियों तक सूद देते रहना लाभ-जनक ही समझा जाता है। इस प्रकार ऋण लेना न सदैव अच्छा ही है और न सदैव बुरा ही। यह तो बहुत कुछ परिस्थिति पर निर्भर है।

अस्तु, यदि भारतीय कृषकों आदि की ऋण-ग्रस्तता को बुरा और चिंतनीय समझा जाता है तो इसका कारण यह है कि किसान उस ऋण से अपनी आर्थिक उन्नति नहीं करता, उसका ऋण के सूद से जन्म-भर छुटकारा नहीं होता, इसके विपरीत वह सदैव उसका रक्त-शोषण करता रहता है। अनेक किसान तथा अन्य व्यक्ति ऋण के कारण दासता का जीवन बिताते हैं। प्रो० राधाकमल मुकर्जी ने इस संबंध में कहा है कुछ किसान पेशगी रुपया लेकर ज़मींदारों से समझौता कर लेते हैं, और जन्म-भर उनके दास बने रहते हैं। यों तो ऐसे दास बंबई, मदरास आदि में भी है, पर बिहार और छोटा-नागपुर में इनकी हालत बहुत बुरी है, वे अपनी वेतन के लिए कोई शर्त पेश नहीं कर सकते; उन्हें काम मिलने की कोई गारंटी नहीं दी जाती, और उन पर 'नीग्रो' लोगों जैसा कड़ा निरीक्षण रहता है। वे किसी दूसरे ज़मींदार के यहाँ

शरण नहीं ले सकते; और, कहीं-कहीं तो उनकी ख़रीद-फ़रोख़्त तक होती है।&

किसानों का क़र्ज़-भार—भारतवर्ष में जनता का अधिकाँश भाग किसानों का है, अतः यहाँ की ऋण-समस्या का विचार करने के लिए पहले किसानों की क़र्ज़दारी का ही विषय लिया जाता है। सन् १९२८ ई० में शाही कृषि-कमीशन ने अपनी रिपोर्ट में लिखा था, 'लोग क़र्ज़ में पैदा होते हैं, क़र्ज़ में पलते हैं, और क़र्ज़ में जीवन व्यतीत कर देते हैं, और आख़िर में उसे अपने वंशजों के लिए विरासत में छोड़ जाते हैं।' कमीशन ने यह भी कहा था कि यह स्थिति देश की राजनैतिक व्यवस्था के लिए अच्छी नहीं है। यह होते हुए भी किसानों की ऋण-ग्रस्तता दूर करने के लिए कुछ गंभीरता-पूर्वक प्रयत्न नहीं किया गया।

सन् १९३० ई० तक तो यही ज्ञात न था कि भारतीय किसानों पर कुल ऋण-भार कितना है। उक्त वर्ष केंद्रीय बैंकिंग-जाँच-कमेटी के साथ सहयोग करने के लिए प्रांतीय सरकारों ने प्रांतीय बैंकिंग-जाँच-कमेटियाँ स्थापित कीं। प्रांतीय कमेटियों ने अपने-अपने प्रांत के क़र्ज़ के जो आंकडे उपस्थित किए वे अपूर्ण है; और अनेक दशाओं में केवल अनुमान के आधार पर होने के कारण यथेष्ट विश्वसनीय भी नहीं है। तथापि अभी तक अन्य कोई उससे अच्छा हिसाब प्रस्तुत न होने के कारण उसी का उपयोग किया जाता है। उसके अनुसार भिन्न-भिन्न प्रांतों में क़र्ज़ का परिमाण आगे लिखे अनुसार है:—

& 'हिन्दुस्तान' के आधार पर।

प्रांत	कर्ज़ (रुपयों में)	विशेष वक्तव्य
बिहार-उड़ीसा	१५५ करोड़	२४ करोड़ ज़मींदारों का, १२६ करोड़ किसानों का, और २ करोड़ दूसरों का ।
मदरास	१५० करोड़	इसमें देहातों और शहरों दोनों का कर्ज़ा शामिल है ।
बंबई	८१ करोड़	
बंगाल	१०० करोड़	इसमें ६२ करोड़ लम्बी मियाद वाले कर्ज़ों का रुपया है ।
बर्मा	५० से ६० करोड़	
पंजाब	१३५ करोड़	
मध्य-प्रांत	३६ करोड़	ज़मींदारों का कर्ज़ ६ करोड़, और किसानों का कर्ज़ ३० करोड़ ।
युक्त-प्रांत	१२४ करोड़	इसमें कृषि संबंधी सब प्रकार के मज़दूरों का कर्ज़ा भी शामिल है ।
आसाम	२२ करोड़	मैदान वाले ज़िलों का कर्ज़ा ।
मध्य भारत	१८ करोड़	इसमें क़रीब ३ करोड़ का कर्ज़ दिल्ली और ३ करोड़ का अजमेर-मेरवाड़ा का शामिल है ।
कुर्ग	३६ से ५६ लाख	

इस प्रकार ब्रिटिश भारत के किसानों का ऋण लगभग ६०० करोड़ रुपए होने का अनुमान किया गया था। सन् १६३१ ई० के बाद, फसल के मूल्य में कमी हो जाने के कारण यह ऋण बहुत अधिक बढ़ा है। अब इसके १,८०० करोड़ रुपए होने का अनुमान है। अर्थात् प्रति व्यक्ति ७५ रुपए से भी अधिक।

अब देशी राज्यों की बात लीजिए। इनके अंक वैसे अपूर्ण रूप में भी प्राप्त नहीं हैं, जैसे ब्रिटिश-भारत के हैं। हाँ, यह सर्व-विदित है कि देशी राज्यों के गाँववालों की दशा ब्रिटिश-भारत वालों की अपेक्षा अच्छी कदापि नहीं है। यदि उनके ग्राम-ऋण को ब्रिटिश-भारत के ऋण का एक-तिहाई मान लें तो भारतवर्ष का कुल ग्राम-ऋण चौबीस सौ करोड़ रुपए से अधिक होगा।

प्रांतीय कमेटियों ने यह मालूम करने का भी प्रयत्न किया था कि फ़ी-सैकड़ा कितने व्यक्ति कर्ज़दार नहीं है। भिन्न-भिन्न ज़िलों के ऋण-मुक्त किसानों की औसत-संख्या भिन्न-भिन्न होने से यह नहीं ज्ञात होता कि वास्तव में कुल मिला कर कितने किसान ऋण-भार से मुक्त हैं। कुछ विद्वानों के मतानुसार ७५ प्रति शत किसान ऋण-ग्रस्त हैं।

ऋण-ग्रस्तता के कारण—अब हम यह बतलाते हैं कि ऋण-ग्रस्तता के मुख्य कारण क्या है; और उन्हें किस प्रकार दूर किया जा सकता है। प्रथम कारण यह है कि देश में उद्योग-धंधों की कमी है, और जन-संख्या क्रमशः बढ़ती जा रही है, इस प्रकार खेती के काम में अधिकाधिक आदमी लगते जा रहे हैं। प्रत्येक व्यक्ति के हिस्से में भूमि बहुत कम परिमाण में आती है, उसमें खेती करने से औसत-लागत-खर्च बहुत बैठता है; आय कम होती है। आवश्यकता है कि देश में उद्योग-धंधों की उन्नति की जाय, और जन-संख्या भी

यथा-संभव कम रहे। इन दोनों बातों के संबंध में विशेष पहले लिखा जा चुका है।

ऋण का दूसरा कारण यह है कि पंचायतों की पुरानी प्रथा न रहने से उनका ऋण-संबंधी मामलों में नियंत्रण नहीं रहा। पहले पंचायतें यह जानती थीं कि ऋण लेनेवाले और देनेवाले की स्थिति कैसी है, उनके दबाव के कारण ऋण आवश्यक कार्य के लिए ही लिया जाता था, और सूद की दर पर प्रतिबंध रहता था। उस समय ऋण-संबंधी मामलों का निपटारा अच्छी तरह, बिना खर्च के ही हो जाता था। अब अदालतों की कार्रवाई बहुत जटिल और खर्चीली है। महाजनों में पूर्ववत सहृदयता और सद्‌भावना नहीं है, और उन पर ऋण के दर संबंधी नियंत्रण भी नहीं रहा है। इधर गत वर्षों में ऋण-ग्रस्तों की रक्षा के लिए क़ानून बने हैं, उनके संबंध में, आगे लिखा जायगा। इन क़ानूनों से किसानों को ऋण मिलना कठिन हो गया है। जब तक किसानों को रुपया उधार देने की कोई दूसरी समुचित व्यवस्था न की जाय, उक्त क़ानूनों से विशेष लाभ नहीं हो सकता। 'तक़ावी' और सहकारी साख समितियों से किसानों को कुछ सहायता मिलती है,* पर उनका कार्य 'समुद्र-में-बूंद' की तरह है।

ऋण का तीसरा कारण किसानों की साख और हैसियत कम होना तथा उनसे ब्याज अधिक लिया जाना है। यहाँ किसानों को आवश्यकता के समय कम दर पर, यथेष्ट मात्रा में, और समुचित अवधि के

---

* 'तक़ावी' वह सरकारी ऋण है, जो किसानों को अकाल आदि के अवसर पर, सन् १८८३ ई० से, दिया जाता है। सहकारी साख-समितियों के विषय में पहले 'बैंक'-शीर्षक परिच्छेद में लिखा जा चुका है।

लिए रुपया उधार देने की व्यवस्था नहीं। अन्य देशों में सरकार किसानों को बिना ब्याज, अथवा नाम-मात्र के ब्याज पर, बड़ी बड़ी रकमें पचास-साठ साल तक के लिए उधार देती है। क्या भारतवर्ष में भी कभी अधिकारी ऐसी व्यवस्था करने की बात सोचते हैं?

ऋण का चौथा कारण किसानों का, अनुत्पादक कार्यों के लिए रुपया उधार लेना बताया जाता है, परंतु किसान की वर्तमान स्थिति ही ऐसी है, कि उसे अपने निर्वाह के लिए ऋण लेना पड़ता है। प्रायः उसकी फ़सल तैयार होते ही, और कुछ दशाओं में उससे भी पूर्व, ज़मींदार महाजन और सरकार का भार उस पर लदा रहता है, और फ़सल में से उसके वास्ते कुछ बचने नहीं पाता। इस प्रकार उसे अन्न या रुपए के रूप में ऋण लेना पड़ता है। विचार-पूर्वक देखा जाय तो यह ऋण अनुत्पादक कार्यों के वास्ते लिया जानेवाला नहीं कहा जा सकता; कारण, खेती करने का, किसान वैसा ही आवश्यक साधन है, जैसा बैल, हल, बीज आदि; वरन् किसान का महत्व अन्य सब साधनों की अपेक्षा अधिक है।

ऋण का पांचवाँ कारण किसानों की 'फ़ज़ूल-ख़र्ची' है। यह आक्षेप प्रायः किया जाता है कि कुछ किसान विवाह-शादी या जन्म-मरण-संबंधी सामाजिक रीति-व्यवहार में अपनी हैसियत से अधिक ख़र्च करते हैं। इसमें यथा-संभव सुधार होने की आवश्यकता है; परंतु मनुष्य की प्रकृति और सामाजिक आवश्यकताओं का विचार करने पर यह कहा जा सकता है, कि ऐसे ख़र्च से पूर्णतया बचा नहीं जा सकता। इसी प्रकार कभी-कभी त्यौहार आदि मनाना मनुष्य के लिए स्वाभाविक है, यदि अपने निरंतर चिंता-ग्रस्त-जीवन में कभी-कभी आनंद प्रमोद के लिए वह कुछ नियमित ख़र्च करता है, तो इस के लिए उसे विशेष दोष नहीं दिया जा सकता।

ऋण-ग्रस्तता और सरकार—ऊपर जो कारण किसानों के

ऋण-ग्रस्त होने के बताए गए हैं, उनका दाइत्व बहुत-कुछ यहाँ की शासन पद्धति पर है, यह बात सहज ही समझ में आ सकती है। उदाहरणवत् यहाँ के उद्योग-धंधों के नष्ट होने का (जिसके कारण आदमी अधिकाधिक संख्या में कृषि के आश्रित होते जाते हैं), मुख्य कारण भूत-कालीन सरकारी नीति है। इस समय भी सरकार उद्योग-धंधों की उन्नति के लिए यथेष्ट उपाय काम में नहीं ला रही है। प्राचीन पंचायतें विलुप्त होने, नवीन पंचायतों के अधिकार बहुत कम होने तथा उनके यथेष्ट प्रतिनिधित्व-पूर्ण न होने, और अदालतों की खर्चीली पद्धति प्रचलित करने का दाइत्व आधुनिक शासन प्रणाली पर ही है। फिर, ऋण-ग्रस्तता का एक अन्य कारण सरकार की लगान और मालगुज़ारी-संबंधी नीति हैं। इस विषय में पहले लिखा जा चुका है। सरकार लगान और मालगुज़ारी निर्धारित करने और वसूल करने में जिस कठोरता का परिचय देती है, उसके दुष्परिणाम को जानती हुई भी वह उसके निवारण का उपाय नहीं करती। उसे किसानों की दशा सुधारने की अपेक्षा, जैसे भी-बने अपनी सेना आदि की बढ़ी हुई आवश्यकताओं को पूरा करने की अधिक चिंता रहती है। यदि वह लगान और माल-गुज़ारी के परिमाण में कमी करे, और उनको चुकाने के लिए कृषकों को सुविधाएँ दे तो उनको ऋण-ग्रस्तता बहुत कम होने में, अथवा बढ़ने से रुकने में, बहुत सहायता मिले। परंतु इसके लिए सरकार को सैनिक व्यय तथा सिविल शासन संबंधी व्यय में काफ़ी कमी करनी पड़ेगी। क्या अब भी वह इसके लिए तैयार है?

ऋण-ग्रस्तों की रक्षा—प्रांतीय सरकारों के सहमत होने पर सन् १९१७ ई० में भारत-सरकार ने भारतीय व्यवस्थापक सभा में एक क़ानून का मसविदा पेश किया था, जिसका उद्देश्य यह था कि यदि रुपया

उधार देनेवाले ने सूद की दर अधिक ठहराई हो, तो अदालतों को अधिकार हो कि वह उसे कम करके फिर से सूद का हिसाब लगवावें। मार्च, सन् १९१८ ई० में यह क़ानून बन गया।

पश्चात् भिन्न-भिन्न प्रांतों में स्थानीय परिस्थिति को ध्यान में रखते हुए क़ानून बना कर महाजनों द्वारा निर्धारित की हुई सूद की दर नियंत्रित करने के संबंध में क़ानून बनाए गए। इन क़ानूनों से किसानों को यथेष्ट लाभ नहीं, है। प्रथम तो अदालती ख़र्च के कारण अदालतों में मामले बहुत कम जाते हैं। फिर, जैसा कि पहले जा चुका है, ऐसे क़ानूनों के कारण, किसानों को महाजनों से रुपया उधार मिलना कठिन होगा; यदि महाजनों की जगह कोई अन्य संस्था, किसानों को रुपया उधार देनेवाली न हो तो उन्हें बड़ा संकट सहना पड़ेगा।

भारतवर्ष के कुछ प्रांतों में 'कर्ज़ा-समझौता बोर्ड' स्थापित किए गए हैं। ये बोर्ड ऋण के मूलधन और व्याज का विचार करते हुए, साहूकार और कर्ज़दार की सहमति से ऋण की ऐसी रक़म निर्धारित करते हैं, जिसका दिया जाना उचित है। फिर, किसान की हैसियत, तथा आय-व्यय और बचत के लिहाज़ से इस रक़म की क़िस्तें ठहरा दी जाती हैं। इन बोर्डों से कृषक जनता को कुछ लाभ हो रहा है। परंतु बहुधा खेती की पैदावार दैवी कारणों से नष्ट हो जाने से तथा अनेकशः पैदावार की क़ीमत घटने से किसान ज़मीन की मालगुज़ारी ही देने में असमर्थ रहते हैं। फिर, वे अपनी क़र्ज़ की क़िस्त किस प्रकार अदा करें! इसके लिए तो इनकी आय ही बढ़नी चाहिए; इसके विविध उपायों के संबंध में पहले लिखा जा चुका है।

रिज़र्व बैंक की सिफ़ारिशें—'बैंक' शीर्षक परिच्छेद में रिज़र्व बैंक के कार्य बतलाते हुए, उसके कृषि-साख-विभाग का उल्लेख

किया जा चुका है। इस विभाग की प्रथम रिपोर्ट में गावों की कर्ज़दारी के भारी बोझ की विस्तृत आलोचना की गई है, और इसके हल के लिए विविध उपाय सुझाए गए हैं। उनमें से निम्नलिखित की ओर हमें पाठकों का ध्यान आकर्षित करना है:—

१—गल्ले की खरीद-फरोख्त के संबंध में व्यापारिक बैंकों के कार्य-क्षेत्र की उन्नति करना चाहिए।

२—जहां कर्ज़ इतना अधिक हो गया हो कि कर्ज़दार उसे अदा करने में असमर्थ हों, वहां कर्ज़ के मूलधन या सूद में कमी कर देना चाहिए।

३—ऐसा क़ानून बनाना चाहिए जिनसे लंबी मियाद के कर्ज़ छोटी-छोटी क़िस्त में चुकाए जा सकें।

४—तीस वर्ष से अधिक के पुश्तैनी कर्ज़ के निपटारे के संबंध में रियायती बर्ताव होना चाहिए।

५—उन कर्ज़ों के लिए जो पावनेदारों की स्वेच्छा से कम करने पर भी कर्ज़दारों से चुकाए न जा सकें, आसान क़िसान-दिवालिया-क़ानून बनाए जायँ।

६—पर उन साहूकारों को, जो स्वेच्छा से कर्ज़ कम करना स्वीकार करें, और प्रमाणित मुख्य संस्थाओं को, क़ानूनों में संशोधन कर इस बात की मदद दी जाय कि वे ज़मीन को उस समय तक बंधन रखें जब तक कि लंबी मियाद के कर्ज़ों के संबंध में तय की हुई क़िस्तें अदा न हो जायँ।

७—ज़मीन बंधक रखनेवाले कारपोरेशन व्यापारिक ढंग पर चलाए जायँ ताकि डिविडेण्ड (लाभाँश) देने और काफ़ी रक्षित कोष कर लेने के बाद इतना अधिक लाभ बचे कि वह कर्ज़दारों को दिया जा सके।

८—लिए जाने वाले कर्ज़ की हद मौरूसी या मालिकाना किसान की ज़मीन की क़ीमत या मालगुज़ारी के किसी अनुपात से ठहरा दी जाय जिसकी अदायगी ज़मीन की आमदनी से, किसान और उसके कुटुंब के भरण-पोषण के लिए छोड़कर, तीस वर्ष के अंदर हो।

९—फ़सल की ख़रीद-बिक्री के लिए छोटी मियाद पर पेशगी देना बैंकिंग कारोबार का एक मुख्य अंग समझना चाहिए। इस विषय में रिज़र्व बैंक 'शिड्यूल्ड' (स्वीकृत) बैंकों की पूरी सहायता करेगा।

१०—इसलिए कि व्यापारिक बैंक और रिज़र्व-बैंक लेन-देन में अपनी पूँजी लगाने में अधिक हिस्सा ले सकें, अधिकतर कारोबार बिल-आफ़-एक्सचेंज द्वारा किया जाय, जिसे व्यापारिक बैंक स्वीकार करें।

१०—इसलिए बिलों पर की स्टाँप-फ़ीस कम करके एक साल से कम मियाद की बिल पर दो आना प्रति १०००) रु० कर देना चाहिए।

१२—गाँव के साहूकार तो रहेंगे ही, पर उनके कारोबार के तरीक़े में क़ानून और सलाह द्वारा सुधार होने की आवश्यकता है। इस संबंध में सभी नियमित साहूकारों के लिए लाइसेंस और रजिष्ट्रेशन पद्धति होनी चाहिए, और सूद की दर तथा नियमानुकूल हिसाब रखने की कानूनी व्यवस्था होनी चाहिए।

१३—प्रांतीय सरकारों को लेन-देन के मामूली मामलों के निपटारे के लिए ग्राम-पंचायत-कोर्ट की स्थापना पर विचार करना चाहिए।

१४—सहकारी समितियाँ उस समय के लिए पूँजी का प्रबंध करें, जबकि दैवी कारणों से, उनके सदस्य अपना कर्ज़ा न चुका सकें। इसके अतिरिक्त ये समितियाँ (१) कर्ज़ा केवल खेती के लिए दें, (२) कर्ज़ा खेती की आय और उसके खर्च का हिसाब लगाकर दें, (३) जिस कर्ज़ा की अदायगी साल भर के अंदर न हो सके, उसे न दें (४) पूरा कर्ज़ा

एक-मुश्त न दें, खेती की क्रमशः ज़रूरत के मुताबिक थोड़ा-थोड़ा दें, (५) अगर निश्चित समय के अंदर कर्ज़ न अदा हो तो अदायगी का उपाय किया जाय या सहकारी समिति बंद करदी जाय, (६) समय की मोहलत केवल फ़सल के नष्ट हो जाने पर मिले, (७) इसका पूरा हिसाब रहे।

१५—उपज की गारंटी के अतिरिक्त, सहकारी गोदाम और विक्रय-समितियाँ, सामुहिक गारंटी की व्यवस्था कर बैंकों के लिए ऐसा व्यापारिक साधन तैयार कर सकती हैं कि वे बहुत कम मुनाफे पर किसानों को पेशगी दे सकें।

किसानों की ऋण-मुक्ति—किसानों का ऋण-भार और न बढ़े, उन्हें सूद की चिंता से छुटकारा मिले और उनका जीवन अधिक सुखी हो, इसके लिए यह आवश्यक है कि उनकी पुराने ऋण से मुक्ति पाने के उपायों का विचार किया जाय, और उन उपायों को क्रमशः परंतु मनोयोग-पूर्वक अमल में लाया जाय। स्थूल रूप से ऐसी योजना की रूप-रेखा कुछ इस प्रकार हो सकती है—प्रत्येक प्रांत में प्रांतीय व्यवस्थापक सभा द्वारा निर्वाचित कुछ व्यक्तियों की एक कमेटी रहे, जिसके निरीक्षण और नियंत्रण में प्रत्येक ज़िले के कुछ सरकारी और ग़ैर-सरकारी अनुभवी आदमी अपने-अपने ज़िले के गाँवों के प्रत्येक किसान के विषय में यह मालूम करें कि उस पर कुल ऋण-भार कितना है, उसमें कितना भाग मूल-ऋण है, और कितना व्याज; तथा व्याज मद्दे कितनी रक़म दी जा चुकी है। जिस ऋण के संबंध में, मूलधन या व्याज के मद्द कुल रकम मूलधन के दूने के बराबर दी जा चुकी है, वे सब ऋण पूर्णतः चुकाए हुए समझे जायँ। शेष ऋणों की व्याज की रक़म में, और एक निर्धारित अवधि से अधिक के ऋणों के मूलधन की रकम में भी काफ़ी कमी की जाय; और, वह रक़म निर्धारित की जाय जो अब दी जानी वास्तव में

उचित है। जो किसान इस कम की हुई रक़म को न दे सकें, (और इनकी संख्या अवश्य ही काफ़ी अधिक होगी) उनका ऋण एक-दम या क्रमशः चुकाने का दाइत्व सरकार अपने ऊपर ले, और किसानों से मालगुज़ारी के साथ छोटी-छोटी क़िस्तों में वसूल करे। स्मरण रहे कि इस व्यवस्था का एक आवश्यक अंग यह है कि सरकार मालगुज़ारी में काफ़ी कमी करे, इसके संबंध में पहले कहा जा चुका है।

मज़दूरों के ऋण की समस्या—मज़दूरों की ऋण-ग्रस्तता, उनके ऋणी होने के कारण, तथा उन कारणों को दूर किए जाने-संबंधी कुछ बातें वही हैं, जो किसानों के विषय में ऊपर कही जा चुकी हैं। ऋण-भार की चिंता के कारण मज़दूर का स्वास्थ्य ही नष्ट नहीं होता, उसका कौशल भी क्षीण होता जाता है, वह अपना विकास नहीं कर पाता। ऋण चुकाने के लिए वह अपनी शक्ति से अधिक समय, तथा कठिन श्रम करता है, इससे वह बीमार पड़ता है; और फल-स्वरूप ऋण-मुक्त होने के स्थान, और अधिक ऋणी बनता जाता है। प्रायः उससे ब्याज, किसानों की अपेक्षा अधिक लिया जाता है, कारण उसके पास भूमि या ज़ेवर आदि कोई ऐसी संपत्ति नहीं होती, जिसे वह रहन या गिरवी रख सके।

मज़दूरों का ऋण-भार कम करने के लिए एक सर्व-मान्य बात यह है कि उसे वेतन मासिक के बजाय, साप्ताहिक दी जाय, जिससे उसे अपने भरण-पोषण की वस्तुएँ ख़रीदने में सुभीता हो, और ऋण लेने की आवश्यकता कम रहे। खेद है, कि भारतवर्ष में इस मामूली सी बात की भी सरकार ने व्यवस्था नहीं की। इस संबंध में शीघ्र यथोचित क़ानून बन जाने की आवश्यकता है। इसके अतिरिक्त उन्हें, उनकी आवश्यकताओं का सम्यग् विचार करके आवश्यक

ऋण अच्छी शर्तों पर और साधारण ब्याज पर मिलने की सुविधा होनी चाहिए। साथ ही मज़दूरी की दर बढ़ाने की बहुत आवश्यकता है, इसके लिए उनकी कार्य-क्षमता बढ़ाने की व्यवस्था होनी चाहिए, इसके संबंध में पहले कहा जा चुका है।

विशेष वक्तव्य—किसानों और मज़दूरों के अतिरिक्त देश में अन्य अनेक व्यक्ति भी ऋण-ग्रस्त हैं। इनमें मध्य श्रेणी के आदमियों की दशा विशेष चिंतनीय है। यदि ये लोग अपनी आवश्यकताओं को मर्यादित रखें, मितव्ययिता-पूर्वक काम करें, दूसरों की देखा-देखी, सामाजिक रीति-व्यवहार में अथवा अपनी 'प्रतिष्ठा' बनाए रखने के भ्रमात्मक विचारों के कारण, अपनी हैसियत से अधिक खर्च न करें, तो इनमें से बहुत-सों का सहज ही उद्धार हो सकता है।

शिक्षा-प्रचार, मितव्ययिता, बैंकों, सहकारी समितियों, और मिश्रित-पूँजीवाली कंपनियों की वृद्धि से सभी ऋण-ग्रस्तों की रक्षा में सहायता मिलेगी।

पच्चीसवाँ परिच्छेद

मुनाफ़ा

प्राक्कथन—किसी उत्पन्न पदार्थ से उसके उत्पादन का सब व्यय—कच्चे माल का मूल्य, संचालक शक्ति का व्यय, यंत्रों की घिसाई, विज्ञापन तथा बीमा ख़र्च, लगान, मज़दूरी और सूद—निकाल देने पर जो शेष रहता है, वह मुनाफ़ा है। यह व्यवस्था का प्रतिफल है; व्यवस्था में प्रबंध और साहस, दोनों सम्मिलित हैं, यह पहले बताया जा चुका है।

कुछ महाशय 'प्रबंध की कमाई' * का विचार स्वतंत्र रूप से करते हैं। इस दशा में मुनाफ़ा केवल साहस करने या जोखिम उठाने का प्रतिफल रह जाता है। जैसा कि हम पहले कह चुके हैं, बहुधा कारख़ानेवाले आदि श्रम (एवं उत्पत्ति के अन्य साधनों) का प्रतिफल कम-से-कम देकर बहुत लाभ उठाते हैं। इससे धन-वितरण में धन का बड़ा भाग मुनाफ़े के रूप में रहता है। इसका सामाजिक स्थिति पर जो प्रभाव पड़ता है, उसका विचार अगले परिच्छेद में किया जायगा। कुछ कामों में मुनाफ़े का सहसा हिसाब नहीं लग सकता। कभी-कभी तो दस-दस, पंद्रह-पंद्रह वर्ष या इससे भी अधिक समय के आय-व्यय का हिसाब लगाने पर मुनाफ़े की मात्रा मालूम होती है। पुनः यह भी आवश्यक नहीं कि हर एक काम में मुनाफ़ा होवे ही। बहुतेरे कामों में हानि भी होती है। परंतु जब हानि होती है, तो उस काम की पद्धति में परिवर्तन किया जाता है, अथवा वह बिलकुल बंद कर दिया जाता है। निस्संदेह ऐसा करने में समय लगता है।

मुनाफ़े के दो भेद—अर्थ-शास्त्र की दृष्टि से मुनाफ़े के दो भेद हैं—वास्तविक मुनाफ़ा, और कुल मुनाफ़ा। कुल मुनाफ़े में बहुधा वास्तविक मुनाफ़े के अतिरिक्त (क) साहसी की निजी पूँजी का सूद, (ख) उसका अपनी ज़मीन का किराया, (ग) बीमे आदि का खर्च और (घ) साहसी की विशेष सुविधाओं से होनेवाला लाभ सम्मिलित

* प्रबंधक या मैनेजर का कार्य धनोत्पादन में एक आवश्यक अंग है। वह अन्य श्रमजीवियों के काम की देख-भाल करता है। उसकी आय को जो बहुधा निश्चित होती, और प्रति मास मिलती है, वास्तव में मज़दूरी नहीं कह सकते। अर्थ-शास्त्र में उसे एक पृथक् संज्ञा दी जाती है, इसे प्रबंध की कमाई कहते हैं।

है। साधारण बोलचाल में कुल मुनाफे या उसके कुछ अंशों को ही प्रायः मुनाफ़ा कहते हैं।

मुनाफे के न्यूनाधिक्य के कारण*—कुल मुनाफ़े का कम-ज़्यादा होना कई बातों पर निर्भर है—

(१) उत्पादन-व्यय जितना कम होगा, उतना ही मुनाफ़ा अधिक रहेगा। उत्पादन-व्यय कम होने के ये तीन मुख्य कारण हैं—(क) काम करनेवालों के काम की मात्रा बढ़ जाने पर उनकी मज़दूरी का पूर्ववत् बना रहना। (ख) काम की मात्रा और खाने-पीने वग़ैरह की चीज़ों की क़ीमत पूर्ववत् बनी रहने पर काम करनेवालों की मज़दूरी की दर का घट जाना। (ग) खाने-पीने की चीज़ें सस्ती हो जाना।

पदार्थों की क़ीमत बढ़ने या देश में महँगी होने से मुनाफ़ा ही होगा, यह समझना भूल है। जन-संख्या की वृद्धि अथवा विदेशी माँग के कारण, खेती में पैदा होनेवाले अन्न आदि की खपत बढ़ने से निकृष्टतर ज़मीन में खेती करनी पड़ती है। यह बात मज़दूरी आदि का ख़र्च बढ़ाए बिना नहीं हो सकती, और उत्पादन-व्यय बढ़ने से चीज़ों की क़ीमत का बढ़ना तथा देश में महँगी का होना स्वाभाविक ही है। इससे काश्तकारों को लाभ थोड़ा ही होता है। उनका तो ख़र्च ही मुश्किल से निकलता है। पुनः जो चीज़ें कलों की सहायता से बनती हैं, उनकी खपत बढ़ने से मुनाफ़ा अधिक होता है; क्योंकि माल जितना अधिक तैयार होगा, ख़र्च का अनुपात उतना ही कम पड़ेगा। इस प्रकार क़ीमत कम आने पर भी मुनाफ़ा अधिक हो सकता है।

(२) मुनाफ़े का समय से भी गहरा संबंध है। माल बिककर

---

* 'संपत्ति-शास्त्र' के आधार पर।

मुनाफ़ा मिलने में जितना ही कम समय लगेगा, मुनाफ़े की दर उतनी ही अधिक होगी। और, जितना ही समय अधिक लगेगा, मुनाफ़े की दर उतनी ही कम होगी।

(३) मज़दूरी की दर कम होने से मुनाफ़ा अधिक और मज़दूरी बढ़ने से मुनाफ़ा कम हो जाता है। कारख़ानेवाले अधिक-से-अधिक मुनाफ़ा चाहते हैं, और मज़दूर अधिक-से-अधिक मज़दूरी। इसलिए उन दोनों में बहुधा पारस्परिक हित-विरोध रहता है। इसका अन्यत्र प्रसंगानुसार वर्णन किया गया है।

(४) कारख़ानेवालों की बुद्धिमानी, दूरंदेशी और प्रबंध करने की योग्यता पर भी मुनाफ़े की कमी-बेशी बहुत-कुछ निर्भर है। देश में अयोग्य कारख़ानेवालों की संख्या अधिक होने से चतुर कारख़ाने के मालिकों के मुनाफ़े की दर बढ़ जाती है। शिक्षा और कला-कौशल की वृद्धि के साथ-साथ अयोग्य कारख़ानेवालों की संख्या कम होती है, और चतुर कारख़ानेवालों की संख्या बढ़ती जाती है। इससे मुनाफ़े की दर दिनों-दिन घटती जाती है। एक बात और भी है। शिक्षा और सभ्यता के प्रचार से मनुष्य दूरंदेश होता जाता है। इससे देश की पूंजी बढ़ती है। और, पूँजी बढ़ने से मुनाफ़े की दर कम होनी ही चाहिए।

(५) मुनाफ़े की दर कुछ विशेष सुविधाओं पर भी निर्भर रहती है—जैसे, भूमि का अच्छा होना, पूंजी का सस्ता मिल जाना आबपाशी का समय पर तथा अच्छा हो जाना, नज़दीक ही मंडी बन जाना या रेल की लाइन निकल जाना आदि।

(६) मुनाफ़े में प्रतियोगिता का भी बड़ा प्रभाव पड़ता है। आज-कल बहुत-से व्यवसायों में चढ़ा-ऊपरी है। जिस व्यवसाय में

अधिक मुनाफ़ा होता है, उसे दूसरे व्यवसाई भी करने लगते हैं। वे उसमें अधिक पूँजी लगाकर माल कम ख़र्च में तैयार करने और सस्ता बेचने का प्रयत्न करते हैं। इससे पहले व्यवसाई को भी क़ीमत की दर घटानी पड़ती है। फलतः मुनाफे की मात्रा कम हो जाती है। किंतु थोड़ी पूँजीवाले थोड़े मुनाफे पर बहुत दिन तक प्रतियोगिता नहीं कर सकते। इसलिए बड़े-बड़े पूँजीपतियों या कंपनियों का ही व्यवसाय चलता रह सकता है।

कृषकों का मुनाफ़ा—भारतवर्ष में कृषि-कार्य की अधिकता है। बहुत-से आदमी अपनी भूमि पर अपनी ही मिहनत तथा पूँजी से कुछ पैदा कर लेते हैं। इस दशा में प्रबंध की कमाई और साहस का फल अर्थात् मुनाफ़ा अलग नहीं प्रतीत होता। बहुत-से भारतीय किसानों को लाभ बहुत कम होता है। ख़ास-कर जिनके खेत छोटे-छोटे और दूर-दूर हैं, अथवा ग़ैर-मौरूसी या शिकमी-दर-शिकमी हैं, उन्हें तो बहुधा बिलकुल ही मुनाफ़ा नहीं होता। प्रश्न हो सकता है कि ऐसी दशा में वे कृषक कृषि-कार्य छोड़कर अन्य कोई लाभकारी कार्य क्यों नहीं करने लगते? परंतु उन बेचारों को ऐसा करने की सुविधाएँ हों, तब न। हमारे अनेक किसानों की पूँजी प्रायः नहीं के बराबर होती है। बहुतेरे ऋण-ग्रस्त रहते हैं। शिक्षा का अभाव और संकुचित विचारों तथा अंध-विश्वास की प्रधानता उनकी उन्नति में बहुत बाधक होती है। इसलिए वे बेचारे वर्षों और बहुधा पीढ़ी-दर-पीढ़ी तक बिना मुनाफे के ही कृषि-कार्य करते रहते हैं, जिसमें उन्हें अपने श्रम की मामूली-सी मज़दूरी मिल सके। किसी अन्य उद्योग-धंधे के करने की योग्यता न होने के कारण, वे और कामों में उतनी भी मज़दूरी पाने की आशा नहीं रखते।

कृषि-साहूकार का मुनाफ़ा—यहाँ महाजन या बनिए किसानों को रुपया उधार देते हैं, और उसके बदले में, फ़सल तैयार होने के समय, बाज़ार से कुछ सस्ते भाव पर, अन्न आदि लेते हैं। इसी में उनका सूद भी आ जाता है। बहुधा ऐसा भी होता है कि ऋण देते समय ही पदार्थ का वह भाव ठहर जाता है, जिस पर किसान अपना माल महाजनों को देते हैं। उक्त मोल लिए पदार्थ को महाजन अपने यहाँ जमा रखते हैं, और फ़सल के पश्चात्, जब उसका भाव चढ़ जाता है, तब धीरे-धीरे बेचते हैं। दरिद्र और अदूरदर्शी किसान अपनी आवश्यकताओं, विवाह-सगाई आदि की रीति-रस्मों और सरकारी लगान आदि चुकाने के लिए, प्रायः इतना माल बेच डालते हैं कि कुछ समय के बाद स्वयं उन्हीं को कुछ माल बनिए से, महँगे भाव पर, ख़रीदना पड़ जाता है। अस्तु, इस क्रय-विक्रय से महाजन काफ़ी मुनाफ़ा लेता है।

शिल्प-साहूकार का मुनाफ़ा—पहले छोटी मात्रा की उत्पत्ति की दशा में बहुत-से कारीगर अपनी-अपनी पूँजी से स्वतंत्र कार्य करते थे। उसके वे स्वयं ही निरीक्षक या व्यवस्थापक भी होते थे। उनके मुनाफ़े में पूँजी का सूद भी होता था। कुछ बड़े-बड़े नगरों में पूँजीपति कारीगरों का रुपया उधार देते और बदले में उनका माल ख़रीदते या अपनी इच्छानुसार माल बनवा लेते थे। इस प्रकार वे बहुत-सा माल इकट्ठा करके, उसे उसी नगर में बेचकर, अथवा बाहर भेजकर, नफ़ा उठाते थे। इन लोगों का निरीक्षण या व्यवस्था से कोई संबंध न होता था।

आजकल मशीनों के माल की खपत बढ़ जाने से स्वतंत्र कारीगरों का महत्त्व कम हो गया है। मेहनत-मज़दूरी करनेवालों की संख्या

बढ़ती जा रही है। प्रायः कारीगर अपने माल को स्वयं बेचते हैं, उसकी लागत तथा उसमें लगी हुई पूँजी का सूद बाद करके जो उन्हें बचता है, वह उनका ही मुनाफ़ा होता है।

दुकानदारों का मुनाफ़ा—बहुत-से दूकानदार या सौदागर विदेशी माल बेचते हैं। वे कभी-कभी थोड़ा-सा इस देश के कारीगरों का तैयार किया हुआ माल भी, मोल लेकर, विक्रयार्थ रख लेते हैं। इस समय स्वदेशी माल का क्रय-विक्रय बढ़ता जा रहा है।

'देशी व्यापार' शीर्षक परिच्छेद में यह बताया जा चुका है कि यहाँ अधिकाँश दुकानदार अपनी वस्तुओं का कोई निर्धारित मूल्य नहीं रखते, वे ग्राहक को देखकर वस्तु का मूल्य बताते हैं। उदाहरणवत् उसी वस्तु का एक से छः आने, दूसरे से सात आने और तीसरे से आठ आने या इससे भी अधिक माँग लेते हैं, और फिर, जैसा जिस ग्राहक से तय हो जाय वैसा दाम ले लेते हैं। यह वस्तु वास्तव में पाँच आने या इससे भी कम की होती है, ग्राहक जितना इसके विषय में अबोध होता है, उतना ही दुकानदार का मुनाफ़ा अधिक होता है। इस प्रकार, जब किसी नई वस्तु का आविष्कार होता है, तो क्योंकि उसकी लागत से, अधिकाँश ग्राहक अपरिचित होते हैं, इसके बेचनेवाले को लाभ अधिक होने की संभावना होती है। इस पद्धति के अनौचित्य के विषय में हम पहले लिख चुके हैं। यहाँ वक्तव्य यह है कि भारतवर्ष में अधिकाँश दुकानदार जितना माल बेचते हैं, उसके अनुपात से, उनका प्रति रुपया औसत मुनाफ़ा काफी होता है; परंतु यहाँ सर्व-साधारण के प्रायः निर्धन होने के कारण, पदार्थों की बिक्री का परिमाण कम होने से, बहुधा दुकानदारों का कुल मुनाफ़ा मामूली ही रहता है।

मध्यस्थों का मुनाफ़ा—भारतवर्ष में बड़े-बड़े मध्यस्थ (आढ़तिए)

प्राय: रुई, सन् , अनाज या कुछ अन्य पदार्थों का व्यापार करते हैं। इनका काम बनियों या बड़े-बड़े किसानों से, फ़सल के अवसर पर, माल लेकर बड़ी मंडियों अथवा बंदरगाहों में भेज देना होता है। ये बंबई, कलकत्ता, कराँची, मद्रास, रंगून आदि के निर्यात करनेवाले सौदागरों से पहले ही यह तय कर लेते हैं कि अमुक समय पर इतना माल इस भाव पर उन्हें देंगे। ये लोग अपने कारोबार में काफ़ी चतुर होते हैं, और बहुधा किसानों या दुकानदारों की अल्पज्ञता से अनुचित लाभ भी उठाते हैं। भारतवर्ष के अन्य लोगों की तुलना में इनका मुनाफ़ा काफी अच्छा रहता है।

आयात-निर्यात करनेवालों का मुनाफ़ा—भारतवर्ष के आयात-निर्यात करनेवाले कुछ बड़े-बड़े सौदागर हर एक प्रांत में हैं। ये संसार की मुख्य-मुख्य मंडियों से बराबर तार द्वारा बाज़ार-भाव का समाचार मँगाते रहते हैं। इसलिए जब विदेशों में किसी ऐसी चीज़ का भाव चढ़ता है, जो भारतवर्ष से जाती हो, या ऐसी चीज़ का भाव उतरता है, जो भारतवर्ष में आती हो, तो अधिकांश मुनाफ़ा इन्हीं सौदागरों को होता है। भारतवर्ष के उत्पादकों तथा उपभोक्ताओं को बहुधा बहुत समय पीछे विदेशों के भाव का पता लगता है।

कल-कारखानेवालों का मुनाफ़ा—इनके मुनाफ़े की मात्रा खूब होती है। मज़दूर बहुधा इनके हाथ की कठपुतली ही रहते हैं, और साधारण वेतन पर कार्य करने के लिए बाध्य होते हैं। यदि मज़दूर कभी हड़ताल भी करें, पूँजीपति भूखे नहीं मरेंगे, चाहे उनका कारख़ाना दस-पाँच दिन बंद ही क्यों न रहे। पर बेचारे मज़दूर क्या करेंगे? उनके पास इतनी पूँजी कहाँ कि दो चार रोज़ भी बैठ सकें, और बाल-बच्चों-सहित मज़े में खाते-पीते रहें। इसलिए उनका कष्ट

बहुत अधिक होता है।*

कारख़ानेवाले अपनी शक्ति को बढ़ाने तथा सुसंगठित करने के लिए समितियाँ बना लेते हैं। तब वे और भी अधिक प्रभावशाली हो जाते हैं। वे सदैव यही सोचा करते हैं कि अधिकाधिक मुनाफ़ा पावें, और धनी बनें।

पुस्तक-प्रकाशकों का मुनाफ़ा—अँगरेज़ी तथा देशी भाषाओं की पुस्तकें प्रकाशित करनेवाले महाशय भारतवर्ष के प्रायः प्रत्येक मुख्य नगर में हैं। विशेषतया देशी भाषाओं के लेखक बहुत निर्धनता का जीवन व्यतीत करते हैं। वे अपने श्रम का प्रतिफल पाने के लिए बेहद आतुर रहते हैं। उनकी रचनाओं की माँग कम और पूर्ति अधिक होने से उनकी क़ीमत कम रहनेवाली ही ठहरी। अतः प्रकाशकों की मनचाही शर्तों को वे स्वीकार न करें, तो क्या करें। हमारे देखते-देखते कई प्रकाशक साधारण पूँजी से कार्यारंभ करके अब बड़े पूँजीपति हो गए हैं। उनके मुनाफ़े का कुछ भाग निस्संदेह उनके असीम साहस, भारी जोखिम तथा पूँजी के सूद आदि का फल है; तथापि यह स्वीकार करना ही पड़ेगा कि उस मुनाफ़े का बड़ा अंश उन लेखकों के परिश्रम का फल है, जिन्हें बाज़ार-दर से दाम चुकाए जाने पर भी यथेष्ट प्रतिफल नहीं मिला है। हाँ, सभी लेखक ऐसे नहीं, जो चुपचाप प्रकाशकों की सब बातें शिरोधार्य कर लें, अथवा एक ही बार कुछ प्रतिफल लेकर उन्हें अपनी रचना के

---

* कभी-कभी ऐसा भी होता है व्यवसाय-पति (कारख़ानों के फाटक में ताला लगाकर) मज़दूरों का आना रोक देते हैं, जिससे मज़दूरों पर उनका प्रभुत्व बना रहे, और वे अधिक मज़दूरी या अवकाश आदि न माँगे। इसे 'द्वारावरोध' कहते हैं।

प्रकाशन का पूर्ण अधिकार दे दें। साथ ही कुछ प्रकाशक भी ऐसे हैं, जो, कुछ ऐसी रचनाएँ प्रकाशित करते हैं, जिनसे उन्हें ख़ूब लाभ होता है, तो वे निर्धन, दुर्दशा-ग्रस्त लेखकों का भी समुचित आदर-मान करने तथा साहित्य के नए-नए अंगों की पूर्ति करने में पीछे नहीं हटते।

अस्तु, साहित्य में श्रम और पूँजी के संघर्ष का विषय बहुत विचारणीय है। स्थानाभाव से हम यहाँ इसका दिग्दर्शन-मात्र कर सकते हैं।

गत वर्षों में जनता की आर्थिक स्थिति अच्छी न होने, तथा सरल और जल्दी हज़्म होनेवाला साहित्य बाज़ार में अधिक परिमाण में आने तथा बिकने के कारण अच्छी और गंभीर विषयों की पुस्तकों की खपत अपेक्षाकृत कम रही है। इसलिए उनके प्रकाशकों का मुनाफ़ा भी कम रहने वाला ठहरा। 'देशी व्यापार'-शीर्षक परिच्छेद में यह बताया जा चुका है कि कुछ प्रकाशकों ने पुस्तकों की क़ीमत तथा कमीशन की दर बहुत अधिक बढ़ा दी है, दलालों की संख्या बढ़ गई है, और मुनाफ़ा बहुत अधिक होने पर भी वह कई व्यक्तियों में बट जाता है; किसी एक व्यक्ति को बहुत अधिक मुनाफ़ा नहीं होता।

मुनाफ़े का नियंत्रण—पिछले परिच्छेदों में लगान, मज़दूरी और सूद के संबंध में लिखते हुए हमने बतलाया है कि भारतवर्ष में प्रायः लगान और सूद की दर तथा उच्च पदों के वेतन बहुत अधिक है; इनका नियंत्रण होना चाहिए। इस परिच्छेद में हमें मालूम हुआ कि कल-कारख़ानेवालों का तथा आयात-निर्यात करनेवालों का मुनाफ़ा प्रायः बहुत अधिक होता है। अनेक दुकानदार भी चीज़ों के दाम

निर्धारित करने में बड़ी मनमानी करते हैं, अथवा ग्राहक को देखकर, एक ही चीज़ के भिन्न-भिन्न दाम लेते हैं। समाज-हित के लिए इसका नियंत्रण होना आवश्यक ही है।

सरकार कुछ दशाओं में तो मुनाफे का नियंत्रण करती भी है, उदाहरणस्वरूप बहुत-से स्थानों में सरकार पाठ्य-पुस्तकों का मूल्य निर्धारित कर देती है, अथवा ऐसा नियम बना देती है कि उनकी क़ीमत प्रति रुपया इतने पृष्ट के हिसाब से रक्खी जाय। इस प्रकार इन पुस्तकों में मुनाफ़ा बहुत नियंत्रित रहता है।

कल-कारखानों अथवा मिश्रित पूँजी की कंपनियों के मुनाफ़े को नियंत्रित करने की विधि यह है कि निर्धारित प्रतिशत से अधिक मुनाफ़ा होने की दशा में सरकार उन पर ऐसा अतिरिक्त कर लगा दे, जो मुनाफ़े की वृद्धि के साथ-साथ क्रमशः वर्द्धमान हो। इस प्रकार सरकार मुनाफ़े में से खासा भाग ले लेती है, और इसे विविध कार्यों में लगाती है।

ऐसा भी हो सकता है कि मुनाफ़े का नियंत्रण, बिना सरकारी कार्रवाई के ही हो जाय। कहीं-कहीं कारखाने के मालिक और मज़दूर आपस में यह निश्चय कर लेते हैं कि फी-सदी अमुक मुनाफे से अधिक जितना मुनाफ़ा होगा, वह सब, या उसका अमुक अंश मज़दूरों को बाँट दिया जायगा। इससे मज़दूरों का उत्साह बढ़ जाता है, उनकी मेहनत और अधिक उत्पादक हो जाती है, और मुनाफ़ा भी अधिक होने लगता है। यह अधिक मुनाफ़ा मज़दूरों के अधिक दिल लगा कर काम करने का फल होता है। इसे मज़दूरों को देने से पूँजीवालों की हानि नहीं होती, उलटा उनका और मज़दूरों का संबंध दृढ़ हो जाता है।

ये मुनाफे के नियंत्रण के थोड़े-से उदाहरण हुए, जिनका संबंध

देश के थोड़े-से ही व्यक्तियों से है। मुनाफ़ा लेनेवालों की कुल संख्या तो कहीं बड़ी है। उन सब के मुनाफ़े का नियंत्रण किस प्रकार हो? समस्या बहुत जटिल है। पाठकों के विचारार्थ हम आचार्य कौटिल्य की इस विषय संबंधी व्यवस्था का उल्लेख करते हैं।* "कौटिल्य के विचार से व्यवसाय द्वारा अपरिमित या अमर्यादित मुनाफ़ा लेना और धनवान बनना चोरी और डकैती के बराबर था। इसलिए उसने ऐसे व्यवसाइयों को 'चोर न कहे जानेवाले, चोर' कहा है। वह तैयार वस्तुओं की बिक्री से होनेवाला लाभ साधारणतः उनकी लागत का पाँच प्रति-सैकड़ा निश्चित करता है। कुछ दशाओं में वह इसका परिमाण दस प्रति सैकड़ा तक उचित समझता है। व्यापारी निश्चित मुनाफे से अधिक न लें, इसके लिए कौटिल्य कई नियम निर्धारित करता है; उदाहरणवत् उसका आदेश है कि शुल्काध्यक्ष शुल्क अर्थात् चुंगी वसूल करने के लिए पदार्थों के परिमाण और गुण का निरीक्षण करे, और प्रत्येक पदार्थ की क़ीमत निश्चित हो जाय। इस क़ीमत को व्यापारी गुप्त न रखे, वह इसकी घोषणा करे। इस दशा में वह मनमाना मुनाफा ले ही नहीं सकता।"

ये बातें आज-कल असामयिक कही जायँगी; अब तो अधिक-से-अधिक मुनाफ़ा लेना व्यवसाय-कुशलता का लक्षण माना जाता है; स्वतंत्रता के नाम पर, व्यापार में किए जानेवाले सरकारी हस्तक्षेप का विरोध होगा। तथापि लोक-कल्याण के लिए मुनाफे का नियंत्रण है बहुत आवश्यक। जहाँ तक संभव हो, इसके लिए क़ानून का आश्रय लिया जाय। अच्छा तो यह है कि लोक-मत ही ऐसा तैयार किया जाय कि आदमी साधारण मुनाफे से संतुष्ट हों। आज-कल उपभोग के पदार्थों

---

* हमारे 'कौटिल्य के आर्थिक विचार' के आधार पर।

की संख्या बहुत अधिक होने से सब वस्तुओं के लिए मुनाफे की दर एक-सा निर्धारित करना उचित न होगा, तथापि यह तो सहज ही ज्ञात हो सकता है कि सर्व-साधारण की दृष्टि से किस वस्तु पर कहाँ तक मुनाफ़ा लिया जाना ठीक है; जो व्यक्ति उसकी अधिक-से-अधिक सीमा को उलंघन करे, वह समाज में निंदित माना जाना चाहिए।

मुनाफ़ा और आदर्श—आज-कल आदमी जितने व्यापार-व्यवसाय आदि करते हैं, सब में उनका उद्देश्य कुछ मुनाफ़ा कमाना रहता है। क्या किसी कार्य की उपयोगिता की कसौटी उसके द्वारा मिलने-वाला द्रव्य है, और उपयोगिता का माप मुनाफे के परिमाण के अनुसार समझा जाना उचित है? क्या मानव जीवन की उपयोगिता केवल यह है कि किसी भी प्रकार मुनाफे के रूप में द्रव्य संग्रह किया जाय?

यह सर्व-मान्य है कि मनुष्य का उद्देश्य सुख-शांति प्राप्त करना है, और यद्यपि मनुष्य को अपने जीवन-निर्वाह के भोजन-वस्त्र आदि विविध पदार्थों की ज़रूरत होती है, और जहां तक द्रव्य में ये चीजे ख़रीदने की क्षमता है, वहां तक वह अत्यंत आवश्यक है। परंतु क्या द्रव्य ही मनुष्य को सुख-शांति प्रदान करता है, अर्थात् क्या अपना निर्वाह करनेवाले सौ आदमियों में सबसे अधिक सुखी वह व्यक्ति है, जिसके पास सबसे अधिक द्रव्य है? ऐसा तो देखने में नहीं आता। इसके विपरीत, बहुधा वे आदमी कहीं अधिक सुख और शांति प्राप्त करते हैं जिनका जीवन अपने ही सुख-दुख की चिंता में न व्यतीत होकर दूसरों की सेवा और परोपकार में लगा रहता है; अथवा यों कह लें कि जिनका विचार-क्षेत्र अधिक विस्तृत है, अपने ही शरीर की अथवा अपने परिवार की परिधि से आगे बढ़कर जो अपने ग्राम या नगर, अथवा राष्ट्र के व्यक्तियों में अपने-पन का अनुभव करते हैं, जो वसुधैव कुटुंबकम का आदर्श रखते हुए

विश्व-आत्मा का चिंतन करते हैं। इसलिए विचारशीलों की दृष्टि में, व्यवसाय में सेवा का हेतु रखना श्रेयस्कर समझा जाता है। और, इसीलिए अर्थ-शास्त्र का सुप्रसिद्ध आचार्य कौटिल्य व्यापार व्यवसाय का उद्देश्य धनोपार्जन करना नहीं, सार्वजनिक आवश्यकताओं की पूर्ति करना समझता है। कैसा उत्तम विचार है! जैसा कि पहले कहा जा चुका है, हम अपनी विविध आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए समाज के बहुत ऋणी हैं, उससे यथा-संभव उऋण होने के लिए हमें व्यापार-व्यवसाय का उद्देश्य पर-हित-घातक धन-संग्रह ❀ के बजाय, सेवा, अथवा सार्वजनिक आवश्यकताओं की पूर्ति रखना चाहिए।

छब्बीसवाँ परिच्छेद

वितरण और असमानता

प्राक्कथन—समाज की प्रारंभिक अवस्था में लोगों को स्वामित्व या मिलकियत का विचार नहीं था। किसी को किसी चीज़ के संबंध में अपने और पराए का कुछ ध्यान ही न था। उस समय समानता का विचित्र युग था; न कोई ज़मींदार था, न महाजन, न मज़दूर। राजा और प्रजा का भी भेद-भाव न था। किंतु सभ्यता की वृद्धि के

❀ महाभारत में कहा गया है कि धन-संग्रह, बिना दूसरों का अपकार किए, नहीं होता। अधिकाँश पूँजीपतियों या सेठों की जीवन-लीला की सूक्ष्म समीक्षा करने से इस कथन की सच्चाई भली भांति सिद्ध हो जाती है।

साथ-साथ, स्वामित्व का भाव भी, धीरे-धीरे समाज में बढ़ने लगा। तब संपत्ति का भी वितरण होने लगा। इस समय भिन्न-भिन्न देशों में एक ओर तो मुट्ठी-भर आदमी पूँजीपति हो गए हैं, जिन्हें दिन-रात यही चिंता रहती है कि इतने धन का क्या करें। दूसरी ओर उनके असंख्य देशवासी भाई, घोर परिश्रम करने पर भी, पेट-भर भोजन अथवा शरीर-रक्षा के लिए आवश्यक वस्त्र तक नहीं पाते। इसलिए तो संसार में तरह-तरह के आंदोलन हो रहे हैं।

मज़दूरी से पूँजी और राज्य का झगड़ा—इस युग में पूँजी और मज़दूरी का झगड़ा मुख्य है। प्रत्येक अपने को उत्पन्न धन में से अधिक-से-अधिक का अधिकारी मानता है। राज्य की सहानुभूति बहुधा पूँजी के साथ होती है, इसलिए वह भी इस झगड़े में शामिल हो जाता है। इनमें प्रत्येक का दावा संक्षेप में इस प्रकार कहा जा सकता है। ❀

मज़दूर कहता है—सब धन मैं पैदा करता हूँ। शरीर (और दिमाग़) को पूरी तरह थका देने पर भी, मुझे और मेरे कुटुंब को खाने-पहनने के लिए, काफ़ी धन नहीं मिलता। मेरे परिश्रम से पूँजीपति मौज उड़ाते हैं। इसी की बदौलत उसे देश के क़ानून बनाने का अधिकार मिला है, और वह ऐसे क़ानून बनाता रहता है, जिससे वह तो अधिकाधिक सुखी हो, और मैं अधिकाधिक दुखी होता जाऊँ। कारख़ाने का बनानेवाला असल में मैं हूँ। निस्संदेह पूँजीपति ने उसमें बड़े-बड़े वैज्ञानिक लगाए हैं; परंतु उसे उनको वेतन देकर रखने की शक्ति भी तो मुझ से ही मिली है। उन वैज्ञानिकों के दिमाग़ से निकली हुई बातों को अमल में तो मैं ही लाता हूँ। तभी

❀ "A Review of the Political Situation in Central Asia." के आधार पर।

व्यवसाय में सफलता होती है। फिर भी मैं भूखा मरता हूं, मेरी मानसिक उन्नति नहीं होने पाती। मैं भी अपने देश का वैसा ही नागरिक हूँ, जैसा पूँजीपति। पूँजीपति राज्य को ऐसे कार्य में क्यों सहायता देता है, जिससे मेरा जन्म-सिद्ध अधिकार मारा जाता है। क्या मैं देश के धनोत्पादन में दिन-रात पसीना नहीं बहाता ?"

उधर पूँजीपति कहता है—"मेरे कारखाने में शारीरिक कार्य सबसे घटिया दर्जे का काम है, और मैं उसका वैसा ही प्रतिफल (मज़दूरी) दे देता हूँ। मज़दूरों की सहायता से बने हुए माल के लिए उपयुक्त मंडी मैं ही तलाश करके उसे वहाँ ले जाता हूँ। (पूँजीपति यहाँ यह भूल जाता है कि माल लेजाने के लिए रेल, जहाज़ आदि सब साधन मज़दूरों की सहकारिता से ही चलते हैं)। मैं वैज्ञानिकों को अपने काम में लगाता हूँ। मैं पहले मज़दूरों की मज़दूरी चुकाता हूँ, उसके बाद मुनाफ़ा मेरी जेब में आता है। बाज़ार के उतार-चढ़ाव, संसार की बड़ी घटनाएँ, स्वदेश या विदेश की माँग, नए फ़ैशन और नई आवश्यकताएँ आदि बातों से मुझे मुनाफ़ा मिलता है। इसमें मज़दूर कुछ नहीं करते। इसलिए उन्हें मेरे लाभ का कोई हिस्सा पाने का क्या अधिकार ! फिर भी मैं समय-समय पर उनकी मज़दूरी बढ़ाता रहता हूं। लेकिन उनकी माँग हद से ज़्यादा बढ़ी हुई है। मैं जितना-ही ज़्यादा दबता हूँ, उतना-ही वे हड़ताल की धमकी अधिक देते हैं। मज़दूरों के नेता शांति से विचार करें। उनकी उचित शिकायतें सुनने और उन्हें दूर करने को मैं सदा तैयार हूं। लेकिन वे वृथा ही मुझसे द्वेष करें, तो इसका क्या इलाज !"

और, अब राज्य कहता है—"मज़दूरों के काम करने के घंटे हमने कम कर दिए हैं। उनके संघों और सम्मेलनों के संगठित होने की अनुमति

दे दी है। उनकी स्त्रियों और बच्चों की सुविधा के नियम बना दिए हैं। मज़दूरी की उचित दर निश्चित कर दी है। उन्हें दुर्घटनाओं से बचाने के लिए क़ानून भी बना दिए हैं। व्यवस्थापक-सभाओं में उनके प्रतिनिधि ले लिए हैं। परंतु हम पूँजीपतियों को इस बात के लिए मजबूर नहीं कर सकते कि वे उन्हें मुनाफे में अधिक हिस्सा दें। राज्य का आधार देश का धन है। जब धन थोड़े-से आदमियों के हाथ में होता है, तो उससे सुगमता-पूर्वक बड़े-बड़े काम हो सकते हैं। अगर देश का धन असंख्य जनता में बँटा हुआ हो, तो बड़े-बड़े कामों में उतनी सुगमता नहीं मिल सकती। पूँजीपतियों के रहने में ही राज्य और देश को सुख है। इसलिए हमारा पूँजीपतियों से घनिष्ठ संबंध होने में मज़दूरों को बुरा न मानना चाहिए।"

धन-वितरण-पद्धति में सुधार—धन के वितरण में ऐसा अनर्थ नहीं होना चाहिए कि श्रमिकों को बहुत थोड़ा भाग मिले, और शेष सब धन पूँजीपति एवं साहसी ले बैठें, या शासक ही हड़प जायँ। धन-वितरण की वर्तमान व्यवस्था में यथेष्ट सुधार होने पर ही आधुनिक 'दासता' दूर होगी, तथा यह सचमुच समता का युग होगा। ऐसे सुधार के लिए भिन्न-भिन्न सज्जनों ने तरह-तरह के प्रस्ताव किए हैं। मज़दूरी की वर्तमान दर बढ़ाने के विषय में बहुत-से सहमत हैं; परंतु प्रश्न यह है कि मज़दूरी किस हिसाब से बढ़ाई जाय? जीवनोपयोगी वस्तुएँ तो प्रत्येक श्रमजीवी को मिलनी ही चाहिए। इसके अतिरिक्त उसे अपने आश्रितों के पालन-पोषण की सुविधा भी होनी चाहिए, जिससे देश के प्रत्येक व्यक्ति को अपनी मानसिक उन्नति का भी अवसर मिले। इस संबंध में विशेष विचार पहले किया जा चुका है। यह भी लिखा जा चुका है कि लगान, सूद और मुनाफे में किन-किन बातों का विचार

होना आवश्यक है, जिससे ज़मींदार, महाजन या दुकानदार और व्यवस्थापक आदि समाज का शोषण करनेवाले न हों।

समानता का उद्योग—औद्योगिक देशों के विविध आंदोलनों की तह में प्रधान प्रश्न यही है कि देश से धन के वितरण की असमानता दूर हो जाय, और निर्धनों पर धनवानों या व्यवसायपतियों के अत्याचार न हों। किंतु अभी तक कोई संतोष जनक मार्ग नहीं निकला। यदि देश के सारे धन को वहाँ की जनता में बराबर-बराबर बाँट दिया जाय, और उससे होनेवाली साधारण व्यवस्था की गड़बड़ी और कठिनाइयों का सामना किया जाय, तो भी कुछ समय के पश्चात् भिन्न-भिन्न मनुष्यों की कार्य-क्षमता के पार्थक्य के कारण, इनकी आर्थिक अवस्था में भी असमानता आजाना सर्वथा स्वाभाविक है।

कुछ सज्जनों का विचार है कि विरासत या पैतृक संपत्ति मिलने का नियम उठा दिया जाय। प्रत्येक आदमी के मरने पर, उसकी जायदाद की मालिक (राष्ट्रीय) सरकार हो, और वह उसके उत्तराधिकारियों के निर्वाह की समुचित व्यवस्था कर दिया करे। यह बात भी कहाँ तक उपयोगी तथा व्यावहारिक है, इस संबंध में अभी कुछ निश्चयात्मक रूप से नहीं कहा जा सकता। संभवतः इसका यह प्रभाव अवश्य होगा कि फिर लोगों में ज़्यादा धन-सग्रह करने और बड़े-बड़े पूँजीपति बनने की अभिलाषा कम हो जायगी, और समाज में, धन वितरण की दृष्टि से, कुछ अधिक समानता आ जायगी।

प्राचीन व्यवस्था—यहाँ पर यह प्रश्न उठता है कि ये आंदोलन आजकल क्यों इतने तीव्र होते जाते हैं, और पहले क्यों नहीं उठते थे। इसका एक कारण तो यही है कि गृह-शिल्प या छोटी-छोटी दस्तकारियों की दशा में, धन के वितरण में, उतनी असमानता नहीं होती,

जितनी आधुनिक बड़ी मात्रा की उत्पत्ति के कल-कारखानों में। और, प्राचीन काल में सब प्रकार के कच्चे या तैयार माल के उत्पादन में छोटी मात्रा को उत्पत्ति की विधि काम में लाई जाती थी। दूसरा कारण यह मालूम पड़ता है कि पहले पूँजीपतियों और निर्धनों की एक दूसरे के विरुद्ध दलबंदी नहीं थी, वरन् एक बड़ी गृहस्थी के सदस्यों की भाँति वे आपस में यथेष्ट सहानुभूति और प्रेम रखते थे। धनिकों को अपने धन का अभिमान नहीं था। वे अपने धन को सर्व-साधारण के उपयोग में लगाते थे। उनके बग़ीचे, पुस्तकालय, अजायबघर, धर्मशालाएँ आदि सबके लिए खुली थीं।

प्राचीन भारत का विचार ; पूँजीवाद का अभाव—भारतवर्ष की ही बात लीजिए। पुष्पक विमान आदि के वृतांत से यह सिद्ध है कि यहाँ प्राचीन काल में भौतिक उन्नति काफ़ी हो गई थी। थोड़े समय में अधिक उत्पादन करनेवाले विशाल यंत्रों का बन सकना असंभव नहीं था। परंतु मनु आदि धर्म-शास्त्रकारों ने उनके निर्माण और प्रचार आदि का स्पष्ट निषेध किया है। अनेक पाठकों को उनके विचार हास्यास्पद प्रतीत होंगे; परंतु इसमें उन प्राचीन आचार्यों की विलक्षण दूरदर्शिता निहित थी। उन्होंने यंत्रों द्वारा होनेवाली बड़ी मात्रा की उत्पत्ति की घातक हानियों को भली भाँति समझ लिया था; वे यह जान गए थे कि जब मशीनों के द्वारा पाँच आदमी सौ का काम कर देंगे, तो ९५ आदमी बेकार रहेंगे, उत्पादन का मुनाफ़ा गिने-गिने व्यक्तियों को मिलेगा, वे पूँजीपति होंगे, शेष जनता श्रमजीवियों और बेकारों की होगी, जिनकी निर्धनता और भूख-प्यास देश के लिए अभिशाप-स्वरूप होगी। अथवा, देश में उत्पन्न माल का परिमाण जब यहाँ की जनता की आवश्यकता से अधिक होगा, तो उस माल को दूसरे देशों के आदमियों के मत्थे मढ़ने में उन देशों से अकारण, केवल अपने स्वार्थ-वश, युद्ध

ठानना होगा, अनेक आदमियों को मौत के घाट उतारना और शेष का पराधीन करना होगा; इन सब दुष्परिणामों से समाज की रक्षा करने के लिए ही उन धर्माचार्यों ने विशाल यंत्रों के निर्माण आदि का निषेध किया था।

हमारे प्राचीन आचार्य इसी से संतुष्ट न थे। कौटिल्य के अर्थ-शास्त्र से ज्ञात होता है कि यद्यपि उस समय भी भिन्न-भिन्न व्यवसाय-संघों में बहुत-से आदमियों के मिलकर काम करने की व्यवस्था थी, परंतु वहाँ उनके पास अपने-अपने औज़ार होते थे; सब अपने-अपने काम के स्वयं निरीक्षक होते थे। सब अपने-अपने काम का प्रतिफल अपनी योग्यता के अनुसार पाते थे। काम करनेवाले व्यक्ति श्रमजीवी होने के साथ-साथ छोटे-छोटे पूँजीपति भी होते थे।* इस प्रकार देश का अधिकांश धन मुट्ठी-भर पूँजीपतियों के हाथ में जाना, और असंख्य आदमियों का मज़दूर अथवा बेकार बनना रोका गया था।

धनोपभोग पर नियंत्रण—आज-दिन हम सभ्यता का गर्व करते हुए भी, अपने आपको अपने धन का पूर्ण रूप से स्वामि समझते हैं; उसे हम चाहे जिस प्रकार उपभोग करें, उसमें किसी का कुछ कहना-सुनना उसकी अनधिकार—चेष्टा समझते हैं। पर प्राचीन भारत में ऐसा नहीं था, कोई ऐसा करना भी चाहता तो नहीं कर सकता था। क़ानून किसी व्यक्ति को अपनी संपत्ति के स्वच्छंदता-पूर्वक उपभोग की अनुमति नहीं देता था। आचार्य कौटिल्य ने अपने अर्थ-शास्त्र में, नागरिक अर्थात् नगराधिकारी के कार्यों के प्रसंग में लिखा है कि 'जो पुरुष अत्यधिक व्यय करनेवाला हो, अथवा अहितकर कार्य करनेवाला हो,

* 'कौटिल्य के आर्थिक विचार' के आधार पर।

उसकी सूचना गोप अथवा स्थानीय अधिकारी को दी जाय।' इससे स्पष्ट है कि अपने स्वार्थ, ऐश्वर्य या भोग-विलास आदि में अधिक व्यय करने को कौटिल्य ने अपराध समझा है। अस्तु, प्राचीन काल में प्रथम तो आर्थिक असमानता बहुत होने न पाती थी, और जो थोड़ी-बहुत होती थी, उसका परिणाम समाज के लिए अहितकर न होता था।

सामाजिक व्यवहार—स्थानाभाव से हम यहाँ विस्तार पूर्वक यह नहीं बता सकते कि हिन्दुओं की प्राचीन रीति रस्मों में किस प्रकार इस बात का सम्यग् विचार रखा जाता था कि धनवान और निर्धन सुख दुख में, हर्ष एवं शोक में, एक दूसरे से यथेष्ट सहयोग करें, निर्धनों को कभी भी अपनी निर्धनता के कारण विशेष कष्ट न पाना पड़े। जन्म-मरण, विवाह-शादी, तीज-त्यौहार प्रत्येक अवसर पर एक बिरादरी के सब आदमियों में, आर्थिक स्थिति के भेद-भाव बिना, आपस में मिलना-भेटना ही नहीं, कुछ वस्तुओं का आदान-प्रदान भी होता था। धनवानों की सहायता से निर्धनों की आर्थिक कठिनाइयाँ दूर होती थीं, और निर्धनों की साधारण भेंट स्वीकार कर धनवान अपने निरभिमान और निरहंकार का परिचय देते थे। परंतु अब सर्व-साधारण अनेक बातों का वास्तविक रहस्य भूल गए हैं, समाज में कितनी-ही बातों की धुंधली यादगार कुरीतियों के रूप में बनी हुई है।

वर्णाश्रम-धर्म और आर्थिक विचार—आजकल हिन्दुओं में जो चार वर्ण माने जाते हैं, ये पहले श्रम विभाग या मनुष्यों की स्वाभाविक प्रवृत्ति के अनुसार थे। कुछ आदमी बुद्धि-प्रधान होते हैं, दूसरे तेज-प्रधान, वासना-प्रधान या सेवा-प्रधान होते हैं। अस्तु; प्राचीन भारत में बुद्धिमान मनुष्यों (ब्राह्मणों) का, धन-हीन होने पर भी, यथेष्ट सम्मान था। उन्हीं का परामर्श लेकर राजा भी अपना कार्य

करता था। क्षत्रिय धनवान न होने पर भी शक्तिशाली थे, और वे उसी में सुखी थे। वैश्य धनवान होते थे; परंतु जब वे अपने धन से औरों का उपकार करते रहते थे, तो किसी को उनसे ईर्षा क्यों होती? शूद्र शारीरिक श्रम करते थे; परंतु अपने भोजन-वस्त्र आदि के लिए आज-कल की तरह तरसते न रहकर पूर्ण रूप से निश्चिंत रहते थे। ऐसी अवस्था में समाज के एक अंग को दूसरे से स्पर्द्धा नहीं हो सकती थी।

पर अब भारतवर्ष का वर्ण संबंधी प्राचीन आदर्श लुप्त-प्राय: हो गया है। जातियों या बिरादरियों की प्रथा में कैसा ऊंच-नीच आदि का भाव आ गया है, यह सर्व-विदित है। धनी मनुष्य दूसरों के हिताहित की चिंता नहीं करते। लोगों में वैश्य-वृत्ति प्रधान है; और वह भी बहुधा कुत्सित रूप में।

इसी प्रकार आश्रम-धर्म की बात लीजिए। पहले यहां चार आश्रम थे—ब्रह्मचर्य, ग्रहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास। इनमें से प्रथम आश्रम विद्या-प्राप्ति के लिए था, लड़के और लड़कियाँ जब गुरुकुल में रहते थे उनमें धनी निर्धन का कोई भेद-भाव नहीं माना जाता था। राजा और रंक दोनों की संतान से एक-सा व्यवहार होता था, सबका खान-पान, रहन-सहन आदि समान था। पाठक जानते हैं कृष्ण और सुदामा ने एक ही गुरु के यहां शिक्षा पाई थी। आज-कल की तरह भेद-भाव-मूलक शिक्षा पद्धति न थी। अस्तु, इसी प्रकार वानप्रस्थ और सन्यास में भी आर्थिक असमानता न होती थी। निदान, चार आश्रमों में से तीन आश्रमों में आर्थिक भेद-भाव न था। जो कुछ भेद-भाव हो सकता था, वह केवल एक आश्रम में, गृहस्थाश्रम में, सीमित था। परंतु अब तो हम जल्दी ही गृहस्थी बन जाते हैं, और मरण-पर्यंत इसी में बने हैं। इस प्रकार हम लोग इधर तो अपना जीवन अधिकाँश में उस आश्रम में व्यतीत करते हैं, जिसमें आर्थिक-भेद-भाव अधिक होने की

संभावना होती है, दूसरी ओर इस आर्थिक-भेद-भाव पर अब पहले की तरह कोई नियंत्रण भी नहीं रहा। फिर, आर्थिक विषमता का आधिपत्य क्यों न हो!

भारतवर्ष और साम्यवाद—अब यहाँ विचार करना है कि क्या भारतवर्ष में साम्यवाद* आएगा, जो कि आर्थिक विषमता और पूँजीवाद का एक आवश्यक परिणाम है? साम्यवाद विशेषतया रूस में प्रचलित है, और उसे पूँजीपति राष्ट्रों तथा उनके एजंटों या समर्थकों ने बहुत बदनाम कर रखा है। उसके विरोधियों का कथन है कि साम्यवाद एक विदेशी वस्तु है, वह भारतवर्ष में नहीं पनप सकती, वह यहाँ के धर्म और संस्कृति के अनुकूल नहीं है। साम्यवादी रूस में स्त्रियाँ और बच्चे सार्वजनिक संपत्ति है, वहां गृहस्थ और दांपत्य-जीवन का लोप हो गया है; आदमी नास्तिक है, ईश्वर को नहीं मानते, इत्यादि। ऐसी बातें सुन-कर भावुक जनता एक-दम साम्यवाद-विरोधी बन जाती है, फिर वह इस विषय पर शांति-पूर्वक विचार ही नहीं कर पाती। अस्तु, इन विविध आक्षेपों का यथेष्ट उतर देना प्रसंग से बाहर की बात होगी। हमें यहाँ इसके विशेषतया आर्थिक अंश पर ही विचार करना है।

हम पहले बता आए हैं कि प्राचीन काल में यहाँ सामाजिक व्य-वस्था इस प्रकार की थी कि विषमता उत्पन्न न हो। धन के वितरण में असमानता कम थी, और जो थोड़ी-बहुत थी, उसका सामाजिन जीवन पर बुरा असर नहीं पड़ने पाता था। इस प्रकार आज-कल की तरह का साम्यवाद न होते हुए भी, स्थिति बहुत कुछ वैसी ही थी, जैसी साम्यवाद चाहता है। वरन् एक प्रकार से, हालत इससे अच्छी थी। आधुनिक

---

* उपयुक्त शब्द 'समाजवाद' है, पर साधारणतया 'साम्यवाद' का प्रचार है।

साम्यवाद में समाज और व्यक्ति दोनों का यथार्थ संतुलन नहीं रहता। समाज की ओर इतना ध्यान दिया जाता है, कि व्यक्ति की कुछ अंश में अवहेलना ही हो जाती है, उसका समुचित विकास नहीं हो पाता। प्राचीन भारत में व्यक्ति को अपनी प्रतिभा आदि के विकास का पूर्ण अवसर था, उसमें समाज के नियंत्रण से कोई बाधा उपस्थित नहीं होती थी। हाँ, जब उसके विकास के फल-भोगने का अवसर आता था तो व्यक्ति के लिए समाज-हित का ध्यान रखना आवश्यक था। उदाहरण-वत् धनवान व्यक्ति का कर्तव्य था कि धन को अपने व्यक्तिगत भोग विलास में खर्च न करे, उससे जनता की शिक्षा, स्वास्थ, मनोरंजन आदि की व्यवस्था करे। यह बात धनवान की इच्छा और रुचि पर निर्भर थी कि वह अपनी संपत्ति किस प्रकार के कार्य में लगाए; हाँ, वह कार्य समाज-हित का होना आवश्यक था।

अब वह बात नहीं रही। अब ज़मींदार, महाजन, कल-कारखानों के मालिक और उच्च राज-कर्मचारियों आदि का जीवन कैसा है, और उसकी तुलना में किसान मज़दूर आदि का रहन-सहन कैसा है? जमीन आसमान का अंतर है। एक ओर मुट्ठी-भर राजा-महाराजों, वायसराय और गर्वनरों तथा कुछ पूँजीपतियों के इंद्र-भवन है, दूसरी ओर असंख्य लोगों की घास-फूस की टूटी-फूटी झोपड़ी हैं, या उनका भी अभाव है। एक ओर षटरस-भोजन से भी इतनी तृप्ति होती है कि उसकी जूठन कुत्तों या चील-कव्वों के लिए फैंकी जाती है, दूसरी ओर गाय-भैंस के गोबर में से दाने निकाल-निकाल कर खानेवालों के उदाहरण हैं। एक ओर एक आदमी के पास दिन भर में बदलने के लिए कई-कई बहु-मूल्य पोशाक हैं, दूसरी ओर अनेक दिगंबर भेष-धारी हैं, और अर्ध-नग्नों की तो कुछ सीमा ही नहीं। कहाँ तक कहें? पाठक स्वयं अनुमान करलें।

क्या इस पर भी कोई व्यक्ति यहाँ आर्थिक विषमता होने से इनकार कर सकता है। और यह विषमता कब तक रहेगी? यह ठीक है कि यहाँ अधिकाँश आदमी अपनी हीनावस्था के कारण का विचार न कर उसको अपने भाग्य का दोष समझते हैं। वे अपनी स्थिति सुधारने के लिए आंदोलन करने को सहसा प्रवृत्त नहीं होते। पर, आखिर कब तक? रोटी-कपड़े की ज़रूरत भाग्यवादियों को भी क्रांतिवादी बना देती है। एक ओर भारत का प्राचीन आदर्श है, दूसरी ओर आधुनिक साम्यवाद। हमारे लिए वर्तमान काल में दोनों का मिश्रण उपयुक्त होगा। हम केवल दूसरों की नक़ल के भरोसे क्यों रहें? अन्य देश जिस बात के लिए खून-खराबी करते हैं, उसे हम अहिंसा द्वारा ही क्यों न प्राप्त करें! हमें साम्यवाद का स्वागत करने से झिजक नहीं; हाँ, उस पर हमारी भूत-कालीन संस्कृति की छाप हो; वह हमारी अपनी चीज़ बन जाय। भारतीय साम्यवाद भारतीय जनता का हित तो करे ही, अपने अहिंसा और प्रेम भाव के कारण, वह संसार के लिए भी शिक्षाप्रद और कल्याण- कारी हो। शुभम्

भारतवर्षीय हिन्दी-अर्थ-शास्त्र-परिषद

(सन् १९२३ई० में संस्थापित)

सभापति—

श्रीयुत पंडित दयाशंकर दुबे, एम्० ए०, एल०-एल० बी० अर्थशास्त्र-अध्यापक, प्रयाग-विद्यालय, प्रयाग।

मंत्री—

(१) श्रीयुत जयदेवप्रसादजी गुप्त, एम्० ए०, बी० कॉम०, एस० एम० कालेज, चंदौसी।

(२) साहित्य-रत्न पंडित उदयनारायण जी त्रिपाठी एम्० ए०, अध्यापक दारागंज हाई स्कूल, दारागंज, प्रयाग।

इस परिषद का उद्देश्य है जनता में हिन्दी-द्वारा अर्थशास्त्र का ज्ञान फैलाना और उसका साहित्य बढ़ाना। कोई भी सज्जन एक पुस्तक लिखकर इस परिषद का सदस्य हो सकता है। प्रत्येक सदस्य को परिषद द्वारा प्रकाशित या संपादित पुस्तक पौने मूल्य पर दी जाती हैं।

परिषद की संपादन-समिति द्वारा संपादित होकर निम्नलिखित पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं:—

(१) भारतीय अर्थशास्त्र (भारतीय ग्रन्थमाला, वृंदावन)

(२) भारतीय राजस्व (भारतीय ग्रन्थमाला, वृन्दावन)

(३) विदेशी विनिमय (गंगाग्रन्थागार, लखनऊ)

(४) अर्थ-शास्त्रशब्दावली (भारतीय ग्रन्थमाला, वृंदावन)

(५) कौटिल्य के आर्थिक विचार। (,, ,,)

(६) संपत्ति का उपभोग (साहित्य-मन्दिर, दारागंज, प्रयाग)

(७) भारतीय बैंकिंग (रामदयाल अग्रवाल, प्रयाग)

(८) हिन्दी में अर्थशास्त्र और राजनीति साहित्य (भारतीय ग्रन्थमाला, वृंदावन)

(९) धन की उत्पत्ति (लाला [illegible] लाल, प्रयाग)

इनके अतिरिक्त, निम्नलिखित पुस्तकों का सम्पादन हो रहा है:—

(१०) मूल्य-विज्ञान।

(११) वितरण

(१२) अङ्क शास्त्र।

(१३) अर्थशास्त्र (पांच भाग)

हिन्दी में अर्थशास्त्र-सम्बन्धी साहित्य की कितनी कमी है, यह किसी साहित्य-प्रेमी सज्जन से छिपा नहीं है। देश के उत्थान के लिए इस साहित्य की शीघ्र वृद्धि होना अत्यंत आवश्यक है। प्रत्येक देश-प्रेमी तथा हिन्दी प्रेमी सज्जन से हमारी प्रार्थना है कि वह इस परिषद् का सदस्य होकर हम लोगों को सहायता देने की कृपा करे। जिन महाशयों ने इस विषय पर कोई लेख या पुस्तक लिखी हो, वे उसे सभापति के पास भेजने की कृपा करें। लेख या पुस्तक परिषद् द्वारा स्वीकृत होने पर सम्पादन-समिति द्वारा बिना मूल्य सम्पादित की जाती है। आर्थिक कठिनाइयों के कारण, परिषद् अभी तक कोई पुस्तक प्रकाशित नहीं कर पाई है, परन्तु वह प्रत्येक लेख या पुस्तक को सुयोग्य प्रकाशक द्वारा प्रकाशित कराने का पूर्ण प्रयत्न करती है। जो सज्जन अर्थशास्त्र-सम्बन्धी किसी भी विषय पर लेख या पुस्तक लिखने में किसी प्रकार की सहायता चाहते हों, वे नीचे लिखे पते से पत्र-व्यवहार करें।

दारागंज, प्रयाग } दयाशंकर दुबे, एम० ए०

हमारे नई पुस्तकें

नागरिक ज्ञान

(Civics)

(मध्यप्रांत के हाई स्कूलों की नवीं, दसवीं और ग्यारहवीं श्रेणियों के लिए)

[लेखक—श्री० भगवानदास केला, वृंदावन]

विषय सूची

मूल्य केवल एक रुपया